वेदवल्लरी

(देवताविषयक टिप्पणी, संहितापाठ, पदपाठ, अन्वय, सरलार्थ, सायण-भाष्य, स्पष्टीकरण, व्याकरणात्मक टिप्पणीयों एवं वैदिक व्याकरण सहित)

डॉ. (श्रीमती) पुष्पा गुप्ता



यद्यपि वेदों पर अनेकानेक भाष्य लिखे गए हैं तथापि वे या तो संस्कृत भाषा में हैं अथवा आँग्ल भाषा में। इन दोनों भाषाओं पर ही पूर्ण अधिकार न होने के कारण प्रायः जिज्ञासु इनका पूरा लाभ उठाने से वञ्चित रह जाते हैं। नारिकेलसदृश जटिल व दुर्बोध परन्तु विपुल, सरस, सारगर्भित अर्थ संप्रेषित करने वाले वैदिक मन्त्रों पर प्रस्तुत पुस्तक सुबोध भाष्य है। सब भाष्यों का मंथन कर साररूप नवनीत सरल, सरस भाषा में यहाँ सहज ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मन्त्रों का स्पष्टीकरण करने के साथ-साथ उनका आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक पक्ष भी उजागर करने का प्रयास यथाशक्ति किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिए संहितापाठ, पदपाठ, अन्वय, सरलार्थ, सायण भाष्य, स्पष्टीकरण, विभिन्न विद्वानों के मन्तव्य तथा व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। संहितापाठ से पदपाठ करने के नियम भी संलग्न हैं। वैदिक व्याकरण का विशद विवेचन भी किया गया है।

ISBN : 81-7854-053-3 **₹ 250/-**

वेदवल्लरी

(देवताविषयक टिप्पणी, संहितापाठ, पदपाठ, अन्वय, सरलार्थ, सायण भाष्य, स्पष्टीकरण, व्याकरणात्मक टिप्पणियों एवं वैदिक व्याकरण सहित)

वेदवल्लरी

(देवताविषयक टिप्पणी, संहितापाठ, पदपाठ, अन्वय, सरलार्थ, सायण भाष्य,
स्पष्टीकरण, व्याकरणात्मक टिप्पणियों एवं वैदिक व्याकरण सहित)

डॉ० (श्रीमती) पुष्पा गुप्ता (रीडर)
लक्ष्मीबाई महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली



ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

हैड ऑफिस: 5825, न्यू चन्द्रावल,
जवाहरनगर, दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 9811232913

शोरूम: 4806/24, भरत राम रोड,
दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 23285413

e-mail : eblindology@gmail.com
ebl@vsnl.net
Website : www.eblindology.com

संस्करण : 2012

संस्करण : 2015

मूल्य : **250/-**

आइ.एस्.बी.एन्. : 81-7854-053-3

वेदवल्लरी

डॉ० (श्रीमती) पुष्पा गुप्ता

लेज़र टाईप सैटिंग : **क्रियेटिव ग्राफिक्स**
मुद्रक : **आर. के. प्रिंट सर्विस**, दिल्ली

प्राक्कथन

वेद सर्वज्ञानमय हैं। ये वे अगाध रत्नाकर हैं जिनमें जितना भी अवगाहन किया जाए उतने ही विविधवर्ण रुचिर मौक्तिक प्राप्त होते हैं। भारतीय धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता का भव्य प्रासाद वेदों की आधारशिला पर ही सुप्रतिष्ठित है। धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के लिए ये प्रमाण हैं 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। संस्कृत के अध्येता के लिए वेदों का ज्ञान परमावश्यक है। इसी कारण महाविद्यालीय ओर विश्वविद्यालीय स्तर पर कुछ वैदिक सूक्त पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं। सूक्तों का सङ्कलन और चयन व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर निर्भर है परन्तु इस आधार पर वैदिक सूक्तों की श्रेष्ठता अथवा न्यूनता निर्धारित करना उचित एवं समीचीन नहीं है। इस अपौरुषेय ज्ञान राशि का प्रत्येक कण उपादेय एवं ग्राह्य है।

सूक्तों का सङ्कलन करते समय सङ्कलनकर्त्ता का यही उद्देश्य रहता है कि पाठकों को वैदिक युग की एक स्पष्ट झलक अवश्य मिल जाए। दिल्ली विश्वविद्यालय के एम.ए. पूर्वार्द्ध के पाठ्यक्रम में निर्धारित दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व प्राचार्य प्रो. सत्यभूषण योगी द्वारा सङ्कलित 'वेदसमुल्लास' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें चारों वेदों से उद्धृत विविधविषयसम्बद्ध कुल तेरह सूक्त हैं। इनमें से दस सूक्त ऋग्वेद से तथा शेष तीन क्रमशः सामवेद के उत्तरार्चिक, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से हैं। इन सूक्तों में वैदिक वाङ्मय का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित है। ऋग्वेद से उद्धृत प्रथम पाँच सूक्त, इन्द्र, रुद्र, सविता, अग्नि तथा सोम देवता विषयक सूक्त हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विस्तार से विचार करने वाले प्रमुख तीन सूक्तों में से दो सूक्त 'पुरुष सूक्त' तथा 'भाववृत्तम सूक्त' प्रस्तुत सङ्कलन में समाविष्ट हैं। ऋग्वेद के चार महत्त्वपूर्ण उपदेशात्मक सूक्तों में से 'शुभवाणी' और 'दान' की प्रशंसा करने वाले 'ज्ञानम्' और 'धनान्नदानम्' सूक्त वैदिक जीवन पद्धति का दिग्दर्शन करवाते हैं तो 'दुःस्वप्ननाशनम्' सूक्त अवचेतन मन का महत्त्व प्रतिपादित करता है। सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के तीन सूक्तों में क्रमशः इन्द्र, परमात्मा और वरुण का यशोगान है।

इन्द्र अतिशय पराक्रम का प्रतिनिधित्व करता है तो परमात्मा वह विश्वात्म शक्ति है जो सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान है। वरुण नैतिकता का देवता है। जीवन को अनुशासित, व्यवस्थित और नियमित किए बिना कुछ भी प्राप्त करना असम्भव है।

इस प्रकार 13 सूक्तों के इस लघु संग्रह में प्रो. योगी ने 'गागर में सागर भरने' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए मनुष्य जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र पाठक के सम्मुख समुपस्थित कर दिया है।

नारिकेल फलसदृश जटिल व दुर्बोध होते हुए भी ये सूक्त विपुल, सरस, सारगर्भित अर्थ संप्रेषित करते हैं। इन पर सरल सुबोध भाष्य लिखने की मेरी इच्छा भगवत्कृपा से इस वर्ष साकार हो पाई। वैदिक सूक्तों की व्याख्या या तो संस्कृत भाषा में है अथवा आँग्ल भाषा में है। इन दोनों भाषाओं पर प्रायः जिज्ञासु का पूर्ण अधिकार नहीं होता क्योंकि सम्प्रति अनेक महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के अध्ययन अध्यापन कार्य हिन्दी भाषा में हो रहा है।

मेरी एम.ए. की छात्राओं ने भी कई बार इन सूक्तों की व्याख्या सरल ढङ्ग से करने का आग्रह किया। पूर्वरचित 'मुद्राराक्षस' तथा 'संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास' इन दो पुस्तकों की प्रशंसा व उपादेयता से भी मेरा उत्साहवर्धन हुआ। 'वेदसमुल्लास' में संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रो. योगी के नवीन दृष्टिकोणों व नूतन व्याख्याओं को मातृभाषा में अनूदित कर सुधी पाठकों तक पहुँचाने की उत्कट अभिलाषा ने भी मुझे प्रेरित किया।

वेदवल्लरी को लिखने में पाण्डित्य प्रदर्शन मेरा प्रयोजन नहीं है। वेदों पर लिखे गए अनेकानेक भाष्यों का मंथन कर सार रुप नवनीत सरल सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने का मेरा प्रयास रहा है। सारगर्भित वैदिक मंत्रो का स्पष्टीकरण करने के साथ साथ उनका आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक पक्ष उजागर करने का भी यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है।

प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में उसके देवता, ऋषि व छन्द का निर्देश किया गया है। कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में इनकी परिभाषा इस प्रकार की है **'यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता। यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'**। प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में देवता विषयक विस्तृत टिप्पणी दी गई है। ऋषि की

व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या देते हुए उस सूक्त में प्रयुक्त छंद का परिचय भी प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक मन्त्र का संहितापाठ, पदपाठ, अन्वय, सरलार्थ, सायण भाष्य, स्पष्टीकरण, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक व्याख्या देते हुए विभिन्न विद्वानों के मतों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। यथासम्भव व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ भी यथास्थान दी गई हैं। पाठकों की सुविधा के लिए इस पुस्तक में प्रयुक्त सूत्रों की क्रमबद्ध सूची भी सूक्तों के अन्त में दी गई है। उणादि सूत्रों का संख्या निर्देश प्रो॰ वी.एस. अग्रवाल की अष्टाध्यायी के दूसरे खण्ड (II Volume)के अन्त में दी गई सूची के अनुसार ही निर्दिष्ट है।

मन्त्रों में स्वराङ्कन से मुझे संतुष्टि नहीं है क्योंकि स्वराङ्कन सब ग्रन्थों में भिन्न भिन्न है। मेरा पाठकों से अनुरोध है कि जो स्वर संहितापाठ में हो, उसी के अनुरूप पद पाठ कर लें। पाठकों की सुविधा के लिए संक्षेपण का प्रयोग नहीं किया गया है क्योंकि इससे प्रवाह बाधित हो जाता है, ऐसा मेरा अनुभव है। संहितापाठ से पदपाठ करने के नियम भी सोदाहरण सरल भाषा में संलग्न हैं। ग्रन्थ को समझने के लिए पाठकों की सुविधा हेतु वैदिक व्याकरण का विशद विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी अनुवाद करते समय सायण भाष्य ही एकमात्र आधार नहीं रहा है। प्रसङ्गानुकूल समीचीनता को ही विशेष रुप से ध्यान में रखा गया है यद्यपि यथास्थान विभिन्न विद्वानों के मतों को भी स्पष्ट किया गया है।

कालिदास संस्कृत सङ्गीत कला एकेडमी की निदेशिका, मेरी अग्रजा प्रो. सुषमा कुलश्रेष्ठ ने समय समय पर मेरी लेखन शक्ति की प्रशंसा कर मेरा उत्साहवर्धन किया। उनके प्रति में हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। अपने सहयोगियों द्वारा किए गए प्रोत्साहन का यह सुफल है। वैसे तो परिवार के सभी सदस्यों का इस पुस्तक लेखन में अप्रत्याशित सहयोग रहा है तथापि अपने पति श्री अशोक कुमार गुप्ता की मैं विशेष रुप से आभारी हूँ जिन्होंने न केवल इस पुस्तक लेखन के लिए मुझे प्रेरित किया अपितु प्रूफ रीडिंग इत्यादि करके प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अनेक प्रकार से विशिष्ट योगादान भी दिया।

यद्यपि मैं जानती थी कि मेरा यह कार्य छोटी सी नौका द्वारा दुस्तर सागर को पार करने के समान दुस्तर और बौने द्वारा ऊँचाई पर लगे हुए फल को प्राप्त करने के समान दुष्कर था तथापि पूर्व विद्वानों द्वारा मार्ग निर्देशन किए जाने पर

मेरा इसमें प्रवेश सम्भव हो पाया। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रुप से जिन विद्वानों के विचारों का इस पुस्तक में उपयोग किया गया है उन सब के प्रति मैं हृदय से आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

आशा है यह पुस्तक वेदमन्त्रों के दुर्बोध अर्थ को स्पष्ट करने के उद्देश्य में सफल होगी। वास्तव में ज्ञान की 'इयत्ता' नहीं है। स्वयं 'वेद' शब्द से यह स्पष्ट है। नीरक्षीर विवेकी की भाँति जिज्ञासु पाठक ग्राह्य को ग्रहण करेगें तथा अपने बहुमूल्य सुझावों से मुझे अनुगृहीत करेगें ऐसी मेरी कामना है।

शुभं भूयात्।

पुष्पा गुप्ता

78, स्वास्तिक कुञ्ज
प्लॉट नं. 29, सैक्टर-13
रोहिणी, दिल्ली-110085
7-7-2004

विषय प्रवेश

वेद विश्व साहित्य के प्रचीनतम ग्रन्थ हैं। ये भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विश्वकोष हैं। सायणाचार्य ने अपने ऋग्भाष्य के मङ्गलाचरण में वेदों को भगवान् का श्वास कहा है **'यस्य निश्वसितं वेदाः'**। मनु ने वेद को पितरों, देवों एवं मनुष्यों का सनातन चक्षु बतलाया है **'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्'**। यहाँ चक्षु ज्ञान का प्रतीक हो सकता है क्योंकि ज्ञान रुपी चक्षु ही जीवन का पथ प्रदर्शन करता है। महाभारत के अनुसार वेद नित्य, अनादि, ईश्वर द्वारा उत्सृष्ट दिव्य वाक् हैं जिससे जगत् की समस्त प्रवृत्तियाँ होती है

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।

डॉ बलदेव उपाध्याय ने वैदिक साहित्य और संस्कृति' में वेदों का माहात्म्य और गौरव प्रतिपादित करते हुए कहा है **'वेद ज्ञान के वे मानसरोवर हैं जहाँ से ज्ञान की विमल धाराएँ विभिन्न मार्गों से बहकर भारत के ही नहीं अपितु समस्त जगत् के प्रदेशों को उर्वर बनाती हैं'**।

वेद शब्द $\sqrt{}$ विद्–ज्ञाने, सत्तायां, लाभे च विचारणे में घञ् प्रत्यय जोड़ कर निष्पन्न हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका में वेद शब्द की **'विदन्ति, जानन्ति, विद्यन्ते, भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विदन्ते, लभन्ते, विन्दन्ति, विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः'** इस प्रकार से व्याख्या की है अर्थात् जिनके द्वारा अथवा जिनमें सारी सत्य विद्याएँ जानी जाती हैं, विद्यमान हैं या प्राप्त की जाती हैं, वे वेद है। सायणाचार्य ने तैतरीय संहिताभाष्यभूमिका में वेद की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'** अर्थात् इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार के आलौकिक उपाय को बतलाने वाला ग्रन्थ वेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'जो सब पदार्थों का ज्ञान करवाता है और प्राप्त करवाता है, वह वेद है वेदयति विश्वपदार्थानवगमयति इति वेदः'। कुछ अन्य विद्वानों के

अनुसार वेद का तात्पर्य है **'विद्यन्ते, ज्ञायन्ते, लभ्यन्ते वा एमिर्धर्मादिपुरुषार्था: इति वेदः'** अर्थात् जिनके द्वारा धर्मादि पुरुषार्थ जाने जाते हैं अथवा प्राप्त किए जाते हैं, वे वेद हैं। कुछ मनीषियों ने वेद का वेदत्व इसी तथ्य में माना है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वंय कराता है

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

वेद शब्द की उपरिलिखित सभी व्युत्पत्तियों से यह सिद्ध होता है कि वेद ज्ञान के वे अक्षयकोष हैं जिनमें सभी विषयों का समावेश है। अतः मनुस्मृति में कहा गया 'वेदऽखिलो धर्ममूलम्'। सृष्टि की उत्पत्ति के समय ही धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान के लिए इनका प्रादुर्भाव हुआ। मानव जाति के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ होने के कारण उस समय की संस्कृति, सभ्यता, आचार विचार, धार्मिक मान्यताओं, रीतिरिवाजों इत्यादि को जानने के लिए ये ही एकमात्र स्रोत हैं। धर्म के तो वेद स्तम्भ हैं। आज भी समस्त भारत में सर्वत्र सभी धार्मिक कार्यों में वेद मंत्रों का ही उच्चारण किया जाता है। भारतीय दर्शन के बीज भी वेद में ही प्राप्त होते हैं। सृष्टि उत्पत्ति विषयक, एकत्ववाद, आत्मा, परलोक, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म, मोक्ष सम्बन्धी सभी विषयों का विशद विवेचन वेदों में है।

वेदों का साहित्यिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। महाकाव्य, गीति काव्य, ऐतिहासिक काव्य, गद्यकाव्य, नाट्य, आख्यानसाहित्य इत्यादि काव्य की सब विधाओं की उत्पत्ति में वेदों का सक्रिय योगदान रहा है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी वेदों का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि वैदिक भाषा के बिना भारोपीय भाषाओं का अध्ययन सम्भव नहीं है। इसी कारण पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों को आदर की दृष्टि से देखा है व उनके अनुशीलन में इन विद्वानों का बहुत बड़ा योगदान रहा। वेदों के उपदेश सार्वकालिक व सार्वभौमिक हैं। सत्य, अहिंसा, विश्वमैत्री, विश्वबन्धुत्व, लोककल्याण, त्याग, परोपकार, दान, दया, आत्मानुशासन इत्यादि उदात्त भावनाएँ वेदों में पग पग पर परिलक्षित होती हैं।

पर्यावरण आज का बहुचर्चित विषय है। वैदिक ऋषि पर्यावरण के संपोषण, संरक्षण और संवर्धन के प्रति सतत जागरूक थे। वैदिक देवता विभिन्न प्राकृतिक शक्तियाँ ही हैं जिनका मानवीय करण कर दिया गया। उन्होंने पेड़ पौधों वनस्पतियों, पशु पक्षियों, सरोवर नदियों आदि सबकी मुक्त कण्ठ से स्तुति

की। इससे अधिक पर्यावरण के प्रति सहृदयता और क्या हो सकती है।

वेद उत्कृष्ट काव्य का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। उषा सूक्तों का काव्यात्मक सौन्दर्य दर्शनीय है। यह वैदिक काल की सबसे मनोरम कल्पना है। पुनः रुद्र को **'नीललोहित'** कह कर समस्त सृष्टि का समावेश ही रुद्र में कर दिया गया। इस ब्रह्माण्ड में समुद्र, मेघ, आकाश, जल सब नील वर्ण है तो सूर्य, समस्त पृथ्वी, वनस्पतियाँ लोहित वर्ण हैं। वैदिक ऋषि की कल्पना निस्सन्देह सराहनीय है। 'प्रातः काल सभी यज्ञ में हवि अर्पित करते हैं' इसका अत्यन्त मनोहारि वर्णन करते हुए ऋषि ने कल्पना की कि मानो आती हुई उषा से अग्नि देवता अपने लिए हवि रुपी धन की याचना करता है और वह उसे प्राप्त भी करता है **'आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः'** (ऋग्वेद 3. 61.6)। द्यूतकार का आत्मप्रलाप, वरुण की न्यायप्रियता, दान की महिमा कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो हृदय पर अमिट छाप छोड़ देते हैं।

इतना ही नहीं समस्त ललित कलाओं का उदभव भी वेदों से ही है। ऋग्वेद के **'सुशिल्पे बृहती मही पवमनो वृषण्यति। नक्तोषासा न दर्शते'** से शिल्प अथवा ललित कला की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हैं। शिल्प सुन्दर रुप की सृष्टि है। वह दर्शनीय है, वह काव्य है, वह किसी महान् भाव की अभिव्यञ्जक है तथा शिल्प सृष्टि आकार में छोटी होते हुए भी मूल्य में बड़ी है। पुनः यजुर्वेद में **'ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते'** इस पंक्ति से पता चलता है कि प्रतिरुप को ही शिल्प कहते हैं तथा शतपथ ब्राह्मण की इस पंक्ति से **'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्'** से यह स्पष्ट है कि शिल्प में कौशल या चातुर्य निहित होता है। सायण ने भी शिल्प को कौशल बतलाया है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है **'शिल्पं कौशलं नानाविधं प्राप्यते'**। जब वैदिक ऋषि को कलाओं के विषय में इतना गहन, गम्भीर, सूक्ष्म और तत्वानवेषी ज्ञान था तो उनका विविध कलाओं से परिचित होना स्वाभविक ही है। गीत, वाद्य, नृत्य, चित्रकला, चित्रयोग, माल्यग्रथनविकल्प नेपथ्यकला, भूषणयोजन, कौचुमारयोग, ऐन्द्रजाल, हस्तलाघव, पानकरसरागासवयोजन, सूत्रक्रीडा, प्रहेलिका पट्टिकावानवेत्रविकल्प, तक्षणकला, वास्तुविद्या, वृक्षायुर्वेद, निमित्तज्ञान, यंत्रमातृका, सम्पाठ्य, आकर्ष क्रीड़ा, आचार शास्त्र, युद्धकला इत्यादि कलाओं का उल्लेख वेदों में बार बार हुआ है।

इस प्रकार सभी प्रकार का ज्ञान विज्ञान वेदों में निहित है **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**। चाहें वनस्पति विज्ञान, हो, चाहें सृष्टि विषयक वार्ता हो, चाहें विमान,

नौका निर्माण सम्बन्धी कला हो, चाहें वास्तु कला हो चाहें औषधि शास्त्र की चर्चा हो, चाहें विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान हो, चाहें साहित्यिक ज्ञान हो और चाहें ललित कला सम्बन्धी वार्ता हो, सबके अङ्कुर वेदों में ही विद्यमान हैं। अतः यह उचित ही कहा गया है **'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'**। इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति वेद में ही है। वे ही उचित अनुचित के निदर्शक, कर्त्तव्य के अवबोधक, सुखशान्ति के साधक, ज्ञानलोक के प्रसारक तथा निराशा के विनाशक हैं। भारतीय संस्कृति में वेदनिन्दक को नास्तिक कहा गया है **'नास्तिको वेदनिन्दकः'**।

वेद चार है– ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद।

ऋग्वेद

वैदिक आर्य सप्तसिन्धु से जब मैदानों की तरफ बढ़े तो यहाँ के मूलनिवासियों से उन्हें युद्ध करना पड़ा और जब भूमि पर उनका आधिपत्य हो गया तो अपना जीवन व्यवस्थित करने में उन्हें जंगली पशु, घने जंगल, पालतू पशुओं का इधर उधर खो जाना, सर्दी, गर्मी, बारिश इत्यादि अनेक कठिनाइयाँ अनुभव हुईं। यह मानवीय स्वभाव है कि मनुष्य जब किसी से भयभीत होता है अथवा आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता है तो उसकी पूजा और यशोगान करता है। वैदिक आर्यों ने भी विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों में विभिन्न देवताओं की कल्पना कर पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति सहित इन देवताओं का आह्वान किया।

संस्कृत उस समय जनसाधारण की भाषा थी अतः इन देवताओं की स्तुति समस्त जनसाधारण ने अपने ढंग से करनी प्रारम्भ की होगी। परन्तु जैसा कि स्वाभाविक हैं, कुछ विशिष्ट लोगों की वाणी अन्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली, रसमयी, आरोह-अवरोह युक्त व कर्णप्रिय रही होगी। ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों ने या तो एकान्त में जाकर अथवा राजाओं के संरक्षण में रह कर इन कथनों पर विभिन्न प्रयोग किए होंगे। पुनः भिन्न भिन्न ढंग से इनका उच्चारण किया होगा। साथ ही विभिन्न प्रकार की आहुतियाँ अर्पित करके यज्ञ भी किया होगा। इस प्रकार प्रयोगात्मक समीक्षण द्वारा बार बार उच्चारण कर यज्ञों के साथ उनका प्रयोग कर, उन पर मनन कर, उन कथनों की शक्ति को स्वयं भी अनुभव किया होगा। ये शुद्ध, परिष्कृत कथन ही मंत्र कहलाए और जिन्होंने इन मंत्रों की शक्ति का स्वयं अनुभव किया, वे ऋषि कहलाए। इसी कारण ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा कहा गया, स्रष्टा नहीं **'ऋषयो मन्त्रदृष्टारः न स्रष्टारः'**। कात्यायन ने भी

अपनी सर्वानुक्रमणी में ऋषि की परिभाषा 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' इस प्रकार की है।

इस प्रकार वेद वे संग्रह हैं जिनमें मंत्रों के शब्द, आरोह अवरोह, सङ्गीत, स्वर, यज्ञ विधि एवं सामग्री का समस्त ज्ञान निहित है। वेदों का प्रत्येक मंत्र प्रयोगात्मक प्रक्रिया (Trial & Error) द्वारा शुद्ध किया हुआ है। इसी कारण वेदों के प्रत्येक मंत्र में दिव्य शक्ति निहित है। मेधावी, विलक्षण, ज्ञानतत्त्व दृष्टि वाले एवं तपः पूत योगियों एवं ऋषियों की साधना का फल ही वेद है। इसी कारण कहा गया है कि एक शब्द का ही सम्यग् ज्ञान और सम्यग् प्रयोग मृत्युलोक और परलोक दोनों में ही कामधेनु के समान होता है

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे मर्त्ये च कामधुग् भवति'। मंत्रदृष्टा इन ऋषियों ने गुरु शिष्य परम्परा का निर्वाह करते हुए इन मंत्रों को अपने शिष्यों को दिया। चिरकाल तक इनका मौखिक रुप से ही संप्रेषण होता रहा। अतः ये मन्त्र 'श्रुति' भी कहे गए।

ऋग्वेद जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, विभिन्न देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्रों का सङ्कलन है। जिसके द्वारा देवता की स्तुति अथवा अर्चना की जाए, उसे ऋक् कहते हैं 'ऋच्यते स्तूयते वानया इति ऋक्' और ऐसी ऋचाओं के संग्रह का नाम ही ऋग्वेद है। इसका पुरोहित भी होता कहताला है। होता √ ह्वे— आह्वाने से निष्पन्न है। होता देवताओं का आह्वान करता था।

ऋग्वेद विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है, इस विषय में सभी विद्वान् एक मत हैं परन्तु इसके रचनाकाल के विषय में उनमें पर्याप्त मतभेद है। इन विद्वानों के विचारों में केवल शताब्दियों का ही नहीं अपितु हजारों वर्षों का अन्तर है। मैक्समूलर ने इन्हें। 1200 से 1000 ईस्वी पूर्व का माना है तो लोकमान्य ने इनका रचना काल 4000 से 2500 ईस्वी पूर्व का माना है। प्रो. विन्टरनिट्ज ने किसी भी प्रामाणिक प्रमाण के अभाव में मध्य मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर माना है। मध्यम मार्ग अपनाकर उन्होंने वेदों का रचनाकाल 2500 ईस्वी पूर्व का मान लिया।

ऋग्वेद के 10600 मंत्र 1028 सूक्तों में व 1028 सूक्त दस मण्डलों में विभाजित हैं। विद्वानों के अनुसार दो से सात तक के मण्डल अधिक प्राचीन होने के साथ साथ अपने वर्ण्य विषय तथा अन्य बातों में भी समरूप हैं। इन्हें पारिवारिक पुस्तकों की संज्ञा प्रदान की गई है जिनके पहले प्रथम मण्डल व बाद में अष्टम, नवम और दशम मण्डल जोड़ दिए गए।

ऋग्वैदिक धर्म मूलतः बहुदेवतावादी था परन्तु पश्चाद्वर्ती सूक्तों में यह एकेश्वरवादी हो जाता है। इसमें 12 दर्शनिक सूक्त हैं। मुख्य रुप से पुरुष सूक्त (10.90) हिरण्यगर्भ सूक्त (10.121) तथा नासदीय सूक्त (10.129) सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विस्तार से विचार करते हैं। 'मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या होता है' इस विषय पर भी ऋग्वेद में विस्तार से विवेचन किया गया है।

ऋग्वेद के अनेक सूक्त ऐसे हैं जो उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और नैतिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के वर्ण्य विषय पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो ऋग्वेद से अछूता हो।

सामवेद

कालक्रमानुसर समाज शनैः शनैः भौतिकता की तरफ प्रवृत्त होने लगा। फलस्वरुप सामवेद के समय तक पहुँचते पहुँचते ऋग्वेद मे विहित यज्ञों का सम्पादन भी कम हो गया और ऋग्वैदिक मंत्रों के विधिवत् सस्वर उच्चारण का ज्ञान भी अत्यन्त सीमित हो गया। ऋग्वैदिक मंत्रों की शक्ति का समुचित फल प्राप्त करने के लिए मंत्रों के आरोह अवरोह व उचित मात्राओं से युक्त सस्वर उच्चारण का पुनर्ज्ञान आवश्यक हो गया। इस ज्ञान के पुनरुत्थान के लिए ही सामवेद का संकलन किया गया।

सामवेद का अर्थ है 'साम का वेद'। साम शब्द की निम्न व्युत्पत्तियाँ हैं—

(i) स्यति नाशयति विघ्नमिति— जो विघ्नों का नाश करता है।

(ii) समयति सन्तोषयति देवान् अनेनेति— जो मन्त्रों द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करता है।

(iii) कुछ विद्वानों के अनुसार साम का अर्थ है 'गान'। ऋग्वेद के मंत्र जब विशिष्ट गान पद्धति से गाए जाते हैं तो उनको साम कहा जाता है। वस्तुतः ऋग्वेद की ऋचाओं का लयबद्ध ज्ञान ही साम है।

यही कारण है कि सामवेद के 1875 सामों में से 1474 साम अधिकांशतः ऋग्वेद के आठवें और नवें मण्डल से ही लिए गए हैं।

(iv) साम का अभिप्राय सुन्दर सुखकर वचन है। सङ्गीत विद्या सबसे अधिक आनन्ददायक है अतः साम का अर्थ सङ्गीत अर्थात गान भी है।

सामवेद का पुरोहित 'उद्गाता' कहलाता है। 'उद्गाता' का शाब्दिक अर्थ भी 'उच्च स्वर से गाने वाला' है। इस प्रकार सामवेद में मंत्रों को स्वर सहित उच्च ध्वनि से गाने की विधि दी गई है ताकि यज्ञों का समुचित फल यजमानों

को प्राप्त हो सके।

यजुर्वेद

ऋग्वैदिक समय में ऋषि मंत्रों के उच्चारण के साथ साथ यज्ञ भी सम्पादित करते रहते थे। अतः उन्हें इस बात का समुचित ज्ञान था हि अमुक प्रयोजन की प्राप्ति के लिए अमुक यज्ञ अमुक विधि से करना है। परन्तु शनैः शनैः सामाजिक परिस्थितियों के कारण सम्भवतः इतने विस्तृत ढंग से प्रतिदिन यज्ञ कर पाना सम्भव न हो पाया। परिणामतः यज्ञ के सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान भी विस्मृत होने लगा। तब एक ऐसे सङ्कलन की आवश्यकता पड़ी जिससे आने वाली पीढ़ियों को भी भविष्य में ऋग्वेद में सङ्कलित मंत्रों से यथाविधि यज्ञ सम्पन्न कर अपने मनोवाञ्छित फलों की प्राप्ति हो सके। परिणामस्वरुप यजुर्वेद का सङ्कलन किया गया। यजुर्वेद का अर्थ है 'यजुषां वेदः'। यजु शब्द अनेकार्थक है—

(i) इज्यतेऽनेनेति यजुः— जिन मंत्रों से यज्ञ यागादि किए जाते हैं।

(ii) अनियताक्षरावसानो यजुः— अर्थात् अनियमित अक्षरों से समाप्त होने वाले वाक्य को यजु कहते है।

(iii) गद्यात्मको यजुः— ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मंत्रो का नाम यजु है।

(iv) शेषे यजुः— का भी यही अर्थ है कि ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मंत्रों का नाम ही यजु है।

(v) यजुष् का अर्थ पूजा एवं यज्ञ भी है।

ऋग्वेद के मंत्रों का विषय जिस प्रकार विभिन्न देवताओं की स्तुति करना है, उसी प्रकार यजुर्वेद के मंत्रों का विषय उन देवताओं के लिए यज्ञ सम्पन्न करना है। ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञान से है तो यजुर्वेद का सम्बन्ध कर्म से है।

यजुर्वेद का पुरोहित 'अध्वर्यु' है जिसका अर्थ है 'अध्वरं युनक्ति' अथवा 'अध्वरस्य नेता' अर्थात् अर्ध्वयु यज्ञ का संयोजक एवं सम्पादक होता है।

वास्तव में तीनों वेद परस्पराश्रित हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। ऋग्वेद में 'होता' ऋचाओं द्वारा देवताओं की स्तुति करता है तो सामवेद में 'उद्गाता' यज्ञों के अवसर पर उनका सस्वर, लयबद्ध व आरोह अवरोह से युक्त सङ्गीतमय उच्चारण करता है और यजुर्वेद मे 'अध्वर्यु' उन देवताओं के लिए यज्ञ सम्पादित करता है। इस प्रकार ऋग्वेद ज्ञानपरक है, सामवेद भावना परक है और यजुर्वेद क्रिया परक है।

यजुर्वेद के दो भाग हैं— कृष्ण और शुक्ल। इन दोनों में क्या अन्तर है, इसका उत्तर देने के लिए भिन्न भिन्न मत दिए गए हैं (विस्तृत विवेचना के लिए दृष्टव्य लेखिका का संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास') परन्तु महीधरकृत यजुर्वेद भाष्य भूमिका में दी गई श्रुति के अनुसार एक दिन वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से क्रुद्ध हो गए और उससे वह सब कुछ उगलने को कहा जो उसने अपने गुरु से सीखा था। इस पर याज्ञवल्क्य ने उस ज्ञान का वमन कर दिया जिसका वैशम्पायन के चार शिष्यों ने तीतर का रुप धारण कर भक्षण कर लिया। यही उद्वान्त ज्ञान कृष्ण यजुर्वेद कहलाया। परन्तु याज्ञवलक्य ने भी अपने मान सम्मान की रक्षा करने के लिए सूर्य देव को तपस्या द्वारा प्रसन्न कर शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त किया सूर्य देवता ने वाजी (घोड़े)का रुप धारण करके याज्ञवल्क्य को उपदेश दिया था अतः शुक्लयजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं।

अथर्ववेद

कालान्तर में जब वैदिक आर्यों की भारत के मूल निवासी द्रविड़, दस्यु या दास से घनिष्ठ मित्रता हो गई, परस्पर विचारों का आदान प्रदान होने लगा तो वैदिक आर्यों ने देखा कि द्रविड़ भी अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए स्तुतियाँ करते थे परन्तु वे स्तुतियाँ यज्ञों का आश्रय लिए बिना ही करते थे। वे लोग भूत प्रेतादि अदृश्य पैशाचिक शक्तियों का आह्वान मंत्रों की सहायता से यज्ञ के बिना ही कर लेते थे। यद्यपि वैदिक आर्य भी इस विधि से परिचित तो थे (क्योंकि ऋग्वेद मे 30 सूक्त इसी प्रकार के हैं जहाँ शत्रुविनाश, सपत्नी मर्दन, दुःस्वप्नों व अपशकुनों के प्रभाव को दूर करने के उपाय दिए गए हैं तथापि उनका ज्ञान व प्रयोग द्रविड़ों के ज्ञान व प्रयोग की अपेक्षा बहुत सीमित था।

इसके अतिरिक्त द्रविड़ अपने ज्ञान का प्रयोग केवल स्वार्थपूर्ति व सांसारिक भोगविलासों की प्राप्ति के लिए ही करते थे जबकि वैदिक आर्यों के धार्मिक कार्य मुख्यतया परोपकार के लिए ही होते थे। यज्ञों में मन्त्रों द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर अभीष्ट की प्राप्ति करना एक लम्बी प्रक्रिया थी। जबकि द्रविड़ मन्त्रों द्वारा भूत प्रेतादि अदृश्य शक्तियों को अपने वश मे करके अपनी इच्छापूर्ति शीघ्र ही कर लेते थे। यद्यपि वे भौतिक रुप से यज्ञ नहीं करते थे तथापि उन्होंने यज्ञ का सम्बन्ध अभिचार के साथ स्थापित कर दिया था। वे यज्ञ का निष्पादन मानसिक रुप से ही करते थे। यह भौतिक स्तर से ऊपर उठ कर मानसिक स्तर पर पहुँच गया था। भौतिक रुप से यज्ञ न करने के कारण उन्हें व्यय भी अधिक नहीं करना पड़ता था जबकि वैदिक आर्यों को यज्ञ पर विपुल धन राशि

व्यय करनी पड़ती थी।

वैदिक आर्यों ने द्रविड़ों द्वारा प्रयुक्त इन मंत्रों की शक्ति को पहचाना और देखा कि ये मंत्र पारलौकिक सुख की प्राप्ति के साथ साथ इहलौकिक सुख की प्राप्ति करवाने में भी पूर्ण रूप से सक्षम थे। उन्होंने इन मन्त्रों पर भी अपने ढंग से मनन किया। इन पर प्रयोगात्मक समीक्षण किए और इन्हें भी शुद्ध करके लिपिबद्ध किया। यह ग्रन्थ 'अथर्ववेद' कहलाया।

अथर्ववेद का अर्थ है 'अथर्वों का वेद अथवा व्यभिचार मन्त्रों का ज्ञान (The Knowledge of magic formulae) सम्भवतः अर्थ (धन) से सम्बन्धित होने के कारण इसका नाम अथर्ववेद पड़ा हो। इसमें भौतिक तत्त्वों की प्रधानता है जबकि ऋग्वेद में आध्यात्मिक और आधिदैविक तत्त्वों का प्राधान्य है। पहले अथर्ववेद को 'वेद' की संज्ञा प्राप्त नहीं थी क्यांकि इसकी मूलभावना व इसका वर्ण्य विषय बाकी तीन वेदों से भिन्न था। परन्तु बाद में इसके महत्त्व को देखते हुए इसे भी वेदों में सम्मिलित कर लिया गया। अथर्ववेद के पुरोहित का नाम 'ब्रह्मा' था।

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद के पश्चात् अन्य किसी वेद की रचना नहीं हुई सम्भवतः इसके निम्न कारण हो सकते हैं—

1. अथर्ववेद अन्तिम वेद है क्योंकि इसमें धर्म अपनी चरम सीमा पर था। किसी भी वस्तु के तीन पक्ष हो सकते है, आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि आधिदैविक तथा अध्यात्म विषयक मन्त्रों का सङ्कलन अन्य तीन वेदों में हो चुका था जबकि आधिभौतिक विषयों पर रचित मन्त्रों का संग्रह अथर्ववेद में कर दिया गया। इन चारों वेदों में ही सबका समावेश हो जाने के कारण अब कुछ शेष ही नहीं बचा था।

2. अथर्ववेद भौतिकता प्रधान वेद है। सांसारिक विषय भोगों में लिप्त रहने के कारण और वह भी पैशाची शक्ति की सहायता से, मनीषियों की मनन शक्ति क्षीण हो गई। शुद्ध और निर्मल हृदय से ही मन को एकाग्र करके ध्यान लगाया जा सकता है। जब मन ही अशुद्ध, कुटिल और कलुषित हो गया तो मनन, निदिध्यासन इत्यादि करने की क्षमता भी नहीं रही। अतः अथर्ववेद के बाद अन्य कोई वेद नहीं रचा गया।

3. डॉ रसिक बिहारी जोशी के अनुसार अथर्ववेद के पश्चात् नूतन प्रार्थनाओं के प्रणयन की आवश्यकता नहीं समझी गई बल्कि दिवङ्गत पवित्र महर्षियों द्वारा प्रार्थनाओं की पुनरावृत्ति करना ही प्रशस्य व श्लाघ्य बन गया

(वैदिक साहित्य की रुपरेखा, डॉ रसिक जोशी, पृष्ठ संख्या 14)

इस प्रकार वैदिक साहित्य की शृङ्खला में चारों वेदों की रचना के साथ ही संहिता काल की समाप्ति हो जाती है

ब्राह्मण ग्रन्थ

चारों वेदों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान है। वेदों की रचना के पश्चात् पुरोहित वर्ग ने अपनी रचना शक्ति यज्ञों के विधिविधानों की विस्तृत व्याख्या करने में प्रवृत्त कर दी। ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्या ग्रन्थ हैं।

ब्राह्मण शब्द √ बृहू-वर्धने से निष्पन्न है। इन ग्रन्थों में विभिन्न कथाएँ तथा उपाख्यान देकर वैदिक मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इनके महत्त्व और प्राचीनता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वैदिक संहिताओं की भाँति इन्हें भी वेद कह कर पुकारा गया है **'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः'**।

प्रत्येक वेद के अपने अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकी, सामवेद के पञ्चविंश, षड्विंश, अद्‌भुत और जैमिनीय, शुक्ल यजुर्वेद' का शतपथ, कृष्ण यजुर्वेद का तैतरीय व अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण ही आज उपलब्ध हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् ही संस्कृत जनसाधारण की भाषा न रह कर साहित्यिक भाषा बना दी गई। ब्राह्मण ग्रन्थों की उत्पत्ति तक होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा ही वैदिक मंत्रों के प्रयोग व यज्ञविधियों के ज्ञाता रह गए थे। इनकी संख्या भी बहुत कम थी। जन साधारण वेदों का अध्ययन स्वयं न कर पाए और यज्ञ याजन के लिए उसे ब्राह्मणों पर ही निर्भर रहना पड़े अतः ब्राह्मणों ने अपना पूर्ण प्रभुत्व बनाए रखने के लिए संस्कृत भाषा को क्लिष्ट, जटिल व दुर्बोध बनाने का हर सम्भव प्रयास किया।

यह ध्यातव्य है कि ऋग्वैदिक युग में भी यद्यपि 'होता' ही यज्ञ का सम्पादन करता था परन्तु यह 'होता' वह ऋषि था जिसनें स्वयं मन्त्रों का प्रयोगात्मक समीक्षण किया था, उन पर मनन किया था व स्वयं ही उनकी विलक्षण शक्ति का साक्षात्कार कर चुका था जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों का ब्राह्मण केवल जाति से ब्राह्मण था और यज्ञादि विधियों का ज्ञाता होने के कारण 'ब्राह्मण' या 'धर्मनिर्देशक' कहलाता था।

समाज में अपना आधिपत्य बनाए रखने के लिए और अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए ही इन ब्राह्मणों ने सम्भवतः वर्णव्यवस्था को भी दृढ़ बना दिया और

सम्भवतः इसी कारण से ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया गया क्योंकि यज्ञों की बागडोर इन्हीं पुरोहितों के हाथ में थी। पुनः अपनी सर्वज्ञता दिखलाने के लिए इन्होंने यज्ञ सम्बन्धी व्याख्या करते हुए अनेकों आख्यान और उपाख्यान भी जोड़ दिए। इस सबसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस विशेष वर्ग ने इन ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रन्थ के नाम से अभिहित किया क्योंकि वे इन्हें अपनी निजी सम्पत्ति ही समझते थे। अतः अपने नाम पर ही इन्होंने इन का नाम 'ब्राह्मण' (ब्राह्मणस्य कर्म) रख दिया।

आरण्यक

वैदिक परम्परा में ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् आरण्यक ग्रन्थों का स्थान है ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की प्राय: कर्मकाण्डपरक व्याख्या की गई है परन्तु आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञ की आध्यात्मिक और रहस्यावादी व्याख्याएँ हैं। आध्यात्मिक व्याख्याएं तभी सम्भव हैं जब मनुष्य सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर, नगर व ग्राम के कोलाहल से दूर, शान्त व एकान्त स्थान पर एकाग्रचित्त व तन्मय होकर चिन्तन करे। इसके लिए अरण्य ही सबसे उपयुक्त स्थान हैं। अरण्य में ही रचे जाने के कारण और अरण्य में ही पढ़ाए जाने के कारण ये आरण्यक कहलाए 'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते'।

यज्ञ की रहस्यवादी विवेचना करने के कारण ये ग्रन्थ एक परिवर्तनशील युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिकता की तरफ प्रवृत्त करवाने का श्रेय इन्हीं ग्रन्थों को प्राप्त है।

वेदाङ्ग

वेदों के सम्यक् अनुशीलन के लिए और उनका वास्तावक अर्थ जानने के लिए जो ग्रन्थ उपयोगी व सहायक हैं उन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। वेदाङ्ग का अर्थ ही है 'वेदस्य अङ्गानि' अर्थात वेद के अङ्ग।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ सम्बन्धी क्रिया कलापों, विधि विधानों इत्यादि का इतना अधिक विस्तार हो गया था कि उन्हें याद रखना अत्यधिक कठिन हो गया। अतः इस विशाल साहित्य को भी याद रखने के लिए छोटे छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी। ये ग्रन्थ सूत्र शैली में लिखे गए हैं अतः इन्हें सूत्र साहित्य भी कहते हैं। दूसरे शब्दों में सूत्र साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रन्थ ही 'वेदाङ्ग' कहलाए।

वेदाङ्ग छः है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष्। इन

छः के समूह को षड् वेदाङ्ग अथवा षडाङ्ग भी कहते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना महत्त्व है।

शिक्षा

शिक्षा उन ग्रन्थों का नाम है जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का ज्ञान भली भाँति प्राप्त होता है। शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार की गई है। 'वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा' अर्थात् जिसके द्वारा वर्ण स्वरादि उच्चारण की शिक्षा दी जाती हो, वह शिक्षा है। वेदपाठ के समय शुद्ध उच्चारण और शुद्ध स्वर प्रक्रिया का होना आवश्यक है अन्यथा इष्ट के स्थान पर अनिष्ट हो जाता है।

शिक्षा के छः अंग है-वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान।

शिक्षा नामक वेदाङ्ग की प्राचीनतम प्रतिनिधि रचनाएँ प्रातिशाख्य हैं। वेदों की प्रत्येक शाखा से सम्बन्ध होने के कारण इन्हें प्रातिशाख्य कहा गया है—

कल्प

कल्प का अर्थ है— विधि, नियम, न्याय, कर्म और आदेश। कल्पसूत्रों के चार भाग हैं— श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र, धर्मसूत्र और शुल्व सूत्र।

(1) श्रौत सूत्र— इनमें श्रुति प्रतिपादित यज्ञों का क्रमबद्ध विवेचन है। श्रौत का अर्थ है 'श्रुति सम्बन्धी'। श्रुति 'वेद' को कहते हैं। वेद यज्ञ प्रधान हैं। अतः श्रोतसूत्र का अर्थ है 'यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले सूत्र'। इनमें अग्निहोत्र, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, सोमयाग, राजसूय, सौत्रामणि एवं पशुयज्ञ आदि विधियों का सर्वाङ्गीण विवेचन सूत्र भाषा में किया गया है।

(2) गृह्य सूत्र— इनमें गार्हिक यज्ञों एवं उत्सव आदि से सम्बन्धित विविध विधियों का विधिवत् वर्णन है। गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त सभी क्रिया कलापों, संस्कारों, उत्सवों एवं यज्ञ विधियों का विस्तृत वर्णन है।

(3) धर्मसूत्र— इनमें प्राचीन भारतीय गृहस्थ के दैनिक आचार शास्त्र का निरूपण किया गया है। इनमें वैवाहिक सीमाएँ, खान पान, छुआ छूत सम्बन्धी बातों पर प्रकाश डाला गया है। राजा एवं प्रजा के कर्त्तव्यों का भी वर्णन है। अनेक प्रकार के पापों एवं प्रायश्चितों का भी विधान है। अपराध व उसके लिए दण्डविधान भी किया गया है।

(4) शुल्व सूत्र— इनमें यज्ञवेदी निर्माण सम्बन्धित विधियों का उल्लेख है। शुल्व का अर्थ है 'नापने की रस्सी'। इनमें यज्ञवेदियों को नापने का, उनके लिए स्थान चुनने का तथा वेदी निर्माण का विस्तृत वर्णन है।

व्याकरण

व्याकरण एक ओर अतिगूढ़ वेदमन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करता है तो दूसरी तरफ वेद मन्त्रों को सुरक्षित भी रखता है। शब्दों की व्युत्पत्ति के उद्देश्य एवं उनके निर्धारण की दृष्टि से ही इसकी रचना हुई 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरण के पाँच प्रयोजन बतलाए हैं-रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्'।

आजकल उपलब्ध ग्रन्थों में पाणिनि की अष्टाध्यायी ही व्याकरण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें चार हजार अल्पाक्षर सूत्रों में सारे व्याकरण की रचना की गई है। आचार्य व्याडि ने एक लाख श्लोकों में व्याकरण की रचना की।

निरुक्त

निरुक्त और व्याकरण दोनों का विषय प्रायः एक ही है शब्द ज्ञान और शब्द व्युत्पत्ति। निरुक्त का विषय कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति मूलक व्याख्या करना है। जो कठिन शब्द व्याकरण की पहुँच से बाहर थे, उनके अर्थज्ञान के लिए ही निरुक्त की रचना हुई। निरुक्त के रचयिता का नाम यास्क है। निरुक्त को व्याकरण का पूरक माना गया है 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्'

वास्तव में निरुक्त निघण्टु की टीका मात्र है। निघण्टु में वेद में प्राप्त होने वाले कठिन एवं दुरूह शब्दों की सूची क्रमबद्ध रुप से दी गई है। निघण्टु आज प्राप्य नहीं है। निघण्टु पर लिखा गया भाष्य ही निरुक्त कहलाया।

निरुक्त के प्रतिपाद्य विषय पाँच हैं-वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश और धातु का उसके अर्थातिशय से योग।

ज्योतिष्

यज्ञ की सफलता के लिए अनुकूल तिथि, नक्षत्र, पक्ष मास, ऋतु, संवत्सर आदि का होना परम आवश्यक है। अतः यज्ञ की सफलता के लिए ज्योतिष् का महत्त्वपूर्णस्थान है। अनुकूल समय पर सम्पादित यज्ञ ही अभीष्ट की प्राप्ति करवाता है 'यज्ञकालार्थसिद्धये'।

आजकल लगध द्वारा रचित वेदाङ्ग ज्योतिष् नामक एक ही गन्थ प्राप्त होता है।

छन्द

वेद मन्त्रों की शुद्धता और उनके लयबद्ध ज्ञान के लिए छन्दशास्त्र

आवश्यक है। वर्णों की निश्चित संख्या को छन्द कहते हैं 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'। छन्द -√ छदि— आच्छादने से निष्पन है। जो वेद मन्त्रों की आसुरी हस्तक्षेप से रक्षा करता है, छन्द कहलाता है। 'छादयति आवृणोति मन्त्रप्रतिपाद्ययज्ञादीन् इति छन्दः। यही कारण है कि प्रत्येक सूक्त मे छन्द होता है। वेद में मुख्य रुप से 7 छन्द हैं। सभी वार्णिक हैं। अक्षरों की न्यूनता अधिकता से ही इनके अनेक भेद उपभेद हो जाते है। गायत्री, अनुष्टुब्, त्रिष्टुब, पंक्ति, जगती, बृहती तथा उष्णिक् वेद में प्राप्त होने वाले सात छन्द हैं।

पिंगल का छन्दशास्त्र सर्वाधिक प्राचीन, प्रौढ़ एवं सर्वाङ्गीण ग्रन्थ है।

इस प्रकार इन षड् वेदाङ्गो में से प्रतेक का अपना अपना महत्त्व है परन्तु सब का उद्देश्य वेदों का समुचित ज्ञान प्राप्त करना व उनकी रक्षा करना ही है।

इस प्रकार वैदिक शृङ्खला में सब अंग एक जंजीर के समान है जो परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित है। ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ हैं, सामवेद में उनकी उच्चारण विधि है, यजुर्वेद में उनको कार्यान्वित करने की विधि है। अथर्ववेद इहलौकिक सुखों की प्राप्ति करवाता है। भोग योग, अभ्युदय और निः श्रेयस् का सुन्दर समन्वय इन चारों वेदों में है। ब्राह्मण ग्रन्थ इन वेदों के व्याख्या ग्रन्थ हैं। आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या दी गई है तो छः वेदाङ्ग वेदों के अर्थ को समझने व उनकी रक्षा करने में भरपूर सहायता करते हैं।

उपनिषद्

उपनिषद् मनुष्य जीवन के उत्तर पक्ष से सम्बन्धित हैं। ये पूर्ण रुप से अध्यात्म का प्रतिपादन करते हैं। ज्ञान प्राप्ति ही इनका मुख्य उद्देश्य है। अतः इनका यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा।

विषयानुक्रमणिका

इन्द्र (ऋग्वेद 1.32)

इन्द्र वैदिक आर्यों के प्रियतम देवताओं में से हैं। अन्तरिक्ष-स्थानीय इस देवता के महत्त्व का अनुमान इसी बात से हो जाता है कि इसकी स्तुति ऋग्वेद के लगभग 250 सूक्तों में विहित है जो ऋग्वेद का चतुर्थांश है। इसके अतिरिक्त 50 सूक्तों में इसका आह्वान अन्य देवताओं के साथ भी हुआ है। यास्काचार्य ने इन्द्र की निम्न निरुक्तियाँ दी हैं :—

1. **'इरां दृणाति दारयते वा'**— अर्थात् जो अनाज (इरा) को बीज रूप में अङ्कुरित करने के लिए तोड़ता है। वस्तुतः कुछ विद्वानों द्वारा इन्द्र वर्षा का देवता माना गया है तो कुछ विद्वानों द्वारा इसे सूर्य भी माना गया है। वर्षा और सूर्य दोनों ही बीज को अन्न रूप में अङ्कुरित करते हैं।

2. **'इरां ददाति, दधाति, धारयते वा'**— अर्थात् जो अन्न देता है अथवा धारण करता है।

3. **इन्दवे द्रवति**— जो सोमरस पीने के लिए दौड़ता है।

4. **इन्दौ रमते**— जो सोमरस में आनन्दित होता है।

5. कुछ विद्वानों ने इसे **इद् - इन्द् - स्वामी होना** से निष्पन्न मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार भी की है— **'इन्द्रञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा'** अर्थात् जो सबका स्वामी होता हुआ शत्रुओं को नष्ट करने वाला या भगाने वाला है।

आधिभौतिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ वायु है **'वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः** (निरुक्त 7.5) तथा **राष्ट्र की रक्षा करने वाले सैनिक** भी हैं। आधिदैविक पक्ष में इन्द्र देवता है तथा आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ मन है **'यन्मनः स इन्द्रः'** (गोपथ ब्राह्मण) शरीर के समस्त अङ्गों में मन की प्रधानता है। वह सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का राजा है। **योगी जी ने आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र का**

अर्थ '**जीवात्मा**' किया है। उनके अनुसार वायु को इन्द्र कहा गया है और जब किसी की मृत्यु हो जाती है तो कहा जाता है कि प्राण (वायु) चली गई अथवा जीवात्मा (इन्द्र) चला गया।

कहीं '**द्यौ**' को इन्द्र का पिता कहा गया है— '**द्यौरिन्द्रस्य कर्ता**' तो कहीं देवशिल्पी त्वष्टा को भी इसका पिता कहा गया है। निष्टिग्री को इसकी माता कहा गया है '**निष्टिग्रयः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रम्**' (ऋग्वेद 10.101.12)। **सायणाचार्य के अनुसार अदिति ही निष्टिग्री है।** वह जन्म से ही शत्रुरहित व दुर्जेय है— '**अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे**'।

इन्द्र के शरीर के विभिन्न अवयवों का उल्लेख हुआ है। यह स्वयं भूरे रंग का है (हरि) तथा इसके बाल और दाढ़ी भी भूरी है। इसका शरीर बहुत गठीला व बलशाली है। वह '**सुशिप्र**' (सुन्दर ठोडी वाला) व लोहे जैसी शक्तिशाली व वज्र के समान मजबूत भुजाओं वाला है (वज्रबाहुः)। सोमपान के प्रसङ्ग में इसके उदर का उल्लेख हुआ है '**हृदा इव कुक्षयः सोमधानाः**' (ऋग्वेद, 3.36.8)। इसे 'हिरण्यवर्ण' '**इन्द्रो न वज्री हिरण्ययः**' (ऋग्वेद 1.7.2) तथा हिरणयबाहु '**इन्द्रो वज्री हिरण्यबाहुः**' (ऋग्वेद 7.34.4) भी कहा गया है। इन्द्र अपनी इच्छानुसार रूप धारण कर सकता है '**यथावशं तन्वं चक्र एषः**' (ऋग्वेद 3.48.4) तथा '**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**' (ऋग्वेद 6.47.18)।

इन्द्र का रथ दो हरे रंग के घोड़ों द्वारा (हरी) खींचा जाता है '**युक्ष्वा मदच्युता हरी**' (ऋग्वेद 1.81.3) परन्तु कभी-कभी यह संख्या हजार या ग्यारह सौ तक पहुँच जाती है। यह रथ स्वर्णिम है तथा मन की गति से भी तेज चलता है— '**यस्ते रथो मनसो जवीयानेन्द्र तेन सोमपेयाय याहि**' (ऋग्वेद, 10.112.2)

'वज्र' इन्द्र का विलक्षण अस्त्र है जो देवशिल्पी त्वष्टा द्वारा बनाया गया— '**त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष**' (ऋग्वेद 1.32.2)। यह वज्र धातु अथवा स्वर्ण का है। कहीं-कही यह पत्थर का बना हुआ भी कहा गया है। यह '**शतपर्व**' (सौ जोड़ों वाला) तथा '**सहस्रभृष्टिः**' (सहस्रों नोकों वाला) है। यह ध्यातव्य है कि पुराणों में यह वज्र वृत्रासुर वध के लिए विश्वकर्मा ने ब्रह्मा के आदेश पर दधीचि की अस्थियों से बनाया था। वेद में वज्र का इन्द्र के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि 'वज्र' शब्द से बने हुए विशेषण इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त होते हैं जैसे वज्रहस्त, वज्रबाहु, वज्रभृत्, वज्रिन् इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि बिजली गिरने की क्रिया को ही वज्रपात कहा गया है। क्योंकि वज्र की आकृति बादलों

में चमकती हुई बिजली जैसी ही बनाई जाती है। इन्द्र कभी-कभी धनुष व बाण भी धारण करता है' **आ बुन्दं वृत्रहा ददे**'।

इन्द्र की शक्ति अतुलित है अतः इसे '**शक्र**', '**शचीपति**' या '**शचीवान्**' भी कहा गया है। सैंकड़ों क्रियाओं से युक्त होने के कारण इसे '**शतक्रतु**' तथा समृद्ध होने के कारण '**मघवन्**' या '**वसुपति**' भी कहा गया है।

सोम का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन्द्र जैसा सोमपाता अन्य कोई देवता नहीं है—'**इन्द्र इत्सोमपा एकः**'। तीव्र सोमलिप्सा के कारण इसने इसकी चोरी भी कर डाली—'**आमुष्या सोममपिबः**'। यह इसकी आत्मा है—'**आत्मेन्द्रस्य भवसि**'। सोमपान करके यह अनेक ओजस्वी कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र 'मन' है तो सोम 'आनन्द'। मन और आनन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इन्द्र समस्त संसार का एकमात्र शासक है—'**एक ईशान ओजसा**'। इसने काँपती हुई पृथ्वी व पर्वतों को टिकाया, अन्तरिक्ष का निर्माण किया और आकाश को स्तम्भित किया। इसी ने सूर्य व उषा को उत्पन्न किया और यही जल का नेता भी है—'**यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता**'। इसके समान कोई भी दिव्य या पार्थिव न तो उत्पन्न हुआ है और न ही उत्पन्न होगा—'**न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते**'।

इन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण और शौर्यपूर्ण कार्य वृत्र का वध करना है इसी कारण 'वृत्रहा' विशेषण मुख्य रूप से इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त होता है। परन्तु '**यह वृत्र कौन है**' इस विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत दिए हैं। **यास्काचार्य** के अनुसार '**वृत्र**' **मेघ का प्रतीक है**। यह शब्द √ वृञ्-आवरणे से निष्पन्न है। यह मेघ जलों को रोके हुए था। इन्द्र ने मेघ को हटा कर उस जल को वर्षा रूप में बरसाया। **लोकमान्य तिलक के अनुसार इन्द्र सूर्य है और वृत्र हिम है**। उत्तरी ध्रुव में अत्यधिक शीत के कारण सारी नदियाँ जम जाती हैं तो वसन्त कालीन सूर्य अपने ताप से हिम पिघलाकर उसे नदी रूप में प्रवाहित करता है। ऋग्वेद के 10.89.2 में इन्द्र को सूर्य कहा गया है '**ख सूर्यः . . . इन्द्रः**।' कुछ विद्वानों के अनुसार **वृत्र सर्वत्र व्याप्त अन्धकार है जिसे सूर्य रूपी इन्द्र नष्ट करता है**। कुछ विद्वानों के अनुसार **वृत्र एक विशालकाय सर्प था जो जलों को अवरुद्ध करके लेटा हुआ था**। इन्द्र ने उसे मार कर जल को नदियों के रूप में प्रवाहित किया '**यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् सर्तवे**'। **शतपथ ब्राह्मण में पाप को वृत्र कहा गया है**

'पाप्मा वै वृत्रः। इन्द्र रूपी मन पापवृत्तियों का नाश करता है। ऐतिहासिकों के अनुसार वृत्र एक ऐतिहासिक राजा था जिसका वध इन्द्र ने किया। वस्तुतः वृत्र का 'असुर' और 'सर्प के रूप में ऋग्वेद में पर्याप्त वर्णन है।

वास्तव में वृत्र एक आवरक शक्ति का प्रतीक था। वृत्र को ऋग्वेद में शुष्ण, नमुचि, पिप्रु, अहि, शम्बर, उरण आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।

इन्द्र वैदिक आर्यों की युद्ध में भी रक्षा करता है। उसके बिना योद्धा युद्ध में विजय प्राप्त नहीं करते **'यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो'**। छोटे बड़े सभी युद्धों में इन्द्र का आह्वान किया गया है **'तमिन्नरो विह्वयन्ते समीके'** (ऋग्वेद 4.24.3) मरुतों को इन्द्र के सैनिक कहा गया है। वरुण, अग्नि, मरुत्, वायु, सोम, विष्णु, बृहस्पति और पूषन् के साथ इन्द्र का निकटतम सम्बन्ध है। **अवेस्ता के 'वेरेथ्रघ्न'** की तुलना वैदिक इन्द्र से भी जा सकती है। वहाँ इसे विजय का देवता माना गया है।

यह ध्यातव्य है कि वैदिक इन्द्र का स्वरूप पौराणिक काल में पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया। पुराणों में यह देवताओं का अधिपति बन गया। यहाँ शची को इसकी पत्नी व जयन्त को उसका पुत्र बतलाया गया है। अपना सिंहासन छिन जाने का भय इन्द्र को निरन्तर बना रहता है क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि सौ यज्ञ कर लेने वाला मनुष्य इन्द्र के सिंहासन पर आसीन होने योग्य बन जाता है। इसी कारण पुराणों में इन्द्र द्वारा अनेक ऋषि मुनियों की तपस्या भङ्ग किए जाने का उल्लेख बार-बार प्राप्त होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि इन्द्र हमेशा ही एक महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में स्वीकार किया गया है चाहे वह वैदिक इन्द्र हो अथवा पौराणिक इन्द्र हो।

इन्द्रः (ऋग्वेद 1.32)

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का 32वाँ सूक्त है। इसका देवता इन्द्र है, ऋषि हिरण्यस्तूप आङ्गिरस है तथा छन्द अनुष्टुब् है। हिरण्यस्तूप के विषय में यास्काचार्य का मत है **'हिरण्यस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपो हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा स्तूपःस्त्यायते संघातः'** (निरुक्त 10.33)। आङ्गिरस के दो अर्थ हैं। (1) **अङ्गिरसोऽपत्यं पुमान् इत्याङ्गिरसः अङ्गिरस के पुत्र आङ्गिरस है।** ऋग्वेद में अङ्गिरस का जन्म अग्नि से बताया गया है **'ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे'** (ऋग्वेद 10.62.5) जो अग्नि के समान तेजस्वी हैं वे आङ्गिरस हैं। तथा (2) **अङ्गेषु रसो**

येषां तेऽङ्गिरसः अर्थात् जिनके अङ्गों में आनन्द है अर्थात् जो कोमल हृदय हैं। तेजस्विता के साथ कोमल हृदययुक्तता सोने पर सुहागे के समान है। ऐसे गुणों से युक्त हिरण्यस्तूप आङ्गिरस प्रस्तुत सूक्त के ऋषि हैं।

अनुष्टुब् वैदिक छन्द है जिसमें चार पंक्तियाँ होती हैं और प्रत्येक पंक्ति में 8-8 अक्षर होते हैं।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्।। 1।।

इन्द्रस्य। नु। वीर्याणि। प्र। वोचम्। यानि। चकार। प्रथमानि। वज्री।
अहन्। अहिम्। अनु। अपः। ततर्द। प्र। वक्षणाः। अभिनत्। पर्वतानाम्।

अन्वय— वज्री यानि प्रथमानि वीर्याणि चकार इन्द्रस्य नु प्रवोचम्। अहिम् अहन् अनु अपः ततर्द पर्वतानाम् वक्षणा प्र अभिनत्।

सरलार्थ— वज्रयुक्त (वज्री) (इन्द्र ने) जो (यानि) प्रमुख (प्रथमानि) वीरतापूर्ण (वीर्याणि) (कार्य) किए (चकार) (उस) इन्द्र के (इन्द्रस्य) (उन कार्यों को मैं) निश्चित रूप से (नु) प्रकृष्ट रूप से (प्र) कहता हूँ (वोचम्)। (उसने) अहि को (अहिम्) मारा (अहन्) उसके पश्चात् (अनु) जलों की (अपः) हिंसा की (ततर्द) (और) पर्वतों की (पर्वतानाम्) प्रवाहित होने वाली नदियों का (वक्षणाः) भेदन किया (प्र अभिनत्)!

सायण भाष्य— वज्री वज्रयुक्तः इन्द्रः प्रथमानि पूर्वसिद्धानि मुख्यानि वा यानि वीर्याणि पराक्रमयुक्तानि कर्माणि चकार तस्येन्द्रस्य तानि वीर्याणि नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि। कानि वीर्याणि तदुच्यते। अहिं मेघमहन्। तदेकं वीर्यम्। अनु पश्चादपो जलानि ततर्द। हिंसितवान्। भूमौ पातितवानित्यर्थः। इदं द्वितीयं वीर्यम्। पर्वतानां सम्बन्धिनीर्वक्षणाः प्रवहणशीला नदीः प्राभिनत्। भिन्नवान्। कूलद्वयकर्षणेन प्रवाहितवानित्यर्थः। इदं तृतीयं वीर्यम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। वीर्याणि। शूर वीर विक्रान्तौ। ण्यन्तादचो यदिति यत्। णेरनिटीति णिलोपः। तित्स्वरितमिति स्वरितत्वम्। यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वं न भवति। आद्युदात्तत्वे हि सुशब्देन बहुव्रीहावाद्युदात्तं द्वयच्छन्दसीत्यनेनैवोत्तरपदाद्युदात्तत्वस्य सिद्धत्वाद्वीरवीर्यौ चेति पुनस्तद्विधानमनर्थकं स्यात्। अतोऽवगम्यते यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वं वीरशब्दे न प्रवर्तत इति। अतः परिशेषात्तित्स्वरितमिति प्रत्ययस्य स्वरितत्वमेव। वोचम्। अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङितिच्लेरङादेशः। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपीत्यडभावः। चकार। णलि लित्स्वरेण

प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम्। यद्वृत्तयोगादनिघातः। अहन् लङीतश्चेतीकारलोपे हल्ङ्याब्भ्य इति तकारलोपः। अहिम्। आङ्पूर्वाद्धन्तेराङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च। उ. 4.137। इतीप्रत्ययः। आङो ह्रस्वत्वं च। चशब्देन वेञो डित् समाने ख्यश्चोदात्त इति डित्वं पूर्वपदोदात्तत्वं चानुकृष्यते। ततष्टिलोपे पूर्वपदस्योदात्तत्वम्। ततर्द। उतृदिर हिंसानादरयोः। तिङ्ङतिङ इति निघातः। वक्षणाः। वक्ष रोषे। क्रुधमण्डार्थेभयश्च। पा. 3.2.151। इति युच्। चित्स्वरं बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वरः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र के प्रमुख वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है अहि वह विशालकाल सर्प था जो जलों को अवरुद्ध करके लेटा हुआ था। इन्द्र ने उसे मारा तथा जलों को प्रवाहित किया '**यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिन्धून् सर्तवे**' तथा '**अहिं न यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्**' (ऋग्वेद 6.20.2)। सायण ने 'अहि' का अर्थ मेघ किया है। मेघ वर्षाकालीन जलों को रोके हुए था। वायु रूपी इन्द्र ने उस मेघ को हटाया व अवरुद्ध जलों को पृथ्वी पर बरसाया। जलों को पृथ्वी पर गिराना ही उनकी हिंसा करना है। पर्वतों से प्रवाहित होने वाली नदियों का भेदन किया। इसका अभिप्राय सम्भवतः यह हो सकता है कि पर्वतों पर जमी हुई बर्फ इन्द्र रूपी सूर्य के ताप से पिघल कर नदियों के रूप में मैदानों में प्रवाहित हुई।

आधिभौतिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ है कि सर्वविधविद्या तथा अस्त्र शस्त्रों से सम्पन्न राजा कुटिल व दुष्ट व्यक्तियों का नाश करे। सर्वत्र व्याप्त अव्यवस्था आदि दोषों को दूर करे। धन, सुख सुविधा आदि के साधनों का अव्यवहित प्रयोग हो। चोरों, दुष्टों आदि के भय से प्रजा को निर्भय करे तथा बुद्धि रूपी पर्वत का भेदन कर ज्ञान, विद्या व आनन्द की रसधाराओं को प्रवाहित करे। इन्द्र के समान राजा को पराक्रमी समर्थ तथा कुटिलों को दण्डित करने वाला होना चाहिए।

आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ मन है। शुभ विचार,मनन, संयम आदि शक्तियों से युक्त मन कुटिल विचारों व पापवृत्तियों का नाश करता है। बुद्धि रूपी पर्वत का भेदन कर अर्थात् बुद्धि को परिष्कृत कर सर्वत्र ज्ञान, विवेक और आनन्द का सञ्चार करना चाहिए।

टिप्पणियाँ

1. प्रवोचम्— प्र + √ वच् + लुङ लकार, उत्तम पुरुष, एक वचन। यहाँ तीन अनियमितताएँ हैं। प्रथम तो '**अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्** (3.1.52) से

'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' आदेश हुआ। दूसरे 'बहुलं छन्दस्यमायोगेऽपि' (6.4.75) से वेद में 'माङ्' न होने पर भी 'अट्' का निषेध हो गया और तीसरे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट:' से लट् लकार के अर्थ में लुङ्लकार का प्रयोग हुआ।

पाश्चात्य विद्वान् इसे 'एओरिस्ट इन्जंक्टिव' का रूप मानते हैं।

2. **प्रथमानि— सायण ने इसके दो अर्थ किए** (1) जो पहले किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा नहीं किए गए (2) अत्यन्त प्रकृष्ट।

3. अहिम्— प्राय: अहि तथा वृत्र पर्यायवाची ही हैं। मन्त्र 5 में यह पूर्णत: स्पष्ट है कि अहि तथा वृत्र एक ही हैं। इन्द्रवृत्र युद्ध ऋग्वेद की एक प्रमुख घटना है परन्तु यह अहि अथवा वृत्र कौन है इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार 'अहि' एक विशालकाय सर्प था जो जलों को अवरुद्ध करके लेटा हुआ था। इन्द्र ने उसका वध किया व जलों को प्रवाहित किया।

यास्काचार्य ने इसे गत्यर्थक √ इ धातु से निष्पन्न माना है। **अहि: अयनात् अहि: मेघ: अयति अन्तरिक्षे।** यास्क के अनुसार अहि मेघ है क्योंकि वह अन्तरिक्ष में जाता है। **सायण** ने भी यही अर्थ किया है।

4. **पर्वतानां वक्षणा:— निघण्टु में 'वक्षणा' शब्द नदी का वाचक है** (निघण्टु 1.13) प्राय: सभी विद्वानों ने इसका अर्थ **'पर्वत से सम्बन्धित नदियाँ'** किया है जबकि **दुर्गाचार्य ने पर्वत का अर्थ 'मेघ' किया है।** तदनुसार उन्होंने 'पर्वतानां वक्षणा:' का अर्थ **'मेघों की जलवाहक शिराएँ'** किया है। **निघण्टु 1.10 में पर्वत शब्द मेघ का पर्यायवाची है।**

स्कन्दस्वामी के अनुसार 'पर्वत की नदियों को भेदा' अर्थात् जलबाहुल्य के कारण भेद कर उनके कूलों को सब ओर प्रवाहित किया 'बहूदकत्वात् भित्त्वा तत्कूलानि सर्वत: प्रवाहितवानित्यर्थ:।

सायण ने अर्थ किया—'पर्वतों से सम्बद्ध प्रवहणशील नदियों को भेदा अर्थात् दोनों तटों का कर्षण करके प्रवाहित किया।

सातवलेकर ने अर्थ किया 'पर्वतों में से नदियों का मार्ग खोलकर विशाल किया।

वक्षणा: में √ वक्ष + युच् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। यहाँ **'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च'** (3.2.151) से 'युच्' प्रत्यय आया।

5. 'प्र अभिनत्— प्र + √ भिद् + लङ्लकार, प्रथम पुरुष' बहुवचन। 'व्यवहिताश्च' सूत्र से धातु और उपसर्ग के बीच व्यवधान है।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः।। 2।।

अहन्। अहिम्। पर्वते। शिश्रियाणम्। त्वष्टा। अस्मै। वज्रम्। स्वर्यम्। ततक्ष। वाश्राःऽइव। धेनवः। स्यन्दमानाः। अञ्जः। समुद्रम्। अव। जग्मुः। आपः।

अन्वय— पर्वते शिश्रियाणम् अहिम् अहन् त्वष्टा अस्मै स्वर्यं वज्रं ततक्ष। स्यन्दमानाः आपः समुद्रम् अञ्जः अवजग्मुः इव वाश्राः धेनवः।

सरलार्थ— पर्वत पर (पर्वते) आश्रय लेने वाले (शिश्रियाणम्) अहि का (अहिम्) (इन्द्र ने) वध किया (अहन्)त्वष्टा ने (त्वष्टा) इसके लिए (अस्मै) स्वर करने वाले (स्वर्यं) वज्र को (वज्रम्) बनाया (ततक्ष)। प्रवाहित होते हुए (स्यन्दमानाः) जल (आपः) समुद्र में (समुद्रम्) भली प्रकार (अञ्जः) पहुँच गए (अवजग्मुः) जिस प्रकार (इव) रम्भाती हुई (वाश्राः) गाएँ (धेनवः) (बछड़ों के पास पहुँच जाती हैं)।

सायण भाष्य— पर्वते शिश्रियाणमाश्रितम् अहिम् मेघमहन्। हतवान्। अस्मा इन्द्राय स्वर्यम् सुष्टु प्रेरणीयम् यद्वा शब्दनीयं स्तुत्यं त्वष्टा विश्वकर्मा वज्रम् ततक्ष। तनूकृतवान्। तेन वज्रेण मेघे भिन्ने सति स्यन्दमानाः प्रस्रवणयुक्ताः आपः समुद्रम् अञ्जः सम्यक् अव जग्मुः प्राप्ताः। तत्र दृष्टान्तः। वाश्राः वत्सान् प्रति हम्भारवोपेताः धेनव इव। यथा धेनवः सहसा वत्सगृहे गच्छन्ति तद्वत्।। शिश्रियाणम्। श्रिञ सेवायाम्। लिटः कानच्। द्विर्भावहलादिशेषेयङादेशाः। चित इन्यन्तोदात्तत्वम्। स्वर्यम्। ऋ गतौ। अस्मात्सुपूर्वादृहलोर्ण्यदितिण्यत्। संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति वृद्ध्यभावः। यद्वा। स्वृ शब्दोपतापयोरित्यस्मात् ण्यदित पूर्ववद् वृद्ध्यभावः। तित्स्वरितमिति स्वरितत्वम्। वाश्यन्त इति वाश्राः। वाशृ शब्दे। स्फायितञ्चीत्यादिना रक्। उसि गमहनेत्युपधालोपः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र द्वारा किए गए अहिवध का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन्द्र ने पर्वत पर निवास करने वाले अहि को मारा। त्वष्टा देवशिल्पी हैं। उन्होंने इन्द्र के लिए आवाज करने वाले वज्र को बनाया सम्भवतः बादल में चमकने वाली बिजली ही वज्र है। वज्र आवाज करने वाला कहा गया है ओर बिजली भी आवाज करती है। तथा इन्द्र के वज्र के समान यह जहाँ भी

गिरती है, दूर-दूर तक सब कुछ तहस-नहस कर देती है। अहि हनन के पश्चात् अवरुद्ध जल, शोर करते हुए, तीव्रगति से उत्सुकता पूर्वक ऋजु मार्ग से उसी प्रकार समुद्र के पास पहुँच गए जिस प्रकार रम्भाती हुई गाएँ अपने बछड़ों के पास विशेष रूप से नवजात बछड़ों के पास शीघ्रता से जाती है।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि जिस प्रकार इन्द्र अहि को मार कर परहित करने वाले जलों को मुक्त करता है उसी प्रकार पर्वतादि गुप्त स्थानों में रहने वाले दुष्टों, चोरों और कुटिल गति वालों को राजा को नष्ट करना चाहिए और उनके द्वारा पापार्जित धन को प्रजा के हित के लिए व्यय करना चाहिए। तथा शत्रुओं को नष्ट कर राजा को अपनी प्रजा को सुखी करना चाहिए।

आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ मन है। मन अपनी बुद्धि में व्याप्त (पर्वते शिश्रियाणम्) कुटिल विचारों को दूर करे तथा हृदय रूपी समुद्र में आनन्द प्रदान करने वाली दिव्य भावनाओं के रस का सञ्चार करे, ऐसी कामना प्रस्तुत मन्त्र में की गई है।

टिप्पणियाँ

1. **अहिम्**— दृष्टव्य प्रथम मन्त्र।

2. **शिश्रियाणम्**— √ श्रिञ् + कानच्, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ **'लिटः कानज्वा'** (3.2.106) से 'कानच्' प्रत्यय आया। कानच् में लिट्वत् व्यवहार होने के कारण धातु का द्वित्व हुआ तथा **'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ'** (6.4.77) सूत्र से इयङ् आदेश हुआ।

3. **स्वर्यम्**— √ स्वृ-शब्दोतापयोः, प्रथमा द्वितीया विभक्ति, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग।

सायण ने इसके तीन अर्थ किए (i) भली प्रकार से प्रेरित 'सुष्ठु प्रेरणीयम् (ii) आवाज करने वाले-शब्दनीयम् तथा (iii) प्रशंसनीय स्तुत्यम्।

स्कन्दस्वामी ने दो अर्थ किए (i) प्रहार के समय शब्द करने वाले और (ii) असुरों को कष्ट पहुँचाने वाले।

ग्रिफिथ ने अर्थ किया-दिव्य।

सातवलेकर— उत्तम रीति से फेंकने योग्य।

स्वामीदयानन्द— जो स्वर गर्जन अथवा वाणी में उत्तम है। निघण्टु 1.11 में 'स्वर्य' वाङ्नाम में पठित है।

कुछ विद्वानों ने स्वर्यम् को √ ऋ-गतौ + ण्यत् प्रत्यय माना है। उनके अनुसार '**ऋहलोर्ण्यत्**' (3.1.24) से ण्यत् प्रत्यय आया।

4. अञ्जः— स्कन्द स्वामी के अनुसार 'अञ्ज' ऋजु का पर्यायवाची है। यह क्रियाविशेषण है। यहाँ '**सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः**' सूत्र से तृतीया के स्थान पर प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ।

सातवलेकर ने इस का अर्थ 'वेग से' किया है।

5. समुद्रम्— स्कन्दस्वामी ने इसके दो अर्थ किए। प्रथम तो अन्य विद्वानों की भाँति उन्होंने भी इसका अर्थ **समुद्र** ही किया और **इसका दूसरा अर्थ उन्होंने** '**अन्तरिक्ष**' किया। निघण्टु 1.3 में समुद्र अन्तरिक्ष नाम में पठित है 'समुद्रम् अन्तरिक्ष नामैतत्। तब इसका अर्थ होगा 'अन्तरिक्ष से जल पृथ्वी की तरफ आते हैं।' यह अर्थ करने पर 'समुद्रम्' में पञ्चमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग मानना पड़ेगा।

ततक्ष— √ तक्ष्-तनूकरणे + लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

इससे स्पष्ट है वैदिक आर्य तक्षण कला से सुपरिचित थे।

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्।। 3।।

वृषऽयमाणः। अवृणीत। सोमम्। त्रिऽकद्रुकेषु। अपिबत्। सुतस्य। आ। सायकम्। मघऽवा। अदत्त। वज्रम्। अहन्। एनम्। प्रथमऽजाम्। अहीनाम्।

अन्वय— वृषायमाणः सोमम् अवृणीत त्रिकद्रुकेषु सुतस्य अपिबत्। मघवा सायकं वज्रम् आदत्त अहीनाम् प्रथमजाम् एनम् अहन्।

सरलार्थ— बैल के समान आचरण करते हुए (वृषायमाणः) (इन्द्र ने) सोम का (सोमम्) वरण किया (अवृणीत) त्रिकद्रुक नामक यज्ञ में (त्रिकद्रकेषु) अभिषव किए गए सोम का (सुतस्य) पान किया (अपिबत्)। धनवान् (मघवा) (इन्द्र ने) शत्रुओं का नाश करने वाले (सायकम्) वज्र को (वज्रम्) धारण किया (अदत्त) अहियों में (अहीनाम्) सबसे पहले उत्पन्न (प्रथमजाम्) इसको (एनम्) मारा (अहन्)।

सायण भाष्य— वृषायमाणो वृष इवाचरन्निन्द्रः सोममवृणीत। वृतवान्। त्रिकद्रुकेषु। ज्योतिर्गौरायुरित्येतन्नामकास्त्रयो यागास्त्रिकद्रुका उच्यन्ते। तेषु सुतस्याभिषुतस्य सोमस्यांशमपिबत्। पीतवान्। मघवा धनवान्निन्द्रः सायकं बन्धकं वज्रमादत्त।

स्वीकृतवान्। तेन च वज्रेणाहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघमहन्। हतवान्।। वृषायमाणः। वृष इवाचरन्। कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च। पा. 3.1.11। इति क्यङ्। अकृत्सार्वधातुकयोरिति दीर्घः। ऋदुपदेशाद्धातोरन्तोदात्तत्वम्। सायकम्। षिञ्बन्धने। सिनोतीति सायकः। ण्वुल। लित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्। प्रथमजाम्। जायत इति प्रथमजाः। जनसनखनक्रमगमो विट्। विड्वनोरित्यात्वम्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वृत्र वध का वर्णन अत्यन्त काव्यात्मक ढंग से किया गया है। यहाँ इन्द्र की तुलना एक बैल से की गई है। बैल पौरुष और शक्ति का प्रतीक है। जिस प्रकार एक मदोन्मत्त बैल अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है उसी प्रकार सोमपान करके इन्द्र भी अपनी द्विगुणित शक्ति को प्रकट करता है। सोम एक मादक पेय पदार्थ है जिसे पीकर इन्द्र की शक्ति अतुलित हो जाती है। ज्योतिः, गौः, और आयु नामक तीन याग 'त्रिकद्रुक' कहलाते हैं। उनमें इन्द्र अभिषुत सोम का पान करता है। सोम की पत्तियों को एकत्रिक करने से प्रारम्भ कर उन्हें धोने, पीसने, छानने तक की समस्त प्रक्रिया के पश्चात् स्वच्छ और पवित्र सोमरस अभिषुत सोम कहा जाता है। इन्द्र शत्रुओं का नाश करने वाले वज्र को धारण करता है तथा अहियों में सर्वप्रथम उत्पन्न अहि को मारता है। सर्वप्रथम उत्पन्न अहि का तात्पर्य उनका मुख्य राजा अथवा नेता हो सकता है।

आधिभौतिक पक्ष में इस मन्त्र का अभिप्राय है कि जिस प्रकार इन्द्र सोमरस पीकर अतुलित शक्ति सम्पन्न हो जाता है और भयङ्कर शत्रु का भी नाश कर देता है उसी प्रकार राजा भी अपना शौर्य और पराक्रम र तथा सभी शत्रुओं और षड्यन्त्रकारियों को नष्ट कर प्रजा को सुखसमृद्धि सम्पन्न बनाए।

आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ मन है और सोम आनन्द है। मन और आनन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन के द्वारा ही आनन्द प्राप्त किया जाता है त्रिकद्रुक शारीरिक, मानसिक और बौधिक प्रगति अथवा धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थों का प्रतीक हो सकता है। सर्वतोमुखी उन्नति अथवा तीनों पुरुषार्थों की प्राप्ति ही मन (इन्द्र) को वास्तविक आनन्द (सोम) प्रदान करती है। अहि पापयुक्त दुष्प्रवृत्तियाँ हैं **'पाप्मा वै वृत्रः'** और वज्र मन की सङ्कल्पशक्ति का द्योतक है। जब मन (इन्द्र) पापवृत्तियों को (अहि) मारने का दृढ़ सङ्कल्प कर लेता है तब वह उन्हें नष्ट करने में सफल भी हो जाता है।

टिप्पणियाँ

1. **वृषायमाण**— 'वृष इवाचरति इति वृषायमाणः' √ वृषु-सेचने + क्यङ् प्रत्यय + शानच् + प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ **'कर्तुःक्यङ् सलोपश्च'** (3.1.11) से क्यङ प्रत्यय आया। **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (7.4.25) से दीर्घ होकर नामधातु होने से शानच् प्रत्यय आया।

सायण, वेंकटमाधव और **स्वामीदयानन्द** ने इसका अर्थ 'बैल के समान आचरण करते हुए' किया है

स्कन्दस्वामी ने अर्थ किया है 'वर्षा की इच्छा करने वाले'।

सातवलेकर— बलवान् (इन्द्र ने)

2. **अवृणीत**— √ वृञ्-वरणे + श्ना विकरण + आत्मनेपद, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन।

3. **त्रिकद्रुकेषु**— **सायण** के अनुसार छः दिन के आभिप्लव यज्ञ का पूर्वार्ध ज्योतिः, गौः और आयुः नामक प्रथम तीन दिन के तीन भाग त्रिकद्रुक कहलाते हैं।

स्कन्दस्वामी ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है 'अभिप्लवत्र्यहं पूर्वं त्रिकद्रुका इत्याचक्षते।

वेंकट माधव ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

सातवलेकर— 'तीन पात्रों में रखे हुए।'

स्वामी दयानन्द— ने इसका अर्थ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किया है।

ग्रासमैन— सोमपान करने वाले तीन पात्र अथवा यज्ञ के लिए तीन पात्रों का प्रयोग।

गेल्डनर— त्रिकद्रुक या का पूर्व भाग अथवा वह स्थान जहाँ इन्द्र सोम रस के तीन सरोवर पी गया था।

4. **सायकम्**— **सायण** ने इसमें √ षिञ्-बन्धने से ण्वुल् प्रत्यय माना है 'सिनोति इति सायकः'। द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

स्कन्दस्वामी और **वेंकटमाधव** ने इसे √ षोऽन्तकर्मणि से निष्पन्न मान कर इसका अर्थ 'शत्रुओं का नाश करने वाला वज्र' किया है।

सातवलेकर ने इसे वज्र का विशेषण न मानकर पृथक् संज्ञा माना है और अर्थ किया है 'बाण'।

5. **प्रथमजाम्**— प्रथम + √ जन् + विट् प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ '**जनसनखनक्रमगमोविट्**' (3.2.67) से विट् प्रत्यय आया फिर '**विड्वनोरनुनासिक स्यात्**' (6.4.41) से 'आत्व' हुआ।

6. **मघवा**— 'मघं बहुविधं पूज्यं धनं यस्य सः' जिसके पास विविध प्रकार का पूजनीय धन है अर्थात् इन्द्र।

7. **अदत्त**— √ दा + लङ् लकार + प्रथम पुरुष, एकवचन।

'**व्यवहिताश्च**' सूत्र से धातु और उपसर्ग के बीच व्यवधान है।

यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः।
आत्सूर्यं जनयन्द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से।। 4।।

यत्। इन्द्र। अहन्। प्रथमऽजाम्। अहीनाम्। आत्।
मायिनाम्। अमिनाः। प्र। उत। मायाः।
आत्। सूर्यम्। जनयन्। द्याम्। उषसम्।
तादीत्ना। शत्रुम्। न। किल। विवित्से।

अन्वय— उत इन्द्र यत् अहीनाम् प्रथमजाम् अहन् मायिनाम् मायाः प्र अमिनाः आत् सूर्यं द्याम् उषासम् जनयन् तादीत्ना किल शत्रुं न विवित्से।

सरलार्थ— और भी (उत) हे इन्द्र (इन्द्र) जब (यत्) (तुमने) अहियों में (अहीनाम्) प्रथम उत्पन्न (प्रथमजाम्) (अहिको) मारा (अहन्) (और उन) मायावियों की (मायिनाम्) मायाओं का (मायाः) प्रकृष्ट रूप से (प्र) नाश किया (अमिनाः) उसके बाद (आत्) सूर्य (सूर्यम्) द्यु (द्याम्) (तंथा) उषा को (उषासम्) प्रकट करते हुए (जनयन्) तब अर्थात् तब से लेकर (तादीत्ना) निस्सन्देह (किल) (तुम्हें) कोई शत्रु (शत्रुम्) नहीं (न) मिला (विवित्से)।

सायण भाष्य— उतापि च हे इन्द्र यद्यदाहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघमहन् हतवानसि आत् तदनन्तरं मायिनां मायोपेतानामसुराणां सम्बन्धिनीर्मायाः प्रामिनाः प्रकर्षेण नाशितवानसि। अनन्तरं सूर्यमुषसमुषःकालं द्यामाकाशं च जनयन् उत्पादयन्नावरकमेघनिवारणेन प्रकाशयन् वर्तसे। तादीत्ना तदानीमावरकान्धकाराभावाच्छत्रुं घातकं वैरिणं न विवित्से किल। त्वं न लब्धवान्खलु।। अहन्। हन्तेर्लङि हल्ङ्याब्भ्यय इति सिलोपः। अडागम उदात्तः। यद्वृत्तयोगादनिघातः। मायिनाम्। मायाशब्दस्य व्रीह्यादिषु पाठाद् व्रीह्यादिभ्यश्च। पा. 5.2.116। इति मत्वर्थीय इनिः। अमिनाः मीञ् हिंसायाम्। कैयादिकः। मीनातेर्निगमे। पा. 7.3.81।

इति ह्रस्वत्वम्। तादीत्ना। तदानीमित्यस्य पृषोदरादित्वाद्वर्णविपर्ययः। किल। निपातनस्येति दीर्घत्वम्। विवित्से। विदलृ लाभे। क्र्यादिनियमात्। प्राप्त इट् व्यत्ययेन न भवति।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र के शौर्ययुक्त पराक्रमों का वर्णन है। उसने अहियों में सबसे पहले उत्पन्न अहि को अर्थात् उनके राजा को मारा (विस्तृत व्याख्या के दृष्टव्य मन्त्र-प्रथम) जितने भी कपटी अथवा मायावी थे उन सभी के कपटों और मायाओं को नष्ट किया। इसी सूक्त के 13वें मन्त्र में स्पष्ट वर्णन है कि वृत्र ने इन्द्र को रोकने के लिए माया रूप विद्युत रची, मेघ द्वारा वर्षा की, बर्फ की वर्षा की, बिजलियाँ गिराईं इत्यादि। परन्तु इन्द्र ने अपनी शक्ति से उन सब को नष्ट कर दिया। तदनन्तर इन्द्र ने सूर्य, द्युलोक और उषा को प्रकट किया। और तब से लेकर अब तक इन्द्र को कोई भी शत्रु ऐसा नही मिला जिसका वह नाश कर पाए। वस्तुतः वृत्र ही उसका सबसे बड़ा शत्रु था। उसके हननोपरान्त इन्द्र का कोई भी शत्रु शेष नहीं रहा।

यह ध्यातव्य है कि अहि को ही वृत्र कहा गया है।

सायणाचार्य का मत है कि अहि मेघ है। मेघ के कारण ही सूर्य, द्यु और उषा का प्रकाश आवृत हो गया था। इन्द्र के द्वारा उसे हटा दिए जाने पर उनका प्रकाश स्वतः प्रकट हो गया।

आधिभौतिक पक्ष में इस का अर्थ है कि जिस प्रकार इन्द्र शत्रुओं तथा मायावियों का नाश कर सर्वत्र प्रकाश व्याप्त करता है उसी प्रकार राजा भी कुटिल, बुद्धि का दुरुपयोग करने वाले तथा धूर्त प्रबन्धकों का नाश करके राज्य में सुख समृद्धि और न्याय का प्रसार करे तथा सात्त्विक भावनाओं का संचार करे।

आध्यात्मिक पक्ष में पापवृत्तियाँ ही अहि हैं— वृत्र हैं **'पाप्मा वै वृत्रः'** तथा मन ही इन्द्र है। ये पापवृत्तियाँ ही मन की सबसे बड़ी शत्रु हैं। जब मन दृढ़सङ्कल्प कर इन पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसका कोई भी शत्रु नहीं रहता। सूर्य, द्यु और उषा प्रकाशयुक्त होने के कारण ज्ञान, सुख और आनन्द के वाचक हैं। अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो जाने पर ज्ञान रूपी प्रकाश सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। ज्ञान ही आनन्दस्वरूप है **'रसो वै सः'**।

टिप्पणियाँ

1. **अमिना प्र—** प्र + √ मीञ्-हिंसायाम् + श्ना विकरण, मध्यम पुरुष, एकवचन, लङ् लकार। यहाँ **'मीनातेर्निगमे'** (7.3.81) से धातु के 'ई', का ह्रस्व हुआ तथा **'छन्दसि परेऽपि'** सूत्र से उपसर्ग धातु के बाद आया।

2. **मायिनाम्— 'व्रीह्यादिभ्यश्च'** (5.2.116) से मतुप् के अर्थ में 'इनि' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। षष्ठी विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

3. **द्याम्— सायण-सातवलेकर** और **श्रीराम शर्मा आचार्य** ने इसका अर्थ 'आकाश' किया है। परन्तु **सातवलेकर** ने इसे द्वितीयान्त पद न मान कर सप्तम्यन्त पद माना है। तदनुसार अर्थ किया है 'इन्द्र ने आकाश में सूर्य और उषा को प्रकट किया'। जबकि **सायण** ने उसे द्वितीयान्त ही माना है और अर्थ किया है 'इन्द्र ने सूर्य' आकाश और उषा को प्रकट किया। **स्वामी दयानन्द** और **वेलंकर** ने 'द्याम्' का अर्थ 'दिन' किया है। अबकि **अन्य सभी विद्वानों** ने इसका अर्थ 'स्वर्ग' किया।

परन्तु मन्त्र में प्रसङ्ग को देखते हुए 'द्याम्' का 'स्वर्गलोक' अर्थ करना अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि इन्द्र द्वारा उस मेघ को नष्ट किए जाने का उल्लेख है जो सूर्य और उषा के प्रकाश को ढके हुए था तथा आकाश को आवृत्त किए हुए था। उसके हटते ही ये तीनों प्रकट हो गए। द्युलोक का मेघ द्वारा आच्छादित किया जाना सम्भव नहीं है।

4. **तादीला— तदानीम् के अर्थ में यह तदीत्न का तृतीया विभक्ति एक वचन का रूप हो सकता है** जहाँ प्रथम अक्षर दीर्घ कर दिया गया। परन्तु **स्वामी दयानन्द** के अनुसार यहाँ **पृषादरादीनि यथोपदिष्टम्** (6.3.109) से वर्ण विपर्यय हो कर 'आ' के स्थान पर 'ई' का आगम हो गया और पुनः 'ई' के स्थान पर 'आ' और 'तुट्' का आगम होकर पूर्व वर्ण दीर्घ हो गया।

5. **मायिनाम् मायाः—** वेद में माया शब्द का प्रयोग अच्छे और बुरे दोनों ही अर्थों में हुआ है। देवताओं के पक्ष में इसका प्रयोग उत्तम अर्थ में है जैसे-**'इन्द्रो मायाभिः पुरूप ईयते'** (ऋग्वेद 6.47.18) परन्तु असुरों के सन्दर्भ में इसका हीन अर्थ में प्रयोग हुआ है जैसे **'मायिनं शुष्णमवातिरः'**। प्रस्तुत मन्त्र में वृत्र के सम्बन्ध में इसका प्रयोग छल-कपट के अर्थ में ही हुआ है।

6. **विवित्से—** √ विदलृ लाभे। यह परस्मैपद धातु है परन्तु **'व्यत्ययो बहुलम्'** (3.1.85) से परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपत् का प्रयोग हुआ। लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन।

स्कन्द स्वामी के अनुसार इसका अर्थ है कि जैसा मायावत्सहाय अथवा महापरिमाण वह वृत्र था वैसा अन्य कोई नहीं मिला।

वेंकट माधव— 'तुम्हारे वध से बचा हुआ कोई शत्रु नहीं मिला।'

वेलंकर—'उस समय एक भी ऐसा प्रतिद्वन्द्वी तुम्हें नहीं मिला जो सचमुच तुम्हें मार सके।'

7. किला—'निपातस्य च' (6.3.136) सूत्र से संहितापाठ में यह दीर्घ हो गया।

8. प्रथमजाम्— दृष्टव्य मन्त्र 3।

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाऽहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः।। 5।।

अहन्। वृत्रम्। वृत्रऽतरम्। विऽअंसम्। इन्द्रः। वज्रेण। महता। वधेन।
स्कन्धांसिऽइव। कुलिशेन। विऽवृक्णा। अहिः। शयते। उपऽपृक्। पृथिव्याः।

अन्वय— वृत्रतरं वृत्रं व्यंसम् इन्द्रः महता वधेन वज्रेण अहन्। कुलिशेन विवृक्णा स्कन्धांसि इव अहिः पृथिव्याः उपपृक् आशयत।

सरलार्थ— अत्यधिक आवृत्त करने वाले (वृत्रतरं) वृत्र को (वृत्रम्) कंधा छिन्न करके (व्यंसम्) इन्द्र ने (इन्द्रः) महान् (महता) अस्त्र (वधेन) वज्र से (वज्रेण) मार दिया (अहन्)। कुठार से (कुलिशेन) छिन्न-भिन्न की गई (विवृक्णा) शाखाओं वाले (स्कन्धांसि) (वृक्ष के) समान (इव) वह अहि (अहिः) पृथ्वी की (पृथिव्याः) समीपता से युक्त होकर (उपपृक्) सो रहा है अर्थात् पड़ा है (आ शयत)।

सायण भाष्य— अयमिन्द्रो वज्रेण सम्पादितो यो महान् वधस्तेन वज्रेण वृत्रतरमतिशयेन लोकानामावारकमन्धकाररूपम्। यद्वा। वृत्रैरावरणैः सर्वाञ्छत्रूंस्तरति तम्वृत्रमेतन्नामकमसुरं व्यंसं विगतांसं छिन्नबाहुर्यथा भवति तथाहन्। हतवान्। अंसच्छेदे दृष्टान्तः। कुलिशेन कुठारेण विवृक्णा विशेषतश्छिन्नानि स्कन्धांसीव। यथा वृक्षस्कन्धाश्छिन्ना भवन्ति तद्वत्। तथा सत्यहिर्वृत्रः पृथिव्या उपपृक् सामीप्येन सम्पृक्तः शयते। शयनं करोति। छिन्नकाष्ठवद्भूमौ पततीत्यर्थः।। वृत्रतरम्। वृतु वर्तने। स्फायितञ्चीत्यादिना भावे रक्प्रत्ययान्तो वृत्रशब्दः। वृत्रेणावरणेन सर्वं तरतीति वृत्रतरः। तरतेः पचाद्यच्। परादिश्छन्दसि बहुलमित्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। तरति तु व्यत्ययेन। व्यंसम्। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व उदात्तस्वरितयोर्यण इति स्वरितत्वम्। वधेन। हनश्च वध इति भावेऽप्। तत्संनियोगेन धातोर्वधादेशः। स चान्तोदात्तः। अन्त्यस्याकारस्यातो लोप इति लोप उदात्तनिवृत्तिस्वरेण प्रत्ययस्योदात्तत्वम्।। विवृक्णा ओव्रश्चू छेदने। कर्मणि निष्ठा। तस्य विभाषेतीट्प्रतिषेधः। ओदितश्च। पा. 8.2.45।

इति परत्वान्निष्ठानत्वम्। ततो व्रश्चभ्रस्जेति षत्वे प्राप्ते निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः। पा. 8.2.67। इति नत्वस्य सिद्धत्वेन झल्परत्वाभावात् षत्वं न भवति। कुत्वे तु कर्तव्ये तदसिद्धमेव। पा. 8.2.1। इति चोः कुरिति कुत्वम्। शेश्छन्दसि बहुलमिति शेर्लोपः। गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। शयते। बहुलं छन्दसीति शपो लुगभावः। पृथिव्याः। उदात्तयणो हल्पूर्वादिति विभक्तेरुदात्तत्वम्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि वृत्र और अहि पर्यायवाची है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वृत्र कोई आवरक शक्ति है (विस्तृत जानकारी के लिए देखें इन्द्र देवता की टिप्पणी)। इन्द्र ने अपने शक्तिशाली अस्त्र वज्र से वृत्र का वध कर दिया। छिन्न-भिन्न कंधों वाला होकर वह भूमि पर उसी प्रकार गिर पड़ा जिस प्रकार कुल्हाड़ी से काटी गई शाखाओं वाला वृक्ष पृथ्वी पर गिर पड़ता है।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि इन्द्र के समान राजा भी राज्य के सभी शत्रुओं को नष्ट करके सर्वत्र सुख शान्ति का वातावरण व्याप्त करे।

आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र मन है। सुप्रवृत्ति और कुप्रवृत्तियों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। यही देवासुर संग्राम है। परन्तु मन अपनी दृढ़ सङ्कल्पशक्ति से पापवृत्तियों का पूर्ण रूप से नाश कर सकता है।

टिप्पणियाँ

1. **वृत्रतरं वृत्रम्**— इन्द्र वृत्र युद्ध वैदिक युग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। परन्तु यह वृत्र कौन है, इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। निरुक्त में वृत्र की उत्पत्ति इस प्रकार दी गई है **'वृत्रो वृणोतेर्वा वर्तते वा वर्धते वा '**(निरुक्त 2.17) शतपथ ब्राह्मण 1.1.33 में भी कहा गया है **'वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स इदं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम।'**

सायण ने वृत्र के तीन अर्थ दिए हैं— (i) लोकों को अत्यधिक आवृत करने वाला अंधकार रूप वृत्र (ii) वृत्र नामक असुर (iii) आवरण कार्यों में सब शत्रुओं का अतिक्रमण करने वाला।

नैरुक्तों के अनुसार वृत्र मेघ है 'मेघ इति नैरुक्ताः'।

स्कन्दस्वामी ने वृत्र को गत्यर्थक √ वृत् धातु से व्युत्पन्न मान कर इसका अर्थ 'अत्यधिक गतिशील' किया है।

वेलंकर ने अर्थ किया—'अधिक जोश के साथ विरोध करने वाले।'

सातवलेकर— 'बड़े घेरने वाले'।

ग्रिफिथ— 'वृत्रों में सबसे बुरा'।

गेल्डनर— 'महत्तर शत्रु'।

2. **व्यंसम्**— सायण ने अर्थ किया 'विगतांसं छिन्नबाहुर्यथा भवति तथाहन् अर्थात् इन्द्र ने वृत्र को ऐसे मारा जिससे कि उसकी भुजा और कन्धा छिन्न हो गया।

स्कन्दस्वामी और बेंकटमाधव ने 'व्यंस' किसी अन्य राक्षस का नाम भी माना है।

पीटर्सन ने भी 'व्यंस' को व्यक्तिवाचक संज्ञा ही माना है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद कुल छः बार आया है और शेष पाँच स्थानों पर भी यह व्यक्तिवाचक संज्ञा ही है। उनके अनुसार 'व्यंस्' का अर्थ स्कन्धहीन नहीं हो सकता क्योंकि 'वि' उपसर्ग वेद में विगत के अर्थ में प्रयुक्त होना संदेहास्पद है। अतः 'व्यंस्' का अर्थ 'विकृत' अथवा 'असंगत कन्धों वाला' ही हो सकता है।

परन्तु अगली दो पंक्तियों में दी गई उपमा से कि 'शाखा कटे हुए वृक्ष के समान वह पृथ्वी पर गिर पड़ा' छिन्न कन्धे वाला अथवा छिन्न भुजाओं वाला अर्थ ही अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है।

3. **उपपृक्**— उप + √ पृचि-सम्पर्के + क्विप्।

4. **महता वधेन वज्रेण— सायण** ने इस का अर्थ किया है कि वज्र द्वारा सम्पादित जो महान् वध है उस वज्र से वृत्रतर को मारा।

स्कन्दस्वामी ने दो अर्थ किए हैं (i) नित्य हनन करने वाले वज्र से (ii) वज्र द्वारा सम्पादित महान् प्रहार से।

वेंकटमाधव ने अर्थ किया है— 'महान् हननकारी वज्र नामक आयुध से'।

वेलंकर— वज्र नामक अस्त्र से।

सातवलेकर— बड़े घातक (वधेन) शस्त्र से।

ग्रिफिथ— महान् और घातक वज्र द्वारा।

5. **विवृक्णा**— वि + √ ओव्रश्चू-छेदने + क्त, **प्रथमा द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, नपुसंकलिङ्ग। यहाँ 'यस्य विभाषा'** (7.2.15) सूत्र से इट् निषेध हुआ। **'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च'** (6.1.16) से सम्प्रसारण हुआ तथा **'ओदितश्च'** (8.2.45) से प्रत्यय के 'त्' को 'न्' हो गया।

'**व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छषां षः**' (8.2.36) से षत्व हुआ परन्तु '**षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धौ वक्तव्यः**' इस वार्तिक से निषेध हो गया '**चोः कुः**' (8.2.30) से ध् का क् हुआ क्योंकि '**चोः कुः**' की दृष्टि में नत्व कार्य असिद्ध है। '**शेश्छन्दसि बहुलम्**' से 'शि' का लोप हुआ तथा विवृक्णानि के स्थान पर विवृक्णा रूप बना। '**ऋकाराच्चेति वक्तव्यम्**' वार्तिक से णत्व हुआ।

6. **शयते**— √ शीङ् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन, आत्मनेपद। यहाँ 'शेते' रूप बनना चाहिए था क्योंकि '**अदिप्रभृतिभ्यः शप्**' से शप् का लोप हो जाना चाहिए परन्तु '**बहुलं छन्दसि**' से 'शप्' लोप नहीं हुआ।

प्रस्तुत मन्त्र से यन्त्रमातृका कला का प्रचलित होना प्रमाणित होता है।

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः।। 6।।

अयोद्धाऽइव। दुःऽमर्दः। आ।। हि। जुह्वे। महाऽवीरम्। तुविऽबाधम्। ऋजीषम्। न। अतारीत्। अस्य। सम्ऽऋतिम्। वधानाम्। सम्। रुजानाः। पिपिष। इन्द्रऽशत्रुः।

अन्वय— दुर्मदः अयोद्धेव महावीरम् तुविबाधम् ऋजीषम् आ जुह्वे। इन्द्रशत्रुः अस्य वधानाम् समृतिम् न अतारीत् रुजानाः सं पिपिषे।

सरलार्थ— झूठा घमण्ड करने वाले (दुर्मदः) (वृत्र ने) अकुशल योद्धा के समान (अयोद्धेव) महापराक्रमी (महावीरम्) अनेक शत्रुओं में उथल-पुथल मचा देने वाले (तुविबाधम्) (तथा) शत्रुओं को भगा देने वाले (ऋजीषम्) (इन्द्र को) ललकारा (आ जुह्वे) (वह) इन्द्रशत्रु (इन्द्रशत्रुः) अर्थात् वृत्र इन्द्र के (अस्य) प्रहारों की (वधानाम्) संगति का (समृतिम्) मुकाबला नहीं कर सका (न अतरीत्) और (गिरते हुए) उसने नदियों के तटों को (रुजानाः) कुचल डाला (संपिपिषे)।

सायण भाष्य— दुर्मदो दुष्टमदोपेतो दर्पयुक्तो वृत्रोऽयोद्धेव योद्धृरहित इवेन्द्रमाजुह्वे हि। आहूतवान्खलु। कीदृशमिन्द्रम्। महावीरं गुणैर्महान्भूत्वा शौर्योपेतं तुविबाधं बहूनां बाधकम् ऋजीषम् शत्रूणामापार्जकम्। अस्येदृशस्येन्द्रस्य सम्बन्धिनो ये शत्रुवधाः सन्ति तेषां वधानां समृतिं संगमं नातारीत्। पूर्वोक्तो दुर्मदस्तरीतुं इन्द्रशत्रुरन्द्रिः शत्रुर्घातको यस्य वृत्रस्य तादृशो वृत्र इन्द्रेण हतो नदीषु पतितः सन् रुजाना नदीः संपिपिषे। सम्यक् पिष्टवान्। सर्वान् लोकानावृण्वतो वृत्रदेहस्य पातेन नदीनां कूलानि तत्रत्यपाषाणादिकं चूर्णीभूतमित्यर्थः।। अयोद्धा इव।

न विद्यते योद्धास्येति बहुव्रीहौ नञ्सुभ्यामित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्, समासान्त-विधेरनित्यत्वात्। परि. 84। नद्यृतश्च। पा. 4.5.153। इति कबभावः। जुह्वे। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च। अभ्यस्तस्य च। पा. 6.1.33। इति संप्रसारणम्। उवङादेशाभावाच्छान्दसः। यद्वा। छन्दस्युभयथेति सार्वधातुकसंज्ञायां हुश्नुवोः सार्वधातुके। पा. 6.4.87। इति यणादेशः। अत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा। परि. 105। लक्ष्यानुरोधान्नाश्रीयते। इतरथा ह्याजुह्वाव इत्यादिषु यणादेशो न स्यात्। न चैवं सति सातये हुवे वाम्। ऋग्वेद 6.60.13। इत्यादावपि तथा स्यादिति वाच्यम्। अनेकाच्त्वाभावात्। अनेकाच इति हि तत्रानुवर्तते। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। हि चेति निघातप्रतिषेधः। महावीरम्। महांश्चासौ वीरश्च महावीरः। आन्महतः। पा. 6.3.46। इत्यात्वम्। तुविबाधम्। बाधृ विलोडने। तुवीन्प्रभूतान्बाधत इति तुविबाधः। पचाद्यच्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। समृतिम् तादौ चेति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। रुजानाः। रुजो भङ्गे। रुजन्ति कूलानि। नि. 6.4। इति यास्कः। व्यत्ययेन शानच्। तुदादिभ्यः शः, नुमभावश्छान्दसः। अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरः। पिपिषे। पिष्लृ संचूर्णने। व्यत्ययेन लिट्। इन्द्रशत्रुः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि वृत्र को अपने पराक्रम तथा युद्धकौशल के विषय में महान् भ्रम था। इसी भ्रम से अभिभूत उसने इन्द्र को युद्ध के लिए ललकारा। यहाँ वृत्र के लिए प्रयुक्त 'दुर्मदः' और 'अयोद्धेव' विशेषण साभिप्राय हैं। मिथ्या अभिमान से युक्त वह अपने और इन्द्र के पराक्रम में उसी प्रकार अन्तर नहीं कर पाया जिस प्रकार एक पतंगा अपने और शमा के पराक्रम में अन्तर नहीं कर पाता। उससे जाकर टकरा जाता है और तुरन्त ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार वृत्र भी इन्द्र के शस्त्र प्रहार को सहन नहीं कर पाया। इन्द्र के द्वारा मारा गया वह विशालकाय इतने वेग से गिरा कि नदी के तट भी उसके गिरने से चूर-चूर हो गए।

आधिभौतिक पक्ष में इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र में दुष्ट व्यक्ति राष्ट्रविरोधी कार्य करने पर भी स्वयं को बहुत शूरवीर समझते हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे लोगों को दण्डित कर अनुशासित व मर्यादित बनाए। राजा शत्रुओं को मार कर राज्य को निष्कण्टक बनाए।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका संप्रेषित अर्थ यह है कि कुप्रवृत्तियाँ और सुप्रवृत्तियाँ निरन्तर युद्ध करती रहती हैं परन्तु यदि मनुष्य अपनी अपार और अतुलित शक्ति को पहचान कर उन दुष्प्रवृत्तियों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता तो वे तुरन्त ही नष्ट हो जाती हैं।

टिप्पणियाँ

1. **अयोद्धेव**— सायण ने इसका अर्थ '**युद्ध कौशल से रहित के समान** किया है न विद्यते योद्धा अस्य इति अयोद्धा।'

स्कन्दस्वामी और वेंकटमाधव ने अर्थ किया है 'युद्ध करने में असमर्थ'।

वेलंकर— 'नामधारी योद्धा के समान' अर्थात् जो केवल नाम का ही योद्धा है।

सातवलेकर— 'अपने को अप्रतिम योद्धा समझने वाला'।

ग्रिफिथ— 'एक दुर्बल योद्धा के समान'।

सायण, वेलंकर और सातवलेकर आदि ने 'अयोद्धा' को बहुव्रीहि समास माना है जबकि स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, ग्रिफिथ इत्यादि ने इसे तत्पुरुष माना है। स्वरों के द्वारा इसका बहुव्रीहि अथवा तत्पुरुष होना निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि सामान्य रूप से बहुव्रीहि में पूर्व पद उदात्त होता है '**बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्**' (6.2.1) परन्तु '**नञ्सुभ्याम्** ' (6.2.172) से 'नञ्' अथवा 'सु' पूर्वपद वाले बहुव्रीहि अन्तोदात्त होते हैं। अतः 'अयोद्धा' के सन्दर्भ में स्वरों से इसका बहुव्रीहि अथवा तत्पुरुष होना निश्चित नहीं किया जा सकता। अतः प्रसङ्ग के आधार पर ही इसका निर्णय करना होगा। यहाँ इसे तत्पुरुष समास मानकर 'अकुशल योद्धा' अर्थ करना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

2. **आ जुह्वे**— आ + √ ह्वेञ्-स्पर्धायां शब्दे च, आत्मनेपद, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन। यहाँ '**आ जुह्वाव, रूप होना चाहिए था**' परन्तु '**अभ्यस्तस्य च**' (6.1.33) से सम्प्रसारण हुआ तथा '**वा छन्दसि**' (3.4.88) सूत्र से उवङ् आदेश नहीं हुआ। **अथवा छन्दस्युभयथा** (3.4.117) **से इसकी सार्वधातुक संज्ञा** हुई तथा '**हुश्नुवोः सार्वधातुके**' (6.4.87) से यण् आदेश हुआ। यहाँ '**व्यवहिताश्च**' सूत्र से धातु और उपसर्ग के बीच व्यवधान है।

3. **अतारीत्**— √ तृ-तरणे, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन।

4. **तुविबाधम्**— 'तुवि' शब्द 'बहु' के अर्थ में प्रयुक्त होता है तथा संख्या और परिमाण दोनों का बोध करवाता है। **अधिकांश विद्वानों ने इसे संख्यावाची मान कर इसका अर्थ 'बहुत' किया है। 'बाधम्'** शब्द बाधृ-विलोडने से निष्पन्न है तदनुसार कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'अनेक शत्रुओं में उथल-पुथल मचाने वाला' किया है।

5. ऋषीजम्— √ अर्ज् यहाँ उणादिसूत्र 'अजेर्ऋजु च' से अर्ज् धातु ईषन् प्रत्यय लगा तथा 'अर्ज्' के स्थान पर 'ऋज्' आदेश हुआ।

सायण ने अर्थ किया है 'शत्रुओं को भगा देने वाला'।

स्कन्दस्वामी— 'शत्रुओं के धनों का अर्जन करने वाला'।

वेलंकर– 'सीधा आक्रमण करने वाला'।

यास्क— 'वज्रधारी'

पीटर्सन— (पात्र के) तल तक अर्थात् पूरी तरह से सोम रस का पा कर लेने वाला। तुलनीय 'यत्सोमस्य पूयमानस्य अतिरिच्यते तत् ऋजीषम् (निरुक्त 5.12)।

वधानां समृतिम्— सम् + √ ऋ + क्तिन्। सायण ने अर्थ किया 'शत्रुओं के वध का संगम'।

स्कन्दस्वामी— 'प्रहारों की संगति'।

वेंकटमाधव— 'आयुधों की संगति'।

सातवलेकर— 'आघातों का सामना'।

रुजानाः— सायण ने इसे √ रुजो-भङ्गे से निष्पन्न माना है।

निघण्टु 1.13 में रुजानाः— नदी का पर्याय है। इस पर यास्क ने अपना भाष्य देते हुए लिखा है 'रुजाना नद्यो भवन्ति, रुजन्ति कूलानि इति रुजाना नद्यः' (निरुक्त 6.4) तदनुसार सायण ने अर्थ किया– टूटे हुए किनारों वाली नदियाँ।

स्कन्दस्वामी ने रुजानाः के तीन अर्थ किए— (i) गर्दन– जिसने अपनी गर्दन को इन्द्र के प्रहारों से चूर-चूर कर दिया (ii) दूसरा अर्थ नदी है। इस सन्दर्भ में वृत्र का अर्थ 'मेघ' है। तदनुसार अर्थ किया है कि 'मेघ ने नदियों को पीस दिया अर्थात् मेघ ने इतना अधिक जल बरसाया कि नदियों के तटों को नदियों में बहा दिया (ii) तीसरे अर्थ में उन्होंने संपिपेष को 'सम् + √ पिष्-गतौ से निष्पन्न मान कर 'वृत्र अर्थात् मेघ जल रूप में नदियों के प्रति गया' यह अर्थ किया है।

वेलंकर ने 'रुजानाः में रुजा + अनस् यह सन्धि मानकर अर्थ किया है नाकरहित'।

परन्तु अधिकांश विद्वानों ने रुजानाः का अर्थ 'टूटे हुए किनारों वाली नदियाँ ही किया है।

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमाऽस्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः।। 7।।

अपात्। अहस्तः। अपृतन्यत्। इन्द्रम्। आ। अस्य। वज्रम्। अधि। सानौ। जघान।
वृष्णः। वध्रिः। प्रतिऽमानम्। बुभूषन्। पुरुऽत्रा। वृत्रः। अशयत्। विऽअस्तः।

अन्वय— अपादहस्तः इन्द्रम् अपृतन्यत् अस्य अधि सानौ वज्रम् आ जघान। वृष्णोः प्रतिमानम् बुभूषन् वृत्रः वध्रिः व्यस्तः पुरुत्रा अशयत।

सरलार्थ— पैर तथा हाथ से रहित होते हुए (अपादहस्तः) (भी) (वृत्र ने) इन्द्र से (इन्द्रम्) युद्ध करना चाहा (अपृतन्यत्) (इन्द्र ने) इसके पर्वत सदृश विशाल कन्धे पर (अधि सानौ) वज्र से (वज्रम्) प्रहार किया (आ जघान)। उन्मत्त बैल की (वृष्णोः) समानता (प्रतिमानम्) प्राप्त करने की इच्छा वाला (बुभूषन्) (वह) वृत्र (वृत्रः) बधिया बैल की भाँति (वध्रिः) छिन्न-भिन्न अङ्ग वाला होकर (व्यस्तः) बहुत से स्थानों पर (पुरुत्रा) गिर पड़ा (अशयत्)।

सायण भाष्य— अपाद्वज्रेण च्छिन्नत्वात्पादरहितः अहस्तो हस्तरहितो वृत्र इन्द्रमुद्दिश्य पृतन्यत्। पृतनां युद्धमैच्छत्। द्वेषधिक्येन बहुधा विद्धोऽपि युद्धं न परित्यक्तवानित्यर्थः। अस्य हस्तपादहीनस्य वृत्रस्य सानौ पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धेऽध्युपरि वज्रमाजघान। इन्द्र अभिमुख्येन प्रक्षिप्तवान्। अशक्तस्यापि युद्धेच्छायां दृष्टान्तः। वध्रिश्छिन्नमुष्कः पुरुषो वृष्णो रेतःसेचनसमर्थस्य पुरुषान्तरस्य प्रतिमानं सादृश्यं बुभूषन् प्राप्तुमिच्छन् यथा न शक्नोति तद्वदयमिति शेषः। स वृत्रः पुरुत्रा बहुष्ववयवेषु व्यस्तो विविधं क्षिप्तस्ताडितः सन् अशयत्। भूमौ पतितवान्।। अपात्। बहुव्रीहौ पादशब्दस्यान्त्यलोपश्छान्दसः। अहस्तः बहुव्रीहौ नञ्सुभ्यामित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। अपृतन्यत्। सुप आत्मनः क्यच्। कव्यध्वरपृतनस्येत्यन्त्यलोपः। बुभूषन्। सनिग्रहगुहोश्च। पा. 7.2.12। इतीट्प्रतिषेधः। पुरुत्रा। देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्। पा. 5.4.56। इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः। अशयत्। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। बहुलं छन्दसीति शपो लुगभावः। व्यस्तः। असु क्षेपण इत्यस्मात्कर्मणि क्तः। यस्य विभाषेतीट्प्रतिषेधः। गतिरनन्तर इति गतेःप्रकृतिस्वरत्वम्। संहितायामुदात्तस्वरितयोर्यण इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि हाथ-पैर न होने पर भी वृत्र ने इन्द्र से युद्ध करने का दुस्साहस किया। द्वेषाधिक्य के कारण वृत्र ने बहुधा विद्ध होने पर भी युद्ध नहीं छोड़ा। उसका यह कार्य उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण एवं हास्यास्पद था जिस प्रकार कोई नपुंसक बैल पुरुषत्व से युक्त वृषभ की

बराबरी करना चाहे। परणिामतः वृत्र के शरीर के अङ्ग क्षत बिक्षत हो गए और बहुत से स्थानों पर गिर पड़े।

आधिभौतिक पक्ष में इसका संप्रेषित अर्थ यह है कि दुष्ट व्यक्ति स्वयं को अत्यन्त शक्तिशाली समझते हैं परन्तु दुष्कर्मों में व्यापृत होने के कारण अत्यन्त भीरु और कायर होते हैं। हाथ पैर से रहित के समान न तो वे कुछ कर पाते हैं और न ही चल पाते हैं। यदि राजा शक्तिशाली हो तो उनका पूर्ण विध्वंस निश्चित है। यदि वह दुष्टों का निग्रह नहीं कर पाता तो वह राजपद के योग्य ही नहीं है। रघुवंश में स्पष्ट कहा गया है '**क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः**' (रघुवंश)।

आध्यात्मिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ है कि मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियाँ अत्यधिक दुर्बल होती हैं। कुछ भी कर पाने में असमर्थ होती हैं जब कि मनुष्य का मन अतुलित शक्तियुत होने के कारण कुछ भी कर पाने में समर्थ है। यदि मनुष्य को मन की शक्ति का ज्ञान हो जाता है तो कुप्रवृत्तियाँ उसे प्रभावित नहीं कर पातीं।

टिप्पणियाँ

1. **अपात्**— 'पादेन रहितः' अथवा 'नास्ति पादः अस्य इति'। नञ् + पात् + क्विप् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग।

2. **अपृतन्यत्**— पृतना शब्द '**सुप आत्मनः क्यच्**' (3.1.8) से 'क्यच्' प्रत्यय लगाने से नामधातु बनी तथा पुनः '**कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः**' (7.4.39) से 'पृतना' के 'आ' का लोप हो गया तथा लङ्लकार, प्रथम पुरुष एकवचन में 'अपृतन्यत्' रूप सिद्ध हुआ।

3. **सानौ— सायण** ने इस का अर्थ '**पर्वत** की चोटी के समान प्रौढ़ कन्धे पर' किया है। **स्कन्दस्वामी** ने 'उन्नत स्थान पर' अर्थ किया है तो **वेलंकर** और **सातवलेकर** ने '**सिर पर**' अर्थ किया है। **ग्रिफिथ** ने 'कन्धों के बीच में' अर्थ किया।

4. **वृष्णोः वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्— सायण** ने अर्थ किया है कि '**सन्तानोत्पत्ति में समर्थ साँड की बराबरी यदि कोई नपुंसक बैल करना चाहे तो जिस प्रकार वह बैल असफल हो जाता है उसी प्रकार वृत्र ने भी इन्द्र की बराबरी करनी चाही परन्तु वह टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ा।**

स्कन्दस्वामी ने दो अर्थ किए हैं— (i) यह अर्थ सायण के समान ही है। (ii) वर्षा करने वाले इन्द्र के लिए वध्य होने पर भी।

सातवलेकर— वीर्यहीन मनुष्य के बलशाली वीर के साथ सामना करने के समान।

श्रीराम शर्मा— 'वर्षा करने में समर्थ इन्द्र के सामने डटा रहा'।

वृत्र— इसकी व्याख्या के लिए इन्द्र देवता पर टिप्पणी तथा मंत्र 5 देखिए।

पुरुत्रा— सायण ने अर्थ किया 'अपने अनेक अङ्गों में' अर्थात् विविध रूप से ताड़ित होकर।

स्कन्दस्वामी ने दो अर्थ किए (i) अनेक प्रकार से अपनी रक्षा करने में तत्पर (ii) वह वृत्र अर्थात् मेघ, नदी, तड़ाग आदि बहुत से स्थानों पर जल रूप में जा गिरा'।

7. **व्यस्त**— वि + √ असु-क्षेपणे + क्त **'यस्य विभाषा'** (7.2.15) से इट् निषेध हुआ, प्रथमा विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग।

8. **अशयत्**— √ शी + लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

यहाँ **'व्यत्ययो बहुलम्'** (3.1.85) से आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग हुआ तथा **'बहुलं छन्दसि'** (2.4.73) से शप् का लोप नहीं हुआ।

9. **आ जघान**— आ + √ हन् + लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन।

'व्यवहिताश्च' सूत्र से उपसर्ग और धातु के बीच व्यवधान है।

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतः शीर्बभूव।। 8।।

नदम्। नः भिन्नम्। अमुया। शयानम्। मनः। रुहाणाः। अति। यन्ति। आपः। याः। चित्। वृत्रः। महिना। परिऽअतिष्ठत्। तासाम्। अहिः। पत्सुतःऽशीः। बभूव।

अन्वय— अमुया शयानम् आपः भिन्नम् नदं न मनः रुहाणा अति यन्ति। याः वृत्रः महिना पर्यतिष्ठत् तासाम् पत्सुतः अहिः शीः बभूव।

सरलार्थ— इस पृथ्वी पर (अमुया) मृत पड़े हुए (शयानम्) (वृत्र से) जल (आपः) टूटे हुए तटों वाली (भिन्नम्) नदी के (नदम्) समान (न) मन रूपी रथ पर सवार होकर (मनो रुहाणाः) दूर तक चले गए (अति यन्ति) जिन्हें (याः) वृत्र ने (वृत्रः) अपनी महिमा से (महिना) रोके हुए था (पर्यतिष्ठत्)

उन्हीं (तासाम्) (जलों के) पैरों के नीचे (पत्सुतः) (अब वह) सर्प (अहिः) पड़ा हुआ है (शीः बभूव)।

सायण भाष्य— अमुयामुष्यां पृथिव्यां शयानं पतितं मृतं वृत्रमापो जलान्यति यन्ति। अतिक्रम्य गच्छन्ति। तत्र दृष्टान्तः। भिन्नं बहुधा भिन्नकूलं नदं न सिन्धुमिव। यथा वृष्टिकाले प्रभूता आपो नद्यः भित्त्वातिक्रम्य गच्छन्ति तद्वत्। कीदृश्य आपः। मनो रुहाणाः। नृणां चित्तमारोहन्त्यः। पुरा वृत्रे जीवति सति तेन निरुद्धा मेघस्थिता आपो भूमौ वृष्टा न भवन्ति। तदानीं नृणा मनः खिद्यते। मृते तु वृत्रे निरोध रहिता आपो वृत्रशरीरमुल्लङ्घ्य प्रवहन्ति। तदा वृष्टिलाभेन तु मनुष्यास्तुष्यन्तीत्यर्थः। तदेतदुत्तरार्धेन स्पष्टीक्रियते। वृत्रो जीवनदशायां महिना स्वकीयेन महिम्ना याश्चिद्या एव मेघगता अपः पर्यतिष्ठत् परिवृत्य स्थितवान् अहिर्वृत्रो मेघस्तासामपां पत्सुतःशीः पादस्याधः शयानो बभूव। यद्यप्यपां पादो नास्ति तथाप्यद्भिर्वृत्रस्याभिर्लंघितत्वात्पादस्याधः शयनमुपपद्यते। भिन्नम्। रदाभ्यां निष्ठातो नः। पा. 8.2.42। इति नत्वम्। अमुया। सुपां सुलुगिति सप्तम्या याजादेशः। शयानम्। शीङः सार्वधातुके गुणः। पा. 7.4. 21। धातोर्ङित्त्वाल्ल सार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। रुहाणाः। रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे। व्यत्ययेन शानच्। कर्तरि शपि प्राप्ते व्यत्ययेन शः। अनित्यमागमशासनमिति वचनान्मुगभावः। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरे प्राप्ते व्यत्ययेन धातुस्वरः। महिना मह पूजायाम्। इन्सर्वधातुभ्यः। उ. 4.117। इतीन्प्रत्ययः। व्यत्ययेन विभक्तेरुदात्तत्वम्। यद्वा महिना महिम्ना। महच्छब्दस्य पृथ्वादिषु पाठात्तस्य भाव इत्येतस्मिन्नर्थे पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा। पा. 5.1.122। इतीमनिच्प्रत्ययः। टेरिति टिलोपः। चित इत्यन्तोदात्तत्वम्। तृतीयैकवचनेऽल्लोपे सत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्योदात्तत्वम्। मकारलोपश्छान्दसः। पत्सुतःशीः। पदस्याधः शेत इति पत्सुतःशीः। क्विप् चेति क्विप्। तसि पद्दन्नित्यादिना पादशब्दस्य पदादेशः। शस्त्रप्रभृतिष्विति प्रभृतिशब्दः प्रकारवचन इति शला दोषणीत्यत्रापि दोषन्नादेशे भवति। का. 6.1.63। इत्युक्तत्वात्। मध्ये सु इति शब्दोपजनश्छान्दसः। यद्वा पादशब्दस्य सप्तमीबहुवचने पदादेशे कृत इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा. 5.3.14। इति सप्तम्यर्थे तसिल्। लुगभावश्छान्दसः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब इन्द्र के द्वारा वृत्र चूर-चूर कर दिया गया तब उसके बन्धन से मुक्त हुए जल स्वेच्छापूर्वक तीव्र गति से प्रवाहित होने लगे। तीव्र गति से प्रवाहित होते हुए जल ऐसे प्रतीत होते थे मानो वे मन रूपी रथ पर सवार हों। मन सबसे अधिक वेगवान कहा गया है—

'न वै वातात्किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति'।

जिस प्रकार नदी तट के टूट जाने पर जल सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं उसी प्रकार वृत्र के द्वारा अवरुद्ध जल भी उसके मारे जाने पर उसके मृत शरीर के ऊपर से बहने लगे और मृत्यु को प्राप्त हुआ वह वृत्र उन जलों के नीचे पड़ा रहा।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अभिप्राय है कि अनुशासनहीनता, अराजकता, उच्छ्रृंखलता, उद्दण्डता व्याप्त करने वाले दुष्ट सर्वत्र भय और आतंक उत्पन्न करते हैं जिससे सज्जनों का मन अत्यधिक दुःखी होता है। यदि राजा शक्तिशाली, न्यायप्रिय और राजधर्म का पालन करने वाला है और सब अपराधियों को यथापराध दण्ड देने वाला है तो सर्वत्र सुख-शान्ति और सौहार्द व्याप्त होता है।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि दुर्भावनाएँ मनुष्य के मन को अपने वश में किए रहती हैं परन्तु मन के प्रबल होने पर दुर्भावनाएँ स्वयं ही नष्ट हो जाती हैं। निर्बल मन पर ही उनका आधिपत्य रहता है। गीता में भी कहा गया है —

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

टिप्पणियाँ

1. नदं न भिन्नम्— **सायण** ने अर्थ किया है 'भिन्नं बहुधा भिन्नकूलम् नदं न सिन्धुमिव। 'न' शब्द का प्रयोग 'इव' के अर्थ में है। तदनुसार अर्थ है 'जिस प्रकार वर्षा काल में बढ़े हुए जल नदी तट को तोड़कर निकलते हैं उसी प्रकार जल पृथ्वी पर पड़े हुए वृत्र का अतिक्रमण करके प्रवाहित होने लगे। **स्कन्दस्वामी** ने भी यही अर्थ किया है। **वेलंकर** ने 'नदम्' का अर्थ नाद करके आह्वान देने वाला या गर्जना करने वाला किया है तथा '**भिन्नम्**' का अर्थ 'युद्ध में बाणों से विदीर्ण' किया है। **पीटर्सन** ने 'नदम्' का अर्थ गरजता हुआ सांड अथवा घोड़ा किया है।

2. अमुया शयानम्— उस पृथ्वी पर गिरा हुआ अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुआ'। अमुया में '**सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः**' सूत्र से '**याच्**' का आदेश हुआ और '**अमुष्याम्**' के स्थान पर '**अमुया**' रूप बना।

पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ किया 'इस बुरे ढंग से अर्थात् वस्त्रहीन

होकर नग्नावस्था में पड़ा हुआ था।

शयानम् में √ शीङ्-स्वप्ने + शानच् + द्वितीया विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग है। **'सार्वधातुकमपित्'** (1.2.4) से ङित् माने जाने के कारण गुण वृद्धि नहीं होनी चाहिए परन्तु **'शीङः सार्वधातुके गुणः'** (7.4.21) से इसमें आदि गुण हो गया।

3. **मनो रुहाणाः— सायण** ने अर्थ किया 'मनुष्यों के मन पर आरूढ़ होते हुए' अर्थात् 'मनुष्यों के चित्त को प्रसन्न करते हुए'। **सायण के अनुसार** पहले वृत्र के जीवित रहने पर उसके द्वारा अवरुद्ध मेघस्थित जल पृथ्वी पर नहीं बरस पाते थे। इससे मनुष्यों का मन दुःखी होता था परन्तु वृत्र के मर जाने पर वे अवरुद्ध जल वृत्र के शरीर को लाँघ कर प्रवाहित हो गए और तब मनुष्यों का मन प्रसन्न हो गया।

स्कन्दस्वामी व श्रीराम शर्मा ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

प्रो. योगी ने अर्थ किया 'न बरसने के कारण जो जल मनुष्यों के मन पर भारस्वरूप होकर स्थित थे।'

प्रो. राथ— 'अपनी इच्छाओं पर प्रभुत्व रखते हुए'।

प्रो. ओल्डेनबर्ग— 'मानवमात्र के लिए प्रवाहित होते हुए'।

अन्य सभी पाश्चात्य विद्वान् 'धैर्य धारण करते हुए'।

रुहाणा— √ रुह्-बीजजन्मनि प्रादुर्भावे + शानच्, प्रथमा विभक्ति, बहु वचन पुल्लिङ्ग। वेद में व्यत्यय से 'शतृ' के स्थान पर 'शानच्' आया तथा 'शप्' के स्थान पर 'श' विकरण आया।

4. **महिम्ना**— √ मह्-पूजायाम् + इमनिच् प्रत्यय, तृतीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। 'महत्' शब्द के पृथ्वादि सूची में होने के कारण **'पृथ्वादिभ्य इमनिच्'** (5.1.122) से 'इमनिच्' प्रत्यय आया।

5. **पत्सुतःशी**— पाद् शब्द का सप्तमी बहुवचन में पत्सु रूप बना तत्पश्चात् **'इतराभ्योऽपि दृश्यते'** (5.3.14) से सप्तम्यर्थ में 'तसिल्' का आदेश हुआ।

इस पद का अर्थ है 'पैरों के नीचे सोने वाला' परन्तु जल के तो पैर नहीं होते अतः जलों द्वारा वृत्र को लाँघकर चले जाना ही वृत्र का जलों के पैरों तले सोना है।

नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वर्धर्जभार।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् दानुः शये सहवत्सा न धेनुः।। 9।।
नीचाऽवयाः। अभुवत्। वृत्रऽपुत्रा। इन्द्रः। अस्याः। अव। वधः। जभार।
उत्ऽतरा। सूः। अधरः। पुत्रः। आसीत्। दानुः। शये। सहऽवत्सा। न। धेनुः।

अन्वय— वृत्रपुत्रा नीचावया अभवत्। इन्द्रः वधः अस्या अवजभार। सूः उत्तरा पुत्रः अधरः आसीत् दानुः सहवत्सा धेनुः न शये।

सरलार्थ— वृत्र की माता (वृत्रपुत्रा) निम्न तथा अधोगति को प्राप्त हो गई (नीचावया अभवत्) इन्द्र ने (इन्द्रः) वध के समान (वधः) (वज्र से) इस पर (अस्या) प्रहार किया (अवजभार)। माता (सूः) ऊपर थी (उत्तरा) और पुत्र (पुत्रः) नीचे (अधरः) था (आसीत्) दानु (दानुः) बछड़े के साथ (सहवत्सा) गाय के (धेनुः) समान (न) सोई थी अर्थात् मृत पड़ी थी (शये)।

सायण भाष्य— वृत्रपुत्रा वृत्रः पुत्रो यस्या मातुः सेयं माता वृत्रपुत्रा नीचावया न्यग्भावं प्राप्ता हताऽभवत्। पुत्रं प्रहाराद्रक्षितुं पुत्रदेहस्योपरि तिरश्ची पतितवतीत्यर्थः। तदानीमयमिन्द्रोऽस्या मातुरेवाधोभागे वृत्रस्योपरि वधो हननसाधनमायुधं जभार। प्रहृतवान्। तदानीं सूर्मातोत्तरोपरि स्थितासीत्। पुत्रस्त्वधोभागस्थित आसीत्। सा च दानुर्दानवी वृत्रमाता शये। मृता शयनं कृतवती। तत्र दृष्टान्तः। धेनुर्लोकप्रसिद्धा गौः सहवत्सा न। यथा वत्ससहिता शयनं करोति तद्वत्।। नीचावयाः। वेति खादतीति वयो बाहुः। औणादिकोऽसिच्प्रत्ययः। न्यञ्चो वयसो यस्याः सा नीचावयाः। न्यच्शब्दादुत्तरस्या विभक्तेः सुपां सुपो भवन्ततीति तृतीयैकवचनादेशः। अच इत्यकारलोपे चाविति दीर्घत्वम्। अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम्। पा. 6.1.170। इति तस्योदात्तत्वम्। समासे लुगभावश्छान्दसः बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा नीचौ निकृष्टौ वयसौ यस्याः सा। पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः। वधः। हन्यतेऽनेनेति वधः। असुनि हन्तेर्वधादेशः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। जभार। हृग्रभोर्भ इति भत्वम्। सूः। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। सूते गर्भं विमुञ्चतीति सूर्माता। क्विप्चेति क्विप्। दो अवखण्डने। दाभाभ्यां नुः। उ. 3.32। शये। लटि 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' पा. 7.1.41। इति तलोपः। शीङः सार्वधातुक इति गुणेऽयादेशः।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि दानु वृत्र की माता थी। इन्द्र ने जब वृत्र पर प्रहार किया तब अपने पुत्र की रक्षा के लिए वह दौड़ी चली आई परन्तु इन्द्र ने अपने घातक वज्र से उस पर भी प्रहार किया। परिणामतः दानु के अङ्ग भी क्षत विक्षत हो गए और वह भी मृत्यु को प्राप्त हो गई। वृत्र को इन्द्र

के प्रहार से बचाने की इच्छा से दानु ने वृत्र को अपने शरीर से ढक लिया परन्तु इन्द्र के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करवाई गई वह अपने पुत्र सहित पृथ्वी पर गिर पड़ी। पुत्र का शरीर नीचे था और उसको संरक्षण देने वाला माता का शरीर ऊपर था। पुत्र के साथ लेटी हुई दानु उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी जिस प्रकार कोई गाय अपने बछड़े के साथ सो रही हो।

आधिभौतिक पक्ष में इस मन्त्र का संप्रेषित अर्थ यह है कि समाज के दुष्ट व्यक्ति सज्जनों के स्वच्छन्दतापूर्ण उन्मुक्त विचरण को अपने आतंक और भय से निरुद्ध करते हैं परन्तु राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह इनकी माता अर्थात् मूल कारण को ही नष्ट कर दे। दुष्टों का निग्रह निस्सन्देह श्रेष्ठ है परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। यदि राष्ट्र धनविहीन और समृद्धिरहित है तब भी पापकर्म बढ़ते हैं **'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'**। राजा प्रजा का वास्तविक पिता है। अतः उसे समाजविरोधी तत्त्वों का समूल नाश करके प्रजा को सुखसमृद्ध एवं धनधान्यपूर्ण बनाना चाहिए।

आध्यात्मिक पक्ष में अभिप्राय यह है कि मन दुर्भावनाओं को अपने वश में करना तो चाहता है परन्तु अत्यधिक चञ्चल होने के कारण बार-बार उन्हीं की तरफ भागता है। रजो गुण और तमो गुण इन दुर्भावनाओं की माता है। अतः वे अपने पुत्र रूपी अविद्या, अविवेक, अतत्त्वदर्शन इत्यादि की रक्षा करना चाहते हैं परन्तु मन द्वारा इनको जीतने का सङ्कल्प कर लेने पर पुत्र और माता रूपी दुर्भावनाएँ और उनको पुष्ट करने वाले रजोगुण और तमो गुण भी नष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणियाँ

1. **वृत्रपुत्रा**— 'वृत्रः पुत्रो यस्याः मातुः सेयं माता वृत्रपुत्रा' अर्थात् वृत्र है पुत्र जिसका ऐसी माता 'वृत्रपुत्रा' है।

2. **नीचावया— सायण** ने इस का समास विग्रह किया है **'नीचौ वयसौ यस्याः सा'** अथवा **'न्यञ्चो वयसो यस्याः सा' सायण** ने अर्थ किया है कि 'इन्द्र के प्रहार से वृत्र की रक्षा करने के लिए वह पुत्र के शरीर पर गिर पड़ी'।

स्कन्दस्वामी— 'जो अपनी भुजा नीचे लटका कर वृत्र की रक्षा कर रही थी' **'नीचा वयो यस्याः सा नीचावयाः प्रलम्बबाहुः अभवत्।'** उनके अनुसार वस्तुतः 'वया' का अर्थ शाखा है परन्तु यहाँ शाखा भुजा का वाचक है।

सातवलेकर, वेलंकर तथा ग्रिफिथ ने 'वया' का अर्थ 'शक्ति' किया है

अर्थात् जिसकी रक्षा करने की शक्ति कम हो गई थी।

3. **अवजभार**— अव + √ हृ + लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन यहाँ 'अवजहार' रूप बनना चाहिए था परन्तु वेद में '**हृग्रहोर्भश्छन्दसि**' सूत्र से 'हृ' के स्थान पर 'भ्' आदेश हो गया। और दूसरे '**व्यवहिताश्च**' सूत्र से धातु और उपसर्ग के बीच व्यवधान है।

4. **सूः**— यह √ षूङ्-प्राणिगर्भविमोचने से निष्पन्न है जिसका तात्पर्य है 'सूते गर्भं विमुञ्चतीति सूर्माता'। यहाँ '**क्विप् च**' (3.2.76) से '**क्विप्**' प्रत्यय आया।

5. **दानुः**— यह √ दो-अवखण्डने से निष्पन्न है तथा उणादिसूत्र (संख्या 315) '**दाभाभ्यां नुः**' से 'नु' प्रत्यय आया।

6. **शये**— √ शीङ्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। यहाँ 'शेते' रूप बनना चाहिए था परन्तु प्रथम तो '**लोपस्त आत्मनेपदेषु**' (7.1.41) से 'त्' का लोप हो गया तथा '**शीङः सार्वधातुके**' (7.4.21) से गुण होकर 'अयादेश' द्वारा 'शये' रूप सिद्ध हुआ।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥ 10॥

अतिष्ठन्तीनाम्। अनिऽवेशनानाम्। काष्ठानाम्। मध्ये। निऽहितम्। शरीरम्। वृत्रस्य। निण्यम्। वि। चरन्ति। आपः। दीर्घम्। तमः। आ। अशयत्। इन्द्रऽशत्रुः।

अन्वय— अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम् काष्ठानां मध्ये शरीरं निहितम्। निण्यम् वृत्रस्य आपः विचरन्ति इन्द्रशत्रुः दीर्घं तमः आ अशयत्।

सरलार्थ— न ठहरने वाली (अतिष्ठन्तीनाम्) कहीं भी विश्राम न करने वाली (अनिवेशनानाम्) नदियों के (काष्ठानाम्) मध्य (मध्ये) (वृत्र का) शरीर (शरीरम्) छिपा हुआ था (निहितम्)। (जल में निमग्न होनें के कारण) नाम से रहित (निण्यम्) वृत्र के (वृत्रस्य) (शरीर पर) जल (आपः) विचरण करते हैं (विचरन्ति) इन्द्र का शत्रु (इन्द्रशत्रुः) अर्थात् वृत्र दीर्घ (दीर्घम्) अन्धकार में (तमः) सो गया (आ अशयत्) अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया।

सायण भाष्य— वृत्रस्य शरीरमापो वि चरन्ति। विशेषेणोपर्याक्रम्य प्रवहन्ति। कीदृशं शरीरम्। निण्यं निर्नामधेयम्। अप्सु मग्नत्वेन गूढत्वात्तदीयं नाम न केनापि ज्ञायते। एतदेव स्पष्टीक्रियते। काष्ठानामपां मध्ये निहितं निक्षिप्तम्। कीदृशानां

काष्ठानाम्। अतिष्ठन्तीनां स्थितिरहितानाम्, अनिवेशनानामुपवेशनरहितानाम्। प्रवहणस्वभावत्वादेतासां मनुष्यवन्न क्वापि स्थितिः सम्भवति। इन्द्रशत्रुर्वृत्रो जलमध्ये शरीरे प्रक्षिप्ते सति दीर्घं तमो दीर्घं निद्रात्मकं मरणं यथा भवति तथा आशयत्। सर्वतः पतितवान्।। अतिष्ठन्तीनाम्। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अनिवेशनानाम्। निविशन्तेऽस्मिन्निति निवेशनं स्थानम्। करणाधिकरणयोश्चेत्यधिकरणे ल्युट्। तद्रहितानाम्। बहुव्रीहौ नञ्सुभ्यामित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। क्रान्त्वा स्थिताः काष्ठाः। पृषोदरादि। निहितम्। गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्।। अत्र यास्कः। अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति दीर्घं द्राघतेस्तमस्तनोतेराशयदाशेतेरिन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। नि. 2.16। इति।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि इन्द्र के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करने के उपरान्त वृत्र का शरीर नदियों के जल के बीच छिपा पड़ा था। नदियों में प्रभूत जल के कारण उनके तल में पड़ा हुआ वह किसी को भी दिखाई नहीं दे रहा था। प्रवहणशील स्वभाव के कारण जल निरन्तर बहते रहते हैं और कहीं भी न विश्राम करते हैं और न ही ठहरते हैं। जलों में अन्तर्लीन होने के कारण कोई यह भी नहीं जानता कि 'यह वृत्र है' अतः वह निर्नाम होकर पड़ा हुआ है और जल उसके ऊपर से बहते जा रहे हैं। इस प्रकार वह वृत्र सदा-सदा के लिए मृत्यु को प्राप्त हो गया। दीर्घ अन्धकार मृत्यु का वाचक है।

आधिभौतिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अभिप्राय है कि राष्ट्र में दुष्टों का निग्रह दुष्कर है क्योंकि वे सदा इधर-उधर भागते रहते हैं। कभी भी एक स्थान पर नहीं टिकते। प्रायः अन्धकार में ही पाप युक्त कर्म किए जाते हैं। प्रकाश में वे सज्जनों के आवरण से आवृत रहते हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि गुप्तचरों की सहायता से ऐसे लोगों का पता लगा कर वह उनका उन्मूलन करे। राष्ट्र की गुप्तचर व्यवस्था शिथिल होने पर दुष्टों का निग्रह असम्भव हो जाता है।

आध्यात्मिक पक्ष में अर्थ है कि मानव हृदय में दुर्भावनाएँ गुप्त रहती हैं। ऊपर से देखने पर वह दिखाई ही नहीं देती क्योंकि वे अत्यधिक मोहक रूप धारण करके सम्मुख आती हैं। मन का यह कर्त्तव्य है कि वह उनके मायाजाल में न फँसे व उनके वास्तविक रूप को पहचाने।

टिप्पणियाँ

1. **अभिनिवेशानाम्**— अभि + नि + √ विश्, षष्ठी बहुवचन, स्त्रीलिङ्ग। यहाँ **करणाधिकरणयोश्च** (3.3.117) से अधिकरण के अर्थ में ल्युट् प्रत्यय आया है। 'निविशन्ते अस्मिन् इति निवेशनम्'।

2. **अतिष्ठन्तीनाम्**— नञ् + √ स्था-गतिनिवृत्तौ + शतृ प्रत्यय ङीप् (स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय) षष्ठी, बहुवचन, स्त्रीलिङ्ग।

3. **काष्ठानाम्**— प्रायः सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'जल' अर्थात् नदियाँ किया है। **निरुक्त 2.15** में कहा गया है **'आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते'**। **यास्काचार्य** ने इसका अर्थ 'दिशा' भी किया है। **'काश्यन्ते प्रकाश्यन्ते यासु ता दिशः'**। काष्ठ इति दिङ्नामसु पठितम् (निरुक्त 1.6) **स्वामी दयानन्द** ने भी इसका अर्थ 'दिशाएँ' किया है।

4. **शरीरम्**— इसकी व्युत्पत्ति स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार की है—**'शीर्यते हिंस्यते यत्तत् शरीरम्'** जो शीर्ण और हिंसित होता है वह शरीर है।

5. **अशयत्**— √ शीङ् + लङ् लकार, प्रथम प्ररुष, एकवचन। यहाँ **'बहुलं छन्दसि'** से शप् का लोप नहीं हुआ और **'शीङः सार्वधातुके'** (7.4.21) से गुण होकर तथा 'अय्' आदेश होकर 'अशयत्' रूप सिद्ध हुआ।

6. **निण्यम्**— **यास्क, सायण, श्रीरामशर्मा** तथा **ग्रिफिथ** ने इसका अर्थ 'नाम रहित' किया है 'निण्यं निर्नामधेयम्'।

स्कन्दस्वामी— 'मरने के भय से छिपा हुआ'।

वेलंकर— नीचस्थ, गुह्य।

पीटर्सन— छिपने का स्थान।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां विलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार।। 11।।

दासऽपत्नीः। अहिऽगोपाः। अतिष्ठन्। निऽरुद्धाः। आपः। पणिनाऽइव। गावः। अपाम्। विलम्। अपिऽहितम्। यत्। आसीत्। वृत्रम्। जघन्वान्। अप। तत्। ववार।

अन्वय— दासपत्नीः अहिगोपाः आपः निरुद्धाः इव पणिना गावः। अपां विलम् यद् अपिहितम् आसीत् वृत्रम् जघन्वान् तद् अपववार।

सरलार्थ— जिनका पति वृत्र है (दासपत्नी:) (और) जिनका रक्षक सर्प है (अहिगोपा:) (ऐसी) जलधाराएँ (आप:) (वृत्र द्वारा उसी प्रकार) रोकी गई थीं (निरुद्धा:) जिस प्रकार (इव) पणि के द्वारा (पणिना) गाएँ (गाव:)। (उन) जलधाराओं का (अपाम्) बिल (विलम्) जो (यद्) (वृत्रद्वारा) निरुद्ध (अपिहितम्) था (आसीत्) (इन्द्र ने) वृत्र को (वृत्रम्) मार दिया (जघन्वान्) (और) उस (तद्) (बिल को) पूरी तरह से खोल दिया (अप ववार)।

सायण भाष्य— दासपत्नी:। दासो विश्वोपक्षपणहेतुर्वृत्र: पति: स्वामी यासामपां ता दासपत्नी:। अत एवाहिगोपा:। अहिर्वृत्रो गोपा रक्षको यासां ता:। गोपनं नाम स्वच्छन्देन यथा न प्रवहन्ति तथा निरोधनम्। एतदेव स्पष्टीक्रियते। आपो निरुद्धा अतिष्ठन्निति। तत्र दृष्टान्त:। पणिनेव गाव:। पणिनामकोऽसुरो गा अपहृत्य बिले स्थापयित्वा बिलद्वारमाच्छाद्य यथा निरुद्धवांस्तथेत्यर्थ:। अपां यद्बिलं प्रवहणद्वारमपिहितं वृत्रेण निरुद्धमासीत् तद्बिलं प्रवहणद्वारं वृत्रं जघन्वान्हतवानिन्द्रोऽप ववार। अपावृतमकरोत्। वृत्रकृतमपां निरोधं परिहृतवान्। अत्र यास्क:। दासपत्नीर्दासधिपत्न्यो दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माण्यहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ता:। अहिरय-नादेत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्हसितोपसर्ग आहन्तीति। निरुद्धा आप: पणिनेव गाव:। पणिर्वणिग्भवति पणि: पणनाद्वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेर्वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। नि. 2.17। इति।। दासपत्नी:। दसु उपक्षये। दासतीति दासो वृत्र:। पचाद्यच्। चित्त इत्यन्तोदात्तत्वम्। दास: पतिर्यासां विभाषा सपूर्वस्य। पा. 4.1,34 इति ङीप्। तत्सन्नियोगेनेकारस्य नकार:। बहुव्रहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अहिगोपा:। गुपू रक्षणे। गोपायतीति गोपा:। आयादय आर्धधातुके वा। पा. 3.1.31। इत्यायप्रत्यय: तत: क्विप्। अतो लोप: वेरपृक्तलोपाद्वलि लोपो बलीयानिति पूर्वं यकारलोप:। पा. 6.1.66, 67,। न चाच: परस्मिन्नित्यतो लोपस्य स्थानिवत्त्वम्। न पदान्तद्विर्वचनेति प्रतिषेधात्। अहिर्गोपा: यासांपूर्ववत्स्वर:। निरुद्धा:। रुधिर आवरणे। झषस्तथोर्धोध:। पा. 8.2.40। इति निष्ठातकारस्य धकार:। गतिरनन्तर इति गते:प्रकृतिस्वरत्वम्। जघन्वान्। हन्तेर्लिट: क्वसु:। अभ्यासोच्च। पा. 7.3.55। इत्यभ्यासादुत्तरस्य हकारस्य कुत्वम्। क्रादिनियमप्राप्तस्येटो विभाषा गमहनेत्यादिना पा. 7.2.68। विकल्प-विधानादभाव:। संहितायां नकारस्य रुत्वाननुनासिकावुक्तौ।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि जलधाराएँ वृत्र के द्वारा रोकी गई थीं अतः मानो वृत्र ही उनका पति और रक्षक बन गया था। उन पर उसका ही पूर्ण आधिपत्य था। वे स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित भी नहीं हो पा रही थीं। वृत्र ने उन्हें उसी प्रकार अवरुद्ध किया था जिस प्रकार पणि गावों को रोकता है। पणि नामक असुर देवताओं की गाएँ चुरा कर ले गया था और उन्हें गुफा के अन्दर बन्द कर दिया था। इन्द्र ने उस वृत्र का हनन कर दिया और जलधाराओं को स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवाहित करने के लिए उस बिल का द्वार पूर्ण रूप से खोल दिया।

आधिभौतिक पक्ष में इस मंत्र का अर्थ है कि राष्ट्र की जीवनधारा दुष्टों के द्वारा निरुद्ध कर दी जाती है। ये दुष्ट अथवा दस्यु संग्रह करने की प्रवृत्ति के कारण सामाजिक संतुलन बिगाड़ देते हैं। वणिक् वृत्ति व्यक्ति जिस प्रकार राष्ट्र के धन को अपने अधिकार में रखते हैं उसी प्रकार दस्यु भी। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक असन्तुलन के कारणभूत इनका निग्रह करे, हनन करे तथा राष्ट्रसम्पत्ति का जनहित के लिए प्रयोग करे।

आध्यात्मिक पक्ष में 'आपः' ज्ञान का प्रतीक है जो दुर्भावनाओं रूपी वृत्र द्वारा आवृत्त कर दिया जाता है '**हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्**'। जब मन उन दुर्भावनाओं को जीतने का दृढ संकल्प कर लेता है तो मनुष्य के हृदय की, बुद्धि की तथा चित्त की शुद्धि हो जाती है। ज्ञान रूपी सरिता स्वयं प्रवाहित होने लगती है।

टिप्पणियाँ

1. **दासपत्नी**— 'दासः पतिः यासां ताः दासपत्नीः' अर्थात् दास है पति जिनका ऐसी जलधाराएँ। यहाँ **दासपत्न्यः** रूप होना चाहिए था परन्तु '**वा छन्दसि**' (6.1.106) सूत्र से पूर्व सवर्ण दीर्घ हो गया। प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, स्त्रीलिङ्ग।

सायण ने दासपत्नीः का अर्थ किया है 'विश्व का उपक्षपण करने का हेतु वृत्र ही जिसका स्वामी है'।

स्कन्दस्वामी ने इसे √ दसु–अपक्षये में घञ् प्रत्यय लगा कर 'दास' शब्द निष्पन्न माना है। उनके अनुसार 'दास' का अर्थ श्रमिक, सेवक आदि है अतः दासपत्नीः का अर्थ हुआ 'दास का पालन करने वाले (जल) पीने मात्र से ही अपक्षीणशक्ति श्रमिक का पालन कर उसे संतुष्ट करते हैं।

वेलंकर— 'नदियाँ जिन्होंने दासों को अपना स्वामी मान लिया'।

ग्रिफिथ के अनुसार दास शब्द वेद में उन राक्षस अथवा दुष्टों के लिए प्रयुक्त होता है जो इन्द्र तथा मनुष्यों से द्वेष रखते हैं। भारत के मूलनिवासियों के लिए भी इनका प्रयोग होता है।

2. **अहिगोपाः**— **अहिः वृत्रः गोपा रक्षको यासां ताः** अर्थात् वृत्र जिनका रक्षक है। 'गोपा' का अर्थ सायण के अनुसार इस प्रकार रोकना है जिससे वे स्वच्छन्दरूप से प्रवाहित न हो सकें।

स्कन्दस्वामी— **'अहिना गुप्ताः मेघोदरान्तर्गताः अतिष्ठन्'** इन्होंने अहि का अर्थ 'मेघ' किया है और जो वर्षाकालीन जल मेघ के उदर में गुप्त थे अर्थात् मेघ के द्वारा अवरुद्ध थे।

3. **पाणिनेव गावः**— **सायण** और **वेलंकर** ने पणि को एक असुर माना है। **यास्क** ने पणि का अर्थ वणिक् किया है **'पणिः वणिक् भवति'** (यास्क)। 'जिस प्रकार एक वणिक् गायों को बेचने के लिए रोके रखता है'।

ग्रिफिथ— पणि का अर्थ 'चोर' है। यह शब्द ईर्ष्यालु दैत्यवर्ग के लिए भी प्रयुक्त होता है जो मनुष्यों के धन के प्रति लोलुप रहते हैं तथा यह उन प्रेत पिशाचों के लिए भी प्रयुक्त होता है जो गाय चुरा कर पर्वतों की गुफाओं में छिपा देते हैं।

पीटर्सन के अनुसार पणि का अर्थ कंजूस अथवा लालची है। उनके अनुसार यह पणि पौराणिक पणि नामक राक्षसों से सर्वथा भिन्न है जिन्होंने देवताओं की गाएँ चुराई थीं।

4. **अहि, वृत्र**— दृष्टव्य इन्द्र देवता की टिप्पणी एवं मन्त्र 5।

5. **अपववार**— अप + √ वृ. लिट् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन।

6. **निरुद्धाः**— नि+ √ रुधिर्-आवरणे + क्त प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। 'झषस्तथोर्धोऽधः— (8.2.40) सूत्र से निष्ठा के तकार का धकार हो गया। निष्ठा 'क्त' और 'क्तवतु प्रत्यय को कहते हैं।

7. **जघन्वान्**— √ हन् + लिट् लकार यहाँ **क्वसुश्च'** (3.2.107) सूत्र से लिट् लकार के स्थान पर क्वसु' प्रत्यय आया तथा 'अभ्यासाच्च' (7.3.56) सूत्र से 'हन्' के 'ह्' के स्थान पर 'घ्' आदेश हुआ। प्रथम पुरुष, एकवचन।

8. **अपिहितम्**— अपि + √ डुधाञ्-धारणपोषणयोः + क्त + प्रथमा,

द्वितीया विभक्ति, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग। '**दधातेर्हिः**' (1.4.42) सूत्र से 'धा' को 'हि' आदेश हुआ।

अश्व्यो॒ वारो॑ अभव॒स्तदि॑न्द्र सृ॒के यत्त्वा॑ प्र॒त्यह॑न दे॒व एक॑ः।

अ॑जयो॒ गा अ॑जयः शू॒र सोम॒मवा॑सृज॒ः सर्त॑वे स॒प्त सिन्धू॑न्॥ 12॥

अश्व्य॑ः। वार॑ः। अ॒भ॒व॒ः। तत्। इ॒न्द्र॒। सृ॒के। यत्। त्वा॒। प्र॒ति॒ऽअन्। दे॒वः। एक॑ः॥

अज॑यः। गाः। अज॑यः। शू॒र॒। सोम॑म्। अव॑। अ॒सृ॒ज॒ः सर्त॑वे। स॒प्त। सिन्धू॑न्॥

अन्वय— इन्द्र यत् त्वा सृके प्रति अहन् तत् अश्व्यः वारः अभवः एकः देव। शूर गाः अजयः सोमम् अजयः सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजः।

सरलार्थ— हे इन्द्र (इन्द्र) जब (यत्) (वृत्र ने) तुम्हारे (त्वा) वज्र पर (सृके) प्रहार किया (प्रति अहन्) तब (तत्) (तुम) घोड़े की (अश्व्यः) पूँछ (वारः) बन गए (अभवः) (तुम) अद्वितीय (एकः) देव हो (देवः)। हे वीर! (तुमने देवताओं की) गौओं को (गाः) जीता (अजयः), सोम को (सोमम्) जीता (अजयः) (और) सात (सप्त) नदियों को (सिन्धून्) प्रवाहित होने के लिए (सर्तवे) मुक्त किया (अवासृजः)।

सायण भाष्य— सृके वज्रे। सृको वृक इति वज्रनामसु पठितत्वात्। देवो दीप्यमानः सर्वायुधकुशल एकोऽद्वितीयो वृत्रो यद्यदा त्वा त्वां प्रत्यहन् अतिकूलत्वेन प्रहृतवान् तत्तदानीं त्वमश्व्यो वारोऽश्वसम्बन्धी वालोऽभवः। यथाश्वस्य वालोऽनायासेन मक्षिकादीन्निवारयति तद्वद् वृत्रमगणयित्वा निराकृतवानित्यर्थः। किञ्च गाः पणिनापहृतास्त्वमजयः। जितवान्। हे शूर शौर्ययुक्तेन्द्र सोममजयः। जितवान्। तथा च तैत्तिरीयाः त्वष्टा हतपुत्र इत्यस्मिन्नुपाख्याने समामनन्ति। स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्। जितवान्। तथा च तैत्तिरीयाः त्वष्टा हतपुत्र इत्यस्मिन्नुपाख्याने समामनन्ति। स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्। तै. सं. 2.4.12.1। इति। सप्त सिन्धून इमं मे गङ्गे। ऋ. 10.75.5। इत्यस्यामृच्याम्नाता गङ्गाद्याः सप्तसंख्याका नदीः सर्तवे सर्तुं प्रवाहरूपेण गन्तुमवासृजः। त्यक्तवान्। वृत्रकृतं प्रवाहनिरोधं निराकृतवानित्यर्थः।। अश्व्यः। अश्वे भवः। भवे छन्दसीति यत्। यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वम्। वारयति दंशमशकानिति वारः। पचाद्यच्। कपिलकादित्वाल्ल-त्वविकल्पः। म. 8.2.18। वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम्। प्रत्यहन्। यद्वृतान्नित्यमिति निघातप्रतिबोधः। तिङि चोदात्त्वतीति गतेरनुदात्तत्वम्। अजयः। गा इत्यस्य वाक्यान्तरगतत्वात्तदपेक्षयास्य तिृङङतिङ्इति निघातो न भवति। समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः। पा. 1.1.18। इति वचनात्। सर्तवे। तुमर्थे

सेसेनिति तवेन्प्रत्ययः। नित्वादाद्युदात्तत्वम्।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि जब वृत्र ने इन्द्र के वज्र को तोड़ने के लिए प्रहार किया तो जिस प्रकार घोड़ा अपनी पूँछ के बालों से मक्खी, मच्छर इत्यादि को अनायास तुरन्त ही भगा दता है उसी प्रकार इन्द्र ने भी वृत्र को बिना किसी कठिनाई के तुरन्त ही बड़ी आसानी से मार दिया। देवताओं की गौओं को भी जिन्हें पणि नामक असुर चुरा कर ले गया था और गुफा में बन्द कर दिया था (दृष्टव्य मन्त्र 11) इन्द्र ने उसका वध करके स्वतन्त्र करवाया। सोम को जीता अर्थात् यज्ञवेष धारण कर सोमपान किया **'स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्'** (तैतरीय संहिता 2.4.12.1) तथा सात नदियों को भी प्रवाहित किया जो वृत्र के द्वारा अवरुद्ध थी **'यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् सर्तवे'**।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अभिप्राय है कि शक्तिशाली, न्यायप्रिय धर्मात्मा राजा के सम्मुख दुष्ट अनायास ही पराजित हो जाते हैं। उसके राज्य में दूध, दही इत्यादि की प्रचुरता रहती है। पृथ्वी भी शस्यश्यामला (सोमवती) होती है तथा नदियों और कुल्यों के जल से कृषि में समृद्धि होती है।

आध्यात्मिक पक्ष में इस का अर्थ है कि प्रबुद्ध मन (इन्द्र) जब दुर्भावनाओं (वृत्र) का नाश कर देता है तो मनुष्य का ज्ञान समृद्ध हो जाता हैं उसे आनन्द (सोम) की प्राप्ति होती है और उसकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जो सप्त सिन्धु के प्रतीक हैं, उन्मुक्त भाव से कार्य करते हैं।

टिप्पणियाँ

1. **अश्व्यो वार— सायण** ने अर्थ किया है कि 'तुम घोड़े के बाल बन गए अर्थात् पूँछ बन गए। **'रलयोरभेदः'** के कारण ही सायण ने 'वार' को 'बाल' के अर्थ में लिया है। और इसका भाव स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार घोड़ा अपनी पूँछ के बालों से मक्खी, मच्छर इत्यादि को तुरन्त भगा देता है उसी प्रकार इन्द्र ने वृत्र को तुरन्त मार दिया।

स्कन्द स्वामी ने दो अर्थ किए हैं— (i) उनके अनुसार 'अश्व' शब्द का अभिप्राय 'अश्वपृष्ठ' है और 'अश्व्यः' का अर्थ है 'घोड़े की पीठ पर स्थिरतापूर्वक बैठ कर'। और 'वारः' का अर्थ है 'वाहयिता' अर्थात् हाँकने लगे **'अश्वपृष्ठे सा स्थिरयानः अश्व्यः। वारः वाहयिता। अश्वस्य वा वाहयिताऽश्ववार उच्यते।'** (ii) अथवा घोड़े की पीठ पर बैठकर शत्रुओं का निराकरण करने लगे।

वेंकटमाधव ने स्कन्द स्वामी के दूसरे अर्थ को स्वीकार किया है।

वेलंकर— (अपनी माया से) अश्व पुच्छ का रूप धारण कर लिया। सम्भवतः यह अर्थ करते समय **वेलंकर** के मन में 'इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते' की धारणा रही हो जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्र अपनी माया से कोई भी रूप धारण कर सकता है।

2. **सृके**— '**वज्र**' 0.180.2 में भी इन्द्र के वज्र को सृक् कहा गया है। निघण्टु में भी कहा गया है। '**सृकः**' इति **वज्रनाम** (2.20) यहाँ '**यस्य च भावेन**' (2.3.37) सूत्र से सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

स्कन्दस्वामी ने 'सृक' का अर्थ 'संग्राम' भी किया है।

3. **अवासृजः**— अव + √ सृज् + लङ्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

4. **सप्तसिन्धून**— इन्द्र द्वारा सप्तसिन्धु प्रवाहित किए जाने का उल्लेख ऋग्वेद में अनेकशः प्राप्त होता है। **सायण** ने ऋग्वेद के 10.75.7 के भाष्य में गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, पुरुष्णी, असिक्नी तथा वितस्ता को सात नदियाँ माना है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता पुरुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।।

मैक्समूलर इत्यादि के अनुसार पंजाब की पाँच नदियाँ वितस्ता (झेलम) असिक्नी (चिनाव) पुरुष्णी (रावी) विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलुज) तथा सिन्धु और सरस्वती ये सात नदियाँ हैं।

प्रो. लेसन, लुड्विग आदि के अनुसार उपरोक्त सात नदियों में सरस्वती के स्थान पर काबुल की कुभा नदी होनी चाहिए।

कुछ भाष्यकारों का मत है कि सात की संख्या वैदिक ऋषियों को प्रिय थी। उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

दुर्गाचार्य के अनुसार यहाँ आकाश की सात नदियाँ अभिप्रेत हैं— बहुला, अश्वा, तितुवा, अभ्रपत्नी, मेघपत्नी, वर्षयन्ती तथा अरन्ध्रा।

5. **सर्तवे**— यहाँ √ सृ + तवेन् प्रत्यय है '**तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेन-ध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः**' (3.4.9) सूत्र से तुमुन् के अर्थ में तवेन प्रत्यय आया है।

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद् युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये।। 13।।

न। अस्मै। विऽद्युत्। न। तन्यतुः। सिषेध। न। याम्। मिहम्। अकिरत्। ह्रादुनिम्। च।
इन्द्रः। च। यत्। युयुधाते इति। अहिः। च। उत। अपरीभ्यः। मघऽवा। वि। जिग्ये।

अन्वय— न विद्युत् न तन्यतुः न याम् मिहम्अकिरत् च न ह्रादुनिम् अस्मै सिषेध। इन्द्रः च अहिः यद् युयुधाते मघवा अपरीभ्यः उत विजिग्ये।

सरलार्थ— न तो (न) बिजली (विद्युत्) न (न) (मेघ की) गर्जन (तन्यतुः) न ही (न) जिस (याम्) वर्षा को (मिहम्) (वृत्र ने) किया (अकिरत्) और (च) न ही (न) तूफान (ह्रादुनिम्) इसे (अस्मै) प्रभावित कर पाए (सिषेध)। इन्द्र (इन्द्रः) और (च) सर्प (अहिः) जो (यद्) युद्ध कर रहे थे (युयुधाते) (तब) धनवान् (मघवा) (इन्द्र ने वृत्र की) अन्ध मायाओं को (अपरीभ्यः) भी (उत) जीत लिया (विजिग्ये)।

सायण भाष्य— इन्द्रं निषेद्धुं वृत्रो यान्विद्युदादीन्मायया निर्मितवान् ते सर्वेऽप्येनं निषेद्धुमशक्ताः। सोऽयमर्थोऽनेन मन्त्रेणोच्यते! अस्मै इन्द्रार्थं निर्मिता विद्युन्न सिषेध। इन्द्रं न प्राप्नोत्। तथा तन्यतुर्गर्जनं यां मिहं सेचनं यां वृष्टमकिरत् वृत्रो विक्षिप्तवान् सापि न सिषेध। ह्रादुनिं चाशनिमपि यां वृत्रः प्रयुक्तवान् सापि न सिषेध। इन्द्रश्चाहिश्चेन्द्रवृत्रावुभावपि यद्यदा युयुधाते युद्धं कृतवन्तौ। तदानीं विद्युदादयो न प्राप्ता इति पूर्वत्रान्वयः। उतापि च मघवा धनवानिन्द्रोऽपरीभ्योऽपराभ्योऽन्यासामपि वृत्रनिर्मितानां मायानां सकाशाद्वि जिग्ये। विशेषेण जितवान्।। सिषेध। षिधु गत्याम्। मिहम्। मिह् सेचने। मेहति सिञ्चतीति मिट् वृष्टिः। क्विप्चेति क्विप्। अकिरत्। कृ विक्षेपे। तुदादिभ्यः शः। ऋत इद्धातोरितीत्वम्। अडागम उदात्तः। यद्वृत्तयोगादनिघातः। युयुधाते। युध् संप्रहारे। लिटि प्रत्ययस्वरः। जिग्ये। सन् लिटोर्जेः। पा. 7.3.57। इत्यभ्यासादुत्तरस्य जकारस्य कुत्वम्।

स्पष्टीकरण— तात्पर्य यह है कि जब इन्द्र और वृत्र का युद्ध हो रहा था तब इन्द्र को भयभीत करने के लिए वृत्र ने अपनी आसुरी माया से अनेक उत्पात किए। बिजली चमकने लगी, मेघ भयङ्कर गर्जन करने लगे, मूसलाधार वर्षा होने लगी तथा तूफान भी आ गया परन्तु वृत्र द्वारा प्रेरित भीषण विद्युत, भयङ्कर मेघगर्जन, जल और हिम वर्षा भी इन्द्र को रोक नहीं पाए। वृत्र के प्रचण्ड घातक प्रयोग सब निरर्थक हो गए क्योंकि इन्द्र ने वृत्र की उन कपट माया को ही नष्ट

नहीं किया अपितु अन्य मायाओं पर भी विजय प्राप्त कर ली।

असुरों तथा राक्षसों द्वारा प्रवर्तित इस प्रकार के भीषण उत्पातों का वर्णन जैन पुराणों, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण तथा महापुराण में भी बहुलता से प्राप्त होता है।

आधिभौतिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ है कि दस्यु आदि अनेक प्रकार की शक्ति का संग्रह करके चौर्यादि अनेक पापयुक्त कर्म करते हैं। वास्तव में वही राजा है जो उनका निग्रह करके अपने राज्य में सुख, शान्ति और व्यवस्था स्थापित करता है।

आध्यात्मिक पक्ष में अभीप्सित अर्थ यह है कि मानव के अन्दर दुष्प्रवृत्तियों व सुप्रवृत्तियों का संघर्ष निरन्तर चलता है जिसे 'देवासुर संग्राम' भी कहते हैं। दुर्भावनाएँ (वृत्र) बहुत शक्तिशाली होती हैं और वे विभिन्न प्रकार से मन को विचलित करने का प्रयास करती हैं। परन्तु जब मनुष्य मन की शक्ति का आभास कर उनको अभिभूत करने का दृढ़ सङ्कल्प कर लेता है तो वह उनके छलावे से प्रभावित नहीं होता। जागरूक मन के सामने ये स्वयं ही धाराशायी हो जाती हैं। अतः दुर्भावनाओं को जीतने के लिए दृढ़ सङ्कल्पशक्ति अत्यधिक आवश्यक है।

टिप्पणियाँ

1. **सिषेध**— सायण ने इसे √ षिधु-गत्याम् से निष्पन्न मान कर अर्थ किया 'प्राप्त किया'। यह लिट् लकार, प्रथम पुरुषप, एकवचन का रूप है। **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** से लङ् लकार के अर्थ में लिट् लकार का प्रयोग है।

वेलंकर ने अर्थ किया 'उन सब उत्पातों को जीत लिया'।

सातवलेकर— '(वे उत्पात) इन्द्र को रोक नहीं पाए।'

2. **मिमेथ**— √ मिह्-सेचने, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' से लङ्लकार के अर्थ में लिट् प्रयोग है।

सायण ने इसका अर्थ 'वर्षा' किया है।

वेलंकर— 'कुहासा'। **सातवलेकर** 'हिम वृष्टि'।

3. **अकिरत्**— √ कॄ-विक्षेपे + श विकरण तथा **'ऋत इद्धातोः'**

(7.1.100) से 'ऋ' को 'इ' आदेश हो गया। लङ्लकार, प्रथम पुरुष, एक वचन।

4. **अपरीभ्यः— सायण** ने अर्थ किया कि 'इन्द्र वृत्र द्वारा उत्पन्न की गई अन्य मायाओं पर विजयी हुआ।' **ग्रिफिथ— 'सदा के लिए'। वेलंकर**— 'आगामी अनन्त काल के लिए'।

√ पृ + उणादि सूत्र (संख्या 581) **'अच इः'** से 'इ' प्रत्यय आया पुनः **स्त्रीलिङ्ग** में ङीष् प्रत्यय लगा।

5. **ह्लादुनिम्—** √ ह्लाद् + उणादि प्रत्यय 'उनि' आया। **स्वामी दयानन्द ने कहा 'अत्र ह्लादधातोर्बाहुलकारणादौणादिक उनिप्रत्ययः।**

सायण ने इसका अर्थ 'वज्र' किया।

ग्रिफिथ तथा **वेलंकर**— 'ओलों की वर्षा'।

सातवलेकर— 'गिरने वाली बिजली'।

स्कन्दस्वामी— 'घनघोर बारिश' **'ह्लात्कारः हनहनशब्दः स च वृष्टिः'।**

6. **मघवा**— प्रायः सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'धनवान्' किया है।

'मघं पूज्यं बहुविधं प्रकाशो धनं विद्यते यस्मिन् सः'। यह विशेषण इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त होता है।

7. **विजिग्ये**— वि √ जि-जयने, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद।

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि।। 14।।

अहेः। यातारम्। कम्। अपश्यः। इन्द्र। हृदि। यत्। ते। जघ्नुषः। भीः। अगच्छत्। नव। च यत्। नवतिम्। च। स्रवन्तीः। श्येनः। भीतः। अतरः। रजांसि।

अन्वय— इन्द्र अहेः कम् यातारम् अपश्यः यत् जघ्नुषः ते हृदि भीः अगच्छन्। यत् नव च नवतिम् स्रवन्तीः च रजांसि भीतः श्येन अतरः।

सरलार्थ— हे इन्द्र (इन्द्र) वृत्र के (अहेः) किस (कम्) प्रतिशोधा को (यातारम्) तुमने देखा (अपश्यः) जिससे (यत्) (वृत्र को) मारने वाले (जघ्नुषः) तुम्हारे (ते) हृदय में (हृदि) भय (भीः) घुस गया (अगच्छत्) जो

(यत्) (तुम) 99 (नव च नवतिम्) नदियों को (स्रवन्तीः) और (च) लोकों को (रजांसि) डरे हुए (भीतः) श्येन के (श्येनः) समान (न) पार कर गए (अतरः)।

सायण भाष्य— हे इन्द्र जघ्नुषः वृत्रं हतवतस्तव हृदि चित्ते यद्यदि भीरगच्छत् न हतवानस्मीति बुद्ध्या भयं प्राप्नुयात् तर्ह्यहेवृत्रस्यं यातारं हन्तारं कमपश्यः। त्वत्तोऽन्यं कं पुरुषं दृष्टवानसि। तादृशस्य पुरुषान्तरस्याभावान्माभूत्तव भयमित्यर्थः। यद्यस्मात्कारणात्त्वं नव च नवतिं च स्रवन्तीरेकोनशतसंख्याकाः प्रवहन्तीर्नदीः प्राप्य रजांसि तत्रत्यान्युदकान्यतरः। तीर्णवानसि। तत्र दृष्टान्तः। श्येनो न। श्येननामको बलवान् पक्षीव। दूरगमनात्तव भयमासीदिति गम्यते। तद् भयं मा भूदित्यभिप्रायः। तच्च दूरगमनं ब्राह्मणे समाम्नातम्। इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत्। ऐ. ब्रा. 3.15। इति। तैत्तिरीयाश्चामनन्ति। इन्द्रो वृत्रं हत्वा परां परावतमगच्छदपराधमिति मन्यमानः। तै. ब्रा. 1.6.7.4। इति। हृदि। पद्दन्नित्यादिना हृदयशब्दस्य हृदादेशः ऊडिदमित्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम्। जघ्नुषः। हन्तेर्लिटः क्वसुः। एकवचने वसोः सम्प्रसारणमिति। सम्प्रसारणपरपूर्वत्वे। शासिवसिघसीनां चेति षत्वम्। न च षत्वतुकोरसिद्धः। पा. 6.1.86। इत्येकादशस्यासिद्धत्वात् षत्वं न प्राप्नुयादिति वाच्यं सम्प्रसारणङीट्सु प्रतिषेधो वक्तव्यः। का. 6.1.86.1। इत्यसिद्धवद्भावस्य प्रतिषिद्धत्वात्। गमहनेत्यादिनोपधालोपः। न चासिद्धवदत्राभादिति सम्प्रसारणस्यासिद्धवद्भावः। भिन्नाश्रयत्वात्। हि षष्ठ्यैकवचने उपधालोपस्तु वसाविति। भिन्नाश्रयत्वम्। सम्प्रसारणं स्रवन्तीः स्रु गतौ। शप्श्यनोर्नित्यम्। पा. 7. 1.81 इति नुमागमः। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। शतुश्च लसार्वधातुकस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। अतरः। यद्वृत्तयोगादनिघातः।

स्पष्टीकरण— ऐतरेय तथा तैतरीय ब्राह्मण में यह कथा आई है कि वृत्र को मारकर इन्द्र स्वयं को अपराधी मान कर दूर तक चला गया **'तच्च दूरगमनं ब्राह्मणे समाम्नातम्। इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत्'** (ऐतरेय ब्राह्मण 3.15) तथा तैतरीय ब्राह्मण (1.6.7.4) में भी कहा गया है **'इन्द्रो वृत्रं हत्वा परां परावतमगच्छदपराधमिति मन्यमानः'**

इसी कथा का सङ्केत ऋषि ने प्रस्तुत मन्त्र में यह कहकर किया है कि हे इन्द्र वृत्र को मार देने के पश्चात् भी तुमने बदला लेने में समर्थ उसके किस साथी को देख लिया जिससे भयभीत होकर तुम 99 नदियों तथा तीनों लोकों को शीघ्रता से उसी प्रकार पार कर गए जिस प्रकार एक भयभीत श्येन शीघ्रता

से उतरता है। श्येन उस पक्षी का नाम है जो स्वर्ग लोक से सोमलता को लाया था **'श्येनो यदन्धो अभरत् परावतः'** (ऋग्वेद 9.83.2)।

श्रीराम शर्मा के अनुसार इस मन्त्र में काकु द्वारा प्रश्न किया गया है कि हे इन्द्र देव! वृत्र का वध करते समय यदि आपके हृदय में भय उत्पन्न होता तो किस दूसरे वीर को असुर वध के लिए देखते अर्थात् कोई दूसरा न मिलता। ऐसा करके आपने 99 जलप्रवाहों को बाज पक्षी की तरह सहज ही पार कर लिया।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि राष्ट्र में कभी-कभी दस्युओं की शक्ति प्रबल हो जाती है। राजा किसी शक्तिशाली दस्यु का हनन करता है तो उसके समर्थक अन्य दस्यु उस राजा पर आक्रमण कर देते हैं। प्रस्तुत मंत्र में राजा को 'करो या मरो' यह उपदेश दिया गया है। राजा को न तो भयभीत होना चाहिए और न ही राज्य छोड़ कर भागना चाहिए। अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए क्योंकि कर्त्तव्य पालन करने वाले का ही सर्वथा कल्याण होता है। गीता में भी कहा गया है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि जब मन अपनी सङ्कल्पशक्ति से दुर्भावनाओं का उन्मूलन कर देता है तब चिर अर्जित संस्कारों के कारण कभी-कभी वह यह सोचकर दुःखी होता है कि व्यर्थ ही मैंने संयम धारण किया, व्यर्थ ही स्वयं को सांसारिक भोग विलासों से वञ्चित रखा परन्तु क्षण भर बाद ही उसे ज्ञात हो जाता है कि तथा कथित रस में भयङ्कर विष है अतः उसके मन में पुनः इनके प्रति भय उत्पन्न हो जाता है। स्वयं को इन सब से बचाने के लिए पुनः प्रयत्नशील हो जाता है और व्यर्थ के विचारों को अपने से दूर ले जाना चाहता है।

टिप्पणियाँ

1. **जघ्नुषः**— √ हन् यहाँ **'क्वसुश्च'** (3.2.107) से लिट् लकार के अर्थ में 'क्वसु' प्रत्यय आया है। **'क्वसु'** में लिट्वत् व्यवहार होने के कारण धातु का द्वित्व हो गया तथा **'क्वसु'** का सम्प्रसारण हो गया।

स्कन्दस्वामी के अनुसार यहाँ अन्तर्णीत सनन्त अर्थ है तथा जिघांसोः के अर्थ में जघ्नुषः का प्रयोग है।

2. **अहेः यातारम्**— प्रायः सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'वृत्र का वध

करने वाले को' किया है। वेलंकर के अनुसार यह √ या धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है 'आक्रमण करना' अतः 'यातारम्' का अर्थ 'तुमने किस आक्रमक को देखा' है। ग्रिफिथ ने भी इसका अर्थ किया है 'अहि से बदला लेने वाले को'।

3. **रजांसि**— **सायण** ने इसका अर्थ 'नदीगत जल' किया है जबकि अन्य सब विद्वानों ने इसका अर्थ 'सब लोकों को' किया है।

वेलंकर ने अर्थ किया है (उन 99 नदियों पर बसे हुए) 'प्रदेशों को'।

4. **अतरः**— √ तृ-तरणप्लवनयोः, लङ्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव।। 15।।

इन्द्रः। यातः। अवऽसितस्य।
राजा। शमस्य। च। शृङ्गिणः। वज्रऽबाहुः।
सः। इत्। ऊँ इति। राजा। क्षयति। चर्षणीनाम्।
अरान्। न। नेमिः। परि। ता। बभूव।

अन्वय— वज्रबाहुः इन्द्रः यातः अवसितस्य शमस्य च शृङ्गिणः राजा। सः इत् राजा उ चर्षणीनाम् क्षयति ता परिबभूव न नेमिः अरान्।

सरलार्थ— वज्रबाहु (वज्रबाहुः) इन्द्र (इन्द्रः) जङ्गम (यातः) (और) स्थावर का (अवसितस्य), शान्त (शमस्य) और (च) सींग वाले (शृङ्गिणः) (पशुओं का) राजा है (राजा)। वही (सः इत्) राजा (राजा) निश्चित रूप से (उ) सब मनुष्यों पर भी (चर्षणीनाम्) शासन करता है (क्षयति) उनको (ता) सब ओर से व्याप्त किए हुए है (परिबभूव) जिस प्रकार (न) नेमियाँ (नेमिः) अराओं को (अरान्) (व्याप्त करती हैं)।

सायण भाष्य— वज्रबाहुरिन्द्रः शत्रौ हते सति निःसपत्नो भूत्वा यातो गच्छतो जङ्गमस्यावसितस्यैकत्रैव स्थितस्य स्थावरस्य शमस्य शान्तस्य शृङ्गराहित्येन प्रहरणादावप्रवृत्तस्याश्वगर्दभादेः शृङ्गिण शृङ्गोपेतस्योग्रस्य महिषबलीवर्दादेश्च राजाभूत। सेदु स एवेन्द्रश्चर्षणीनां मनुष्याणां राजा भूत्वा क्षयति निवसति। ता तानि पूर्वोक्तानि जङ्गमादीनि सर्वाणि परिबभूव। व्याप्तवान्। तत्र दृष्टान्तः। अरान्न नेमिः। यथा रथचक्रस्य परितो वर्तमाना नेमिररान्नाभैः कीलितान्कष्ठविशेषान्व्याप्नोति तद्वत्।

यातः। या प्रापणे। याति गच्छतीति यात्। लटः शतृ। सावेकाच इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। सः। सोऽचि लोपे चेदिति संहितायां सोर्लोपः। ता। शेश्छन्दसि बहुलमिति शेर्लोपः। बभूव। भवतेर्लिटोणलि भवतेरः। पा. 7.4.73। इत्यभ्यास्यात्वम् कृताकृतप्रसङ्गिगकतया वुगामस्य नित्यत्वाद्वृन्द्धेः पूर्वं वुगागमः। यद्वा। इन्धिभवतिभ्यां च। पा. 1.2.6। इति लिटः कित्त्वाद्वृद्ध्यभावः। न चासिद्धवदत्राभादिति तस्यासिद्धत्वादुवङादेशः शङ्कनीयः। वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ भवतः। पा. 6.4.22.14। इति तस्य सिद्धत्वात्। तिङ्ङतिङ इति निघातः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र के माहात्म्य और गौरव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इन्द्र समस्त चराचर जगत का स्वामी है। घोड़े, गधे जैसे सींगरहितं शान्त प्राणियों तथा गाय, भैंस, बैल इत्यादि सींग युक्त तथा उग्र सभी पशुओं पर इन्द्र शासन करता है। मनुष्यों का भी एकमात्र शासक वही है। वही समस्त संसार को इस प्रकार अभिभूत किए हुए है जिस प्रकार रथ की नेमि अराओं को व्याप्त करती है। संक्षेप में इन्द्र के लिए कही गई **'एक ईशान ओजसा'** तथा **'अति विश्वं ववक्षिथ'** ये उक्तियाँ अत्युक्तियाँ नहीं हैं।

आधिभौतिक पक्ष में इस का अर्थ है कि एक राजा को शक्तिशाली होना चाहिए ताकि समस्त प्रजा व अन्य राजा उसके समक्ष नतमस्तक हों। इस प्रकार का राजा ही प्रजापालन में समर्थ होता है।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि मन के द्वारा ही मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन नियन्त्रित होता है। शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी कार्य उसी के द्वारा सम्पादित होते हैं। वह हमारे जीवन का केन्द्र बिन्दु है। तुलनीय— **'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'** (वाजसनेयी संहिता, 34.3)।

टिप्पणियाँ

1. **यातः** √ या-प्रापणे, शतृ प्रत्यय, षष्ठी विभक्ति एकवचन।

2. **शमस्य शृङ्गिणः च**— सायण ने 'शमस्य' का अर्थ किया है 'जो पशु सींग न होने के कारण प्रहार नहीं कर पाते जैसे घोड़े, गधे इत्यादि और 'शृङ्गिणः' का अर्थ है 'सींग से युक्त भैंसे, बैल इत्यादि।

स्कन्दस्वामी ने 'शमस्य' का अर्थ 'शान्त ऋषि' इत्यादि और शृङ्गिणः' का अर्थ 'सींग से युक्त 'गाय' आदि किया है। पुनः उनके अनुसार ही 'जङ्गम' कह देने से गाय इत्यादि सींगयुक्त पशुओं का समावेश भी हो जाता है अतः यहाँ

शृङ्ग का अर्थ दीप्तियुक्त नक्षत्रादि भी हो सकता है।

वेंकटमाधव— हरिणादि तथा महिषादि।

वेलंकर— पालतू पशु और सींग वाले वन्य पशु **सातवलेकर**— शान्त ओर सींग वाले अर्थात् क्रूर।

3. **सेदु**— यह सः इत् उ से निर्मित है '**सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्**' से 'सः' की विभक्ति का लोप हो गया और पुनः स + इदु में गुण सन्धि होकर 'सेदु' रूप सिद्ध हुआ।

4. **क्षयति**— **सायण** तथा **वेंकटमाधव** ने 'निवास करता है' यह अर्थ किया जबकि **स्कन्दस्वामी** और **वेलंकर** इत्यादि ने इसका अर्थ 'शासन करता है' किया है।

5. **ता**— यह 'तद्' सर्वनाम का प्रथमा द्वितीया विभक्ति बहुवचन का रूप है। यहाँ '**तानि**' रूप होन चाहिए था परन्तु '**शेश्छन्दसि बहुलम्**' से '**शि**' का लोप हो गया।

नेमि का अराओं से व्याप्त होने की उपमा वैदिक ऋषियों की बहुत प्रिय प्रतीत होती है '**यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः**' (वाजसनेयी संहिता 34.5) इत्यादि।

6. **अवसितस्य**— अव + √ षिञ्-बन्धने + क्त, षष्ठी विभक्ति, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग।

卐 卐 卐

रुद्र (ऋग्वेद 1.114)

अन्तरिक्षस्थानीय रुद्र की स्तुति यद्यपि ऋग्वेद के चार सूक्तों में ही हुई है, एक सूक्त में अंशतः रुद्र का वर्णन है तो एक अन्य सूक्त में सोम के साथ इस की स्तुति की गई है **तथापि देवताओं में रुद्र उच्च प्रतिष्ठित देवता है।** सूत्रों की संख्या कम होने से रुद्र का महत्त्व किसी भी प्रकार कम नहीं होता। कुछ विद्वानों का तो यह मत भी है कि रुद्र स्वयं परमात्मा है और परमात्मा का वर्णन वाणी द्वारा कर पाना असम्भव है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि परमात्मा वाणी का विषय नहीं है बल्कि वाणी ही उसके द्वारा बोलने की शक्ति प्राप्त करती है

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। (केनोपनिषद् 1.4)

तथा **'यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'।**

सम्भवतः इसी कारण रुद्र के लिए अधिक सूक्त सम्भव न हो पाए।

परवर्ती सहित्य में भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश में ब्रह्मा और विष्णु देव हैं परन्तु महेश अर्थात् रुद्र 'महादेव' हैं। रुद्र के लिए प्रयुक्त परमात्मा, ईशान, ईश, इत्यादि पद भी इसके महत्त्व की घोषणा करते हैं। इसके अतिरिक्त 'रोदसी' को रुद्र की पत्नी कहा गया है **'रोदसी रुद्रस्य पत्नी'** (दुर्गाचार्य, निरुक्त 11.49)। 'रोदसी' द्युलोक और पृथ्वी लोक दोनों लोकों का वाचक है। इसका संप्रेषित अर्थ यह हुआ कि ये दोनों लोक रुद्र की विभूति हैं। रुद्र परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कौन हो सकता है? कविकुल कालिदास ने भी कहा है-

'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी'।

वेद में 'रोदसी' शब्द का प्रयोग प्रथमा विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिङ्ग में ही हुआ है।

रुद्र के विषय में अरविन्द घोष का मत द्रष्टव्य है It was a view long popularised by European scholars that the greatness of Viṣṇu and Śiva was a later development and that in the Veda these

gods have quite a minor position and are inferior to Indra and Agni . . . The importance of Vedic gods can not be measured by the number of hymns to them . . . but by the functions which they perform (on the Vedas, 1964, page 359).

अर्थात् पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि विष्णु और शिव का महत्त्व परवर्तीकाल की देन है और वेद में इन देवताओं का स्थान इन्द्र और अग्नि से निम्न है .... परन्तु वैदिक देवताओं का महत्त्व उन के लिए अर्पित सूक्त संख्या से नहीं नापा जा सकता अपितु, उनके द्वारा किए गए कार्यों से ही समझा जाना चाहिए।

सायणाचार्य ने रुद्र की निम्न निरुक्तियाँ दी हैं-

(1) **रोदयति सर्वमन्तकालं इति रुद्रः-** जो अन्तिम समय में सबको रुलाता है।

(2) **रुत्संसाराख्यं दुःखम्। तद् द्रावयत्यपगमयति विनाशयतीति रुद्रः-** संसार नामक दुःख रुत् है। जो उसे भगाता है, दूर करता है अथवा नष्ट करता है, वह रुद्र है।

(3) **रुदन्धकारादि-तद् दृणाति, विदारयतीति रुद्रः** अर्थात् रूत् अन्धकार आदि है और जो उसे तोड़ता है, विदीर्ण करता है वह 'रुद्र' है।

(4) **रुतः शब्दरूपा उपनिषदः। ताभिद्रूयते, गम्यते, प्रतिपद्यत इति** अर्थात् रुत शब्द रूप उपनिषद हैं। उनके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, प्रतिपादित किया जाता है, वह रुद्र है।

(5) **रुद्र शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्यात्मविद्या वा। तामुपासकेभ्यो राति ददातीति रुद्रः** अर्थात् रुत् शब्दात्मिका वाणी है। उसके द्वारा प्रतिपाद्य आत्मविद्या है। उस आत्माविद्या को जो उपासकों के लिए देता है, वह रुद्र है।

(6) एक बार देवासुर संग्राम में अग्न्यात्मक रुद्र देवताओं के द्वारा निक्षिप्त धन को ले गया। निरुक्त 10.7 में अग्नि को भी रुद्र कहा गया है **'अग्निरपि रुद्र उच्यते'** तथा शतपथ ब्राह्मण में भी इसी बात की पुष्टि की गई है **'यो वै रुद्रः सोग्निः'** (शतपथ ब्राह्मण 5.2.4.13)। असुरों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् देवताओं ने इसे खोज कर धन वापस ले लिया। तब वह रोने लगा। इसी करण वह रुद्र कहलाया। तैतरीय संहिता 1.5.1.1 में भी कहा गया है **'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'।**

रुद्र शब्द √ रुद् धातु में उणादि सूत्र (संख्या 182) **'रोदेर्णिलुक् च'** से **'रक्'** प्रत्यय लगा कर निष्पन्न हुआ है। **यास्काचार्य** ने इसकी निम्न निरुक्तियाँ दी हैं (1) रुद्रो रौतीति सतः (जो गर्जन करता है) (2) रोरुयमाणो द्रवतीति (जो कोलाहल करते हुए दौड़ता है) (3) रोदयते वा (जो रुलाता है) तथा (4) यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् (वह रोया यही उस का रुद्रत्व है) (निरुक्त 10. 5) **ग्रासमैन व पिशेल** इसे √ रुद्-चमकना व लोहित होना से निष्पन्न मानते हैं।

वेदों मे 'रुद्र' का 'नीललोहित' यह नाम भी प्राप्त होता है। वस्तुतः यह 'यथा नाम तथा गुण' का अभिव्यञ्जक है। **परमात्मा का स्वरूप ही नीललोहित** है। वनस्पतियाँ, शस्यश्यामला वसुन्धरा, समुद्र, आकाश सब नीलवर्ण हैं जबकि उषा, सन्ध्या, सूर्य, आदि सभी लोहित हैं। ये सब परमात्मा के नीललोहित शरीरभूत हैं। **अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कालिदास** ने भी समस्त सृष्टि का समावेश भगवान् शिव अर्थात् रुद्र में ही किया है (अभिज्ञानशाकुन्तलम् श्लोक प्रथम) और अन्त में भी कहा है **ममापि क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवम्'**। यह ध्यातव्य है कि नाटक का प्रारम्भ भी और समाप्ति भी भगवान् शिव के आशीर्वाद प्राप्ति की कामना करते हुए ही की गई है। इससे स्पष्ट है कि संसार का आदि भी और अन्त भी रुद्र ही है। वही परम पिता परमेश्वर है। शिव की मूर्ति भी सब देवताओं के आवास को प्रकट करती है। उनके सिर पर चन्द्रकला है जो नीलवर्ण है तो मस्तक पर लोहित वर्ण अग्नि है। अथर्ववेद 15.17 में स्पष्ट कहा गया है **'नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्'**।

रुद्र को भिषक् कहा गया है **'भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि'** ऋग्वेद, 2. 33.4)। उससे सब रोगों से मुक्ति दिलवाने की प्रार्थना की गई है-**'त्वा दत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः** (ऋग्वेद 2.33.2) अर्थात हे रुद्र हम आपके द्वारा प्रदान की गई सुखदायी औषधियों के सेवन से 100 वर्ष तक जीवित रहें। मनुष्य मृत्यु से सर्वाधिक भयभीत रहता है। दीर्घायु प्रदान करने वाला महामृत्युञ्जय मन्त्र भी रुद्र को ही सम्बोधित है-

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् (ऋग्वेद 7.59.12)

ज्ञान और बलसमृद्ध वृद्धों को पीड़ित न करने की, गर्भस्थ सन्तान, छोटे बच्चे, युवा पुरूष तथा माता पिता को नष्ट न करने की, पुत्र पौत्रादि पशु आदि को आघात न पहुँचाने की प्रार्थना रुद्र से पुनः पुनः की गई है (ऋग्वेद 1.114.7-8)।

रुद्र अतुलित शक्तिशाली, बलशाली तथा शत्रुओं का संहार करने वाला है-

'स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्' (ऋग्वेद 2.33.11)

वह सुदृढ़ शरीर वाला **'स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो** (ऋग्वेद 2.33.9) कामनाओं को पूरा करने वाला (मीढ्वान) प्रचेतस् कल्याण करने वाला **'शं नः करत्'** शङ्कर, तव्यान्, कपर्दी, नीलग्रीवः, ताम्रः, गिरिचरः, भवः आदि है। पशुओं की रक्षा करने के कारण पशुपति भी है-

'मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः' (ऋग्वेद 1.114.8)

रुद्रो को मरुतों का पिता कहा गया है **'आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु'** (ऋग्वेद 2.33.11), **'इदं पित्रे मरुताम्'** (1.114.6)। ये विभिन्न वेषों वाले तथा अनेक कार्यों के सम्पादक कहे गए हैं। अतः रुद्र एवं उनके गुणों की अभ्यर्थना की जाती है—

'नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो' (यजुर्वेद 16.25) तैतरीय संहिता में इनकी संख्या 11 बतलाई गई है, **'एकादश रुद्रा एकादशाक्षरात्रिष्टुप्'** (तैतरीय संहिता 3.4.9.7)

अधिभौतिक पक्ष में रुद्र तूफान का प्रतिनिधि देवता हैं, आधिदैविक पक्ष में रुद्र देवता है व आध्यात्मिक पक्ष में यह परमात्मा का वाचक हैं।

रुद्र-ऋग्वेद 1.114

रुद्र सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का 114 वाँ सूक्त है। **इसका देवता रुद्र है, ऋषि कुत्स आङ्गिरस है, प्रथम नौ मन्त्रों में जगती छन्द है तो 10 वें और 11वें में त्रिष्टुप् छन्द है।** कुत्स आङ्गिरस का ऋषित्व प्रायः चारों वेदों में ही प्राप्त होता है। निघण्टु 2.20 में कुत्स वज्र की पाठसूची में है। **यास्क** ने कहा है- 'तत्र कुत्स इत्येतत् कुन्ततेः' जबकि **यास्क के पूर्वाचार्य औपमन्यव** ने स्तोमकर्ता को 'कुत्स' कहा है 'ऋषिः कुत्सो भवति। कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः (निरुक्त 3.11) आङ्गिरस की व्याख्या के लिए देखें इन्द्र सूक्त।

'जगती' और **'त्रिष्टुब्' दोनों ही वैदिक छन्द हैं।** जगती में चार चरण होते हैं व प्रत्येक चरण में 12-12 अक्षर होते हैं जबकि त्रिष्टब् में चार चरण होते हैं परन्तु प्रत्येक चरण में 11-11 अक्षर होते हैं।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्।।1।।

इमाः। रुद्राय। तवसे। कपर्दिने। क्षयत्ऽवीराय। प्र। भरामहे। मतीः।
यथा। शम्। असत्। द्विऽपदे। चतुःऽपदे। विश्वम्। ग्रामे। अस्मिन्। अनातुरम्।

अन्वय- तवसे कपर्दिने क्षयत्वीराय रुद्राय इमाः मतीः प्रभरामहे। यथा द्विपदे चतुष्पदे शम् असत् अस्मिन् ग्रामे विश्वम् पुष्टम् अनातुरम्।

सरलार्थ- बलशाली (तवसे) जटाजूटधारी (कपर्दिने) शत्रु वीरों को नष्ट करने वाले (क्षयत् वीराय) रुद्र के लिए (रुद्राय) ये (इमाः) स्तुतियाँ (मतीः) प्रकृष्ट रूप से (प्र) अर्पित करते हैं (भरामहे) ताकि (यथा) द्विपाद् (द्विपदे) (और) चतुष्पाद में (चतुष्पदे) शान्ति (शम्) हो (असत्) (और) इस (अस्मिन्) गाँव में (ग्रामे) सब कुछ (विश्वम्) पुष्ट (पुष्टम्) (और) नीरोगी (अनानुरम्) (होवे)।

सायण भाष्य-रुद्राय। रोदयति सर्वमन्तकाल इति रुद्रः। यद्वा। रुत्संसारख्यं दुःखम्। तद् द्रावयत्यपगमयति विनाशयतीति रुद्रः। यद्वा रुतः शब्दरूपा उपनिषदः। ताभिद्रूयते गम्यते प्रतिपद्यत इति रुद्रः। यद्वा। रुत् शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्यात्मविद्या वा। तामुपासकेभ्यो राति ददातीति रुद्रः। यद्वा रुणद्ध्यावृणोतीति रुदन्धकारादि। तद् दृणाति विदारयतीति रुद्रः। यद्वा कदाचिद्देवासुरसंग्रामेऽग्न्यात्मको रुद्रो देवैर्निक्षिप्तं धनमपहृत्य निरगात्। असुराञ्जित्वा देवा एनमन्विष्य दृष्ट्वा धनमपाहरन्। तदानीमरुदत्। तस्मादुद्र इत्याख्यायते। तथा च तैत्तिरीयकम्। सोऽरोदीद्यदरोदीत्तदुद्रस्य रुद्रत्वम्। तै. सं. 1.5.1.1। इति। तस्मै रुद्राय मतीर्मननीया इमाः स्तुतीः प्रभरामहे। प्रकर्षेण निष्पादयामः। कीदृशाय। तवसे प्रवृद्धाय कपर्दिने जटिलाय क्षयद्वीराय क्षयन्तो विनश्यन्तो वीरा यस्मिन् तादृशाय। यद्वा। क्षयतिरैश्वर्यकर्मा। क्षयन्तः प्राप्तैश्वर्या वीरा मरुद्गणाः पुत्रा यस्य तस्मै। यथा येन प्रकारेण शं शमनीयानां रोगाणामुपशमनं द्विपदेऽस्मदीयाय मनुष्याय चतुष्पदे गवाश्वप्रभृतये चासत् भवेत्। तेन प्रकारेण स्तुतीः कुर्मःइत्यर्थः। अतोऽस्मिन्नस्मदीयें ग्रामे वर्तमानं विश्वं सर्वं प्राणिजातमनातुरम्। आतुरा रुग्णाः। तै रहितं सत् पुष्टं प्रवृद्धं भवतु।। रुद्राय। रोदेर्णिलुक् च। उ. 2.22 इति रक्। तवसे। तवतिर्वृद्ध्यर्थः सौत्रो धातुः। औणादिकोऽसिप्रत्ययः। क्षि क्षये। लटः शतृ। छन्दस्युभयथेति शतुरार्धधातुकत्वेनादुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वाभावात्तस्यैव स्वरः शिष्यते। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। असत्। अस् भुवि। लेट्यडागमः।

इतश्च लोप इतीकारलोपः। द्विपदे। द्वौ पादावस्य। सङ्ख्यासुपूर्वस्येति पादशब्दस्यान्त्यलोपः समासान्तः। चतुर्थ्येकवचने भसंज्ञायां पादः पदिति पद्भावः। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्। परि. 37। द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहावित्युत्तर-पदाद्युदात्तत्वम्। चतुष्पदे। स्वरवर्जं पूर्ववत्। बहुव्रीहौ पूर्वपदाप्रकृतिस्वरत्वम् पूर्वपदं च नः संख्यायाः। नि. 2.5। इत्याद्युदात्तम्।

स्पष्टीकरण- प्रस्तुत मन्त्र में उस रुद्र के लिए स्तुतियाँ समर्पित की गई हैं जो रुद्र बलशाली है, जटाजूट से युक्त है और शत्रुपक्ष के वीरों को नष्ट करने वाला है। वैदिक धर्म की यह विशिष्टता थी कि यह अत्यन्त व्यवहारिक था। यदि एक तरफ पुरोहित देवताओं के लिए स्तुतियाँ और आहुतियाँ समर्पित करता था तो दूसरी तरफ उनके सुख समृद्धि, स्वास्थ्य, ऐश्वर्य, इत्यादि की इच्छा भी रखता था। इसी कारण प्रस्तुत मन्त्र में भी रुद्र देवता के लिए स्तुतियाँ अर्पित करने के तुरन्त बाद ही उससे द्विपाद् अर्थात् मनुष्यों और चतुष्पाद अर्थात पशुओं में सुख शान्ति स्थापित करने की प्रार्थना की गई है। **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** तथा **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना से प्रेरित ऋषि समस्त गाँव में सुख सम्पत्ति, धन धान्य, समृद्धि, पुष्टि और आरोग्यता की प्रार्थना रुद्र से करता है।

प्रो. योगी के अनुसार परमात्मा के पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ है कि सम्पूर्ण वनस्पति जगत्, तरङ्गो से युक्त समुद्र, वर्षा करने वाली मेघमाला सभी उसी परमात्मा के जटाजूट रूप हैं। जो मनुष्य परमात्मा को पिता रूप में स्वीकार करते हैं, उनका ऐश्वर्य उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। परन्तु परमात्मा वीर और मननशील मनुष्यों को ही पुत्र रूप में स्वीकार करता है। पराक्रम और बुद्धि इन दो गुणों के द्वारा ही मनुष्य शान्ति, पुष्टि और आरोग्य प्राप्त करता है। 'कपर्दि' शब्द से परमात्मा का विस्तृतसर्वव्यापी रूप मन में उभरता है।

टिप्पणियाँ-

1. **तवसे— सायण और वेंकट माधव ने इसे** √ तव्-वृद्धौ से निष्पन्न मान कर इसका अर्थ वृद्ध किया है। इसमे उणादि सूत्र 3.113 से 'असच्' प्रत्यय लगा है।

स्कन्दस्वामी के अनुसार इसका अर्थ 'बलशाली' है

सातवलेकर और पाश्चात्य विद्वानों ने भी 'बलशाली' अर्थ ही किया है।

स्वामी दयानन्द- 'ब्रह्मचारी' अर्थ किया है।

2. **क्षयद्वीराय— सायण ने इसके दो अर्थ किए हैं।** √ क्षि-क्षये से

निष्पन्न मानकर अर्थ किया जो (i) वीरों को नष्ट करने वाला है (ii) जिसके पुत्र मरुत् ऐश्वर्य से युक्त हैं।

वेंकट माधव ने सायण के प्रथम अर्थ को स्वीकार किया है।

स्कन्दस्वामी ने इसे √ क्षि-निवासगत्योः से निष्पन्न मान कर (i) वीर शत्रुओं का भी मुकाबला करने वाले अथवा (ii) स्वकीय वीरों को अभिमत स्थानों पर निवास देने वाले ये दो अर्थ किए हैं।

स्वामी दयानन्द– 'जिसके वीर दोषनाशक हैं'।

ग्रिफिथ– 'वीरों का स्वामी'

सातवलेकर– वीरों को आश्रय देने वाले।

क्षयत् में **'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे'** (3.2.124) सूत्र से लट् लकार के अर्थ में शतृ प्रत्यय आया है।

3. **प्र भरामहे**– प्र √ हृ लट् लकार, आत्मनेपद, उत्तम पुरुष, बहुवचन। यहाँ **'हृग्रहोर्भश्छन्दसि'** से 'हृ' के स्थान पर 'भ्' आदेश हो गया।

4. **शम्**– प्रायः **सभी विद्वानों** ने इस का अर्थ 'सुख' किया है परन्तु **सायण** ने इसका अर्थ 'शमनीय रोगों का उपशमन' किया है। **ग्रिफिथ** ने 'स्वास्थ्य' व **सातवलेकर** ने 'शान्ति' अर्थ किया है।

5. **मतीः**– **सभी विद्वानों** ने इसका अर्थ 'स्तुति' किया है केवल **स्वामीदयानन्द** ने इसका अर्थ 'प्रज्ञा' किया है।

7. **असत्**– √ अस् सत्तायाम् लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। **लिङर्थे लेट्'** (3.4.47) से वेद में लिङ् लकार के अर्थ में लेट् लकार का प्रयोग हुआ। पुनः **'लेटोऽडाटौ**, से अट् का आगम हुआ तथा **'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु** से 'ति' के 'इ' लोप हो गया।

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु।। 2।।

मृडा। नः। रुद्र। उत। नः। मयः। कृधि।
क्षयत्ऽवीराय। नमसा। विधेम ते।
यत्। शम्। च। योः। च। मनुः। आऽयेजे। पिता।
तत् ।अश्याम। तव। रुद्र। प्रऽनीतिषु।

अन्वय— रुद्र नः मृळा उत नः मयः कृधि क्षयद्वीराय नमसा ते विधेम। यत् शम् च योः मनुः पिता आयेजे रुद्र तव प्रणीतिषु तद् अश्याम।

सरलार्थ— हे रुद्र (रुद्र) हमें (नः) सुखी करो (मृळा) और (उत) हमारे लिए (नः) सुख (मयः) उत्पन्न करो (कृधि) शत्रुओं को नष्ट करने वाले (क्षयद्वीराय) नमस्कार द्वारा (नमसा) तुम्हारी सेवा करते हैं (विधेम। जिन (यत्) रोगों के उपशमन (शम्) तथा (च) कष्टों के निवारण को (योः) (हमारे) मननशील (मनुः) पूर्वजों ने (पिता) प्राप्त किया (आयेजे) हे रुद्र (रुद्र) आपके (तव) प्रकृष्ट मार्ग दर्शन में (प्रणीतिषु) (हम) उन्हें (तद्) प्राप्त करते रहें (अश्याम)।

सायण भाष्य- हे रुद्र नोऽस्मभ्यमस्मदर्थं मूळा त्वं सुखयिता भव। उतापि च तदनन्तरं नोऽस्माकं मयः सुखं कृधि। कुरु। वयं च क्षयद्वीराय क्षपितसर्ववीरं प्राप्तैश्वर्यैर्मरुद्भिर्युक्तं वा ते त्वां नमसा हविर्लक्षणेनान्नेन नमस्कारेण वा विधेम। परिचरेम। विधतिः परिचरणकर्मा। अपि च पितोत्पादको मनुः स्वकीयाभ्यः प्रजाभ्यः शं रोगाणां शमनं योश्च भयानां यावनं च यदेतद् द्वयमायेजे देवेभ्यः सकाशात्प्राप्य दत्तवान् हे रुद्र तव प्रणीतिषु प्रकृष्टनयनेषु सत्सु तद्वयमश्याम। व्याप्नुयाम। मृळ। मृड सुखने। तौदादिकः। द्व्यचोऽतस्तिङ इति संहितायां दीर्घः। कृधि। करोतेर्लोटि बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुक्। श्रुशृणुकृवृभ्यश्छन्दसीति हेर्धिः। कमीति मयसो विसर्जनीयस्य सत्वम्। क्षयद्वीराय। क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यमिति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। विधेम। विध विधाने। तौदादिकः। आयेजे। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। लिटि संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वात्सम्प्रसारणाभाव एत्वाभ्यासलोपौ। अश्याम। अशू व्याप्तौ। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुक्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में रुद्र से प्रार्थना की गई है कि वह हमें सुख दे और साथ ही ऐसी परिस्थितयाँ भी उत्पन्न करे जिससे हमे सुख प्राप्त होता रहे। हमारे मननशील पूर्वजों ने देवताओं से रोगों को शान्त करने तथा कष्टों को दूर करने के जो उपाय प्राप्त किए थे रुद्र के कुशल मार्ग निर्देशन में वे हमें प्राप्त हो जाएँ।

प्रो० योगी ने मन्त्र का अर्थ परमात्मा के पक्ष में करते हुए कहा है कि मनुष्य यदि वीर और बुद्धिमान् है तो परमात्मा उसे सदा ही सुख प्रदान करता है। उस परमात्मा की प्रेरणा हमें प्राप्त हो। दृष्टव्य प्रथम मन्त्र।

टिप्पणियाँ

1. मृळ- √ मृड्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। वेद में 'द्व्यचोऽतस्तिङः 6.3.135) से संहिता पाठ में अन्तिम 'अ' दीर्घ हो गया। वेद में दो स्वरों के बीच आने वाला 'ड्' ळ् में और 'ढ्' 'ळ्ह्' में परिवर्तित हो जाता है

अज्मध्यस्थ डकारस्य ळकारं बह्वृचाः जगुः।

अज्मध्यस्थ ढकास्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम्।।

सभी प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इसका अर्थ 'सुखी करो' किया है जबकि पाश्चात्य और आधुनिक विद्वानों ने इसका अर्थ 'कृपा करो' किया है।

2. मयस्कृधि- प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इसका अर्थ किया है 'सुखी करो'। सातवलेकर 'नीरोगी करो'। पाश्चात्य व आधुनिक विद्वान 'प्रसन्न करो'।

इससे पूर्वपद में भी रुद्र से सुखी करने की प्रार्थना की गई है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'मृळ' पद से देव कृपा द्वारा सुख-प्राप्ति की कामना की गई है तो मयस्कृधि पद से पुरुषार्थ करके सुख प्राप्ति की कामना है।

कृधि में √ कृ लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। पहले 'बहुलं छन्दसि' से विकरण का लोप हो गया और पुनः 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (6.4.102) से 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश हो गया।

3. क्षयद्वीराय- दृष्टव्य प्रथम मन्त्र।

4. नमसा - लौकिक साहित्य में नमः शब्द अव्यय है परन्तु वैदिक भाषा में यह सुबन्त शब्द था जिसके प्रत्येक विभक्ति और प्रत्येक वचन में रूप रहे होंगे परन्तु जिन रूपों का अधिक प्रयोग होता था वे शेष रह गए। बाकी शनैः शनैः लुप्त हो गए। यहाँ यह तृतीया विभक्ति, एक वचन का रूप है।

5. मनुः पिता— सायण ने अर्थ किया है 'उत्पन्न करने वाला मनु प्रदान करता है, परन्तु यह अर्थ अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता क्योंकि वैदिक युग में मनु की कल्पना 'उत्पादक मनु' के रूप में कहीं नहीं है। यह परवर्ती युग की देन है।

सातवलेकर तथा श्रीराम शर्मा ने इसका अर्थ 'मनुष्यों का पालक' किया है।

स्वामी दयानन्द ने 'मननशील पालक' यह अर्थ किया है।

प्रसङ्ग को देखते हुए इस मन्त्र में 'पिता' का अर्थ 'पूर्वज' करना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है जिन्होंने यज्ञ के माध्यम से सुख शान्ति उत्पन्न की।

6. शम् - द्रष्टव्य प्रथम मन्त्र।

7. योः - सायण ने इसका 'भयराहित्य' स्कन्दस्वामी ने' अनिष्टों से दूरी, स्वामी दयानन्द ने 'दुःखों से वियोग तथा सातवलेकर ने 'रोग निवारक शक्ति' यह अर्थ किया है।

8. आयेजे -आ √ यज् लिट् लकार, आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, एकवचन। यहाँ 'ईजे' रूप होना चाहिए था परन्तु वेद में सम्प्रसारण नहीं हुआ तथा एत्व होकर अभ्यास लोप हो गया।

सायण ने अर्थ किया 'देवों से प्राप्त करके प्रदान किया।

वेंकट माधव - 'देवताओं से मनुष्यों के लिए माँगा'।

स्कन्द स्वामी तथा ग्रिफिथ 'यज्ञ द्वारा प्राप्त किया गया'।

9. अश्याम- √ अशू -व्याप्तौ। यह आत्मनेपदी धातु है परन्तु वेद में व्यत्यय से परस्मैपद हो गया तथा 'बहुलं छन्दसि' से विकरण का लोप हो गया।

अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः।
सुम्नायन्निद् विशो अस्माकमा चरारिष्टवीरा जुहवाम ते हविः ।3।।

अश्याम। ते । सुऽमतिम्। देवऽयज्यया। क्षयत्ऽवीरस्य। तव। रुद्र। मीढ्वः।
सुम्नऽयन्। इत। विशः। अस्माकम्। आ। चर। अरिष्टऽवीराः। जुहवाम। ते। हविः।

अन्वय— मीढ्वः रुद्र देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव सुमतिम् अश्याम। अस्माकं विशः सुम्नायन् आचर अरिष्टवीराः ते हवि जुहवाम।

सरलार्थ— इच्छाओं की पूर्ति करने वाले (मीढ्वः) हे रुद्र (रुद्र) देवयाग के द्वारा (देवयज्यया)(हम) शत्रुओं को नष्ट करने वाले (क्षयद्वीरस्य) तुम्हारी (तव) कल्याण करने वाली बुद्धि को (सुमतिम्) प्राप्त करें (अश्याम)। हमारी (अस्माकम्) प्रजाओं को (विशः) सुखी करते हुए (सुम्नायन्) विचरण करो (आ चर) हिंसारहित वीर पुत्रों वाले (अरिष्टवीराः) (हम) तुम्हें (ते) हवि (हविः) प्रदान करते रहें (जुहवाम)।

सायण भाष्य- हे मीढ्वः सेक्तः कामाभिवर्षक नित्यतरुण वा रुद्र

क्षयद्वीरस्य क्षपितप्रतिपक्षस्य मरुद्भिर्युक्तस्य वा तव सुमतिं शोभनां कल्याणीमनुग्रहात्मिकां बुद्धिं ते त्वत्सम्बन्धिनो वयं देवयज्यया देवयागेन त्वद्देवत्येन यज्ञेनाश्याम। प्राप्नुवाम। त्वं चास्माकं विशः प्रजा अभिलक्ष्याचर। आगच्छ। किं कुर्वन्। सुम्नायन्नित्। सुम्नमिति सुखनाम। तासां प्रजानां सुखमिच्छन्नेव। सुखप्रद एव भवेत्यर्थः। ततो वयमरिष्टवीराः। वीर्याज्जायन्त इति वीराः प्रजाः। अरिष्टा अहिंसिता वीरा येषां तथाभूताः सन्तस्ते तुभ्यं हविश्च पुरोडाशादिकं जुहवाम। चोदित आधारे प्रक्षिपाम। सुमतिम्। मतिर्मननम्। शोभनं मननं यस्यां बुद्धौ सा सुमतिः। नञ्सुभ्यामित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। देवयज्यया। छन्दसि निष्टर्क्येत्यादौ यजेर्यत्प्रत्ययो निपात्यते स्त्रीलिङ्गता च। मीढ्वः। मिह सेचने। दाश्वान्साह्वान्मीढ्वानिति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातितः। सम्बुद्धौ मतुवसो रुरिति रुत्वम्। सुम्नायन्। सुम्नं परेषामिच्छति। छन्दसि परेच्छायामपीति क्यच्। न च्छन्दस्यपुत्रस्येतीत्वदीर्घयोर्निषेधः। देवसुम्नयोर्यजुषि काठके। पा. 7.4.38। इति विधीयमानमात्वं व्यत्ययेनात्रापि द्रष्टव्यम्।

स्पष्टीकरण –प्रस्तुत मन्त्र में रुद्र की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हम यज्ञ इत्यादि के द्वारा दूसरों का कल्याण करने वाली उसी बुद्धि को प्राप्त कर लें जो आपकी है। जिस प्रकार आप सदा परहित परायण रहते हैं उसी प्रकार हम भी परहित में रत रहें। रुद्र से पुनः प्रार्थना की गई है कि वह हमारी संतान व प्रजा को भी सुखी करे। हमारे पुत्र वीर तो हों परन्तु हिंसा आदि दोषों से रहित हों। ऐसे वीर तथा हिंसारहित पुत्रों से युक्त होकर हम सदा तुम्हारे लिए हवि प्रदान करते रहें।

यह ध्यातव्य है कि वैदिक ऋषि यद्यपि **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'** की नीति में विश्वास रखते थे, शत्रु व दुष्टों का विनाश भी चाहते थे तथापि हिंसा के लिए हिंसा करना उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं था।

प्रो. योगी के अनुसार परमात्मा की अनुग्रहात्मिका बुद्धि प्राप्त करने के लिए मनुष्य के द्वारा दिव्य भावना युक्त महात्माओं तथा विद्वानों की सङ्गति की जानी चाहिए। परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का त्याग कर दे। वैदिक विचारधारा के अनुसार स्वातन्त्र्य विकास के लिए अनिवार्य है। परन्तु परमात्मा हमारा पथ प्रदर्शक है। घनघोर अन्धकार में दीपक हाथ में लेकर मार्ग निर्देशन करता हुआ वह हमारे साथ चलता है। उसी को लक्ष्य करके 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय,

मृत्योर्मा अमृतं गमय' यह प्रार्थना की गई है। परमात्म प्रकाश को देखने वाला ही अरिष्टवीर है।

टिप्पणियाँ

1. **मीढ्वः**— √ मिह् -सेचने +क्वसु प्रत्यय। क्वसु प्रत्यय में लिट्वत् व्यवहार होने के कारण धातु का द्वित्व हो जाना चाहिए था परन्तु **'दाश्वान्साहवान्मीढ्वाँश्च'** (6.1.12) सूत्र से धातु का द्वित्व नहीं हुआ। **सायण** ने इसका अर्थ 'इच्छाओं की पूर्ति करने वाला' अथवा 'नित्य तरुण' किया है

स्कन्दस्वामी ने 'वृष्टि रूपी जल से सिञ्चन करने वाला' अथवा 'धनवान्' ये दो अर्थ किए हैं।

वेंकट माधव– 'सुख की इच्छा करता हुआ'। **सातवलेकर** – 'सुखदायक'।

स्वामी दयानन्द– 'सुखों से सींचता हुआ'। **ग्रिफिथ**– 'उदार, दानशील'।

2. **देवयज्यया** – **सायण** ने अर्थ किया है 'देवयाग के द्वारा' अर्थात् 'तुम्हारे निमित्त किए गए यज्ञ द्वारा'।

स्वामी दयानन्द तथा योगी जी 'विद्वानों की संगति अथवा सत्कार द्वारा'।

ग्रिफिथ– 'देवों की पूजा द्वारा'।

3. **अश्याम**– दृष्टव्य मंत्र प्रथम।

4. **क्षयद्वीरस्य**– दृष्टव्य प्रथम मन्त्र।

5. **सुमतिम्**– **सायण** ने अर्थ किया कि अनुग्रहात्मिका बुद्धि जो यज्ञ (देवयाग) करने से ही प्राप्त होती है। केवल स्तुति अथवा प्रार्थना करने से वह प्राप्त नहीं होती।

6. **विशः आभर— यहाँ आहर रूप होना चाहिए था।** आ + √ हृ + लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। **'हृग्रहोर्भश्छन्दसि'** से वेद में 'ह्' स्थान पर 'भ्' आदेश हो गया।

सायण ने इसका अर्थ किया– 'हमारी प्रजाओं की ओर आओ'।

स्कन्दस्वामी– 'हमारे पुत्र पौत्रादि अथवा ऋत्विजों की ओर गति करो'। **सातवलेकर** ने तृतीय और चतुर्थ चरण का अर्थ भिन्न प्रकार से किया है' हमारी प्रजाओं को अपने देवयजन से सुख देता हुआ तू हमारे लिए अनुकूल आचरण कर। हमारे वीरों का नाश न हो और हम सब तुम्हारे लिए अन्न अथवा दान अर्पण करें।

7. सुम्नायन्- निघण्टु 3.6 में सुम्न शब्द सुख का पर्याय है। यहाँ 'सुप आत्मनः क्यच् ' (3.1.18) सूत्र की वार्तिक 'छन्दसि परेच्छायामिति वक्यव्यम्' से 'क्यच्' प्रत्यय आया तथा देवसुम्नयोर्यजुषि काठके, (7.4.38) सूत्र से सुम्न का अन्तिम 'अ' दीर्घ होगया

सुम्ना+क्यच् + शतृ, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग में 'सुम्नायन्' रूप सिद्ध हुआ।

8. हविः— सायण ने इसका अर्थ 'पुरोडाशादि हवि' किया। सातवलेकर ने 'अन्न' अथवा 'दान' तथा स्वामीदयानन्द ने 'ग्रहण करने योग्य' अर्थ किया।

त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वङ्कुं कविमवसे निह्वयामहे।

आरे अस्मद्दैव्यं हेळो अस्यतु सुमतिमिद्वयमस्या वृणीमहे।।4।।

त्वेषम्। वयम्। रुद्रम्। यज्ञऽसाधम्।

वङ्कुम्। कविम्। अवसे। नि। ह्वयामहे।

आरे। अस्मत्। दैव्यम्। हेळः। अस्यतु।

सुऽमतिम्। इत्। वयम्। अस्य। आ। वृणीमहे।

अन्वय - त्वेषम् यज्ञसाधम् वङ्कुम् कविम् रुद्रम् वयम् अवसे निह्वयामहे। दैव्यम् हेळः अस्मत आरे अस्यतु सुमतिम् इत् वृणीमहे।

सरलार्थ - तेजस्वी (त्वेषम्) यज्ञ को सम्पन्न कराने वाले (यज्ञसाधम्) कुटिल गति वाले (वङ्कुम्) क्रान्तदर्शी (कविम्) रुद्र को (रुद्रम्) हम (वयम्) (अपनी) रक्षा के लिए (अवसे) आग्रह पूर्वक बुलाते हैं (निह्वयामहे)। (वह) देवताओं के (दैव्यम्) क्रोध को (हेळः) हमसे (अस्मत्) दूर (आरे) फेंक दे (अस्यतु) हम (वयम्) इसकी (अस्य) शोभन अनुग्रह रूप बुद्धि का (सुमतिम्) ही (इत्) वरण करते हैं (वृणीमहे)।

सायण भाष्य- अवसे रक्षणाय रुद्रं महादेवं निह्वयामहे। नितरामाह्वायामः। कीदृशम्। त्वेषं दीप्तं यज्ञसाधं यज्ञस्य साधयितारम्। एष हि यज्ञं स्विष्टं करोति। तथा च तैत्तिरीयके देवा वै यज्ञाद्रुद्रमन्तरायन्नित्युपक्रम्याम्नातम्। स्विष्टं वै न इदं भविष्यति यदिमं राधयिष्याम इति तत्स्विष्टकृत्त्वम्। तै. सं. 2.6.8.3.। इति वङ्कुं कुटिलगन्तारं कविं क्रान्तदर्शिनम्। स च रुद्रो दैव्यं देवस्य द्योतमानस्य सम्बन्धिनं

हेळः क्रोधमस्मदारेऽस्मत्तो दूरदेशेऽस्यतु। प्रेरयतु। अस्य महादेवस्य सुमतिमित् शोभनामनुग्रहरूपां बुद्धिमेव वयमा वृणीमहे। आभिमुख्येन सम्भजामहे। यज्ञसाधम्। यज्ञं साधयतीति यज्ञसात्। षिधू संराद्धौ। सिध्यतेरपारलौकिक इत्यात्वम्। यद्वा राध साध संसिद्धौ। अस्माद् ण्यन्तात् क्विप्। वङ्कुम्। वकि कौटिल्ये। औणादिक उप्रत्ययः। नि ह्वयामहे। निसमुपविभ्यो ह्व इत्यात्मनेपदम्। दैव्यम्। देवाद्यञञौ। पा. 4.1.85। इति प्राग्दीव्यतीयो यञ्। अस्यतु असु क्षेपणे। दैवादिकः। वृणीमहे। वृङ् सम्भक्तौ। क्रैयादिकः।

स्पष्टीकरण – रुद्र तेजस्वी है तथा नित्य यज्ञ करने की प्रेरणा देता हुआ उसे पूर्ण करवाने वाला भी है। तैतरीय संहिता में भी कहा गया है **'देवा वै यज्ञाद्रुद्रमन्तरायन्नित्युपक्रम्याम्नातम् स्विष्टं वै न इदं भविष्यति यदिमं राधयिष्याम इति। तत्स्विष्टं कृत्त्वम्** (तैतरीयसंहिता 2.6.8.3)। वह कुटिल गति वाला है। इसका तात्पर्य यह है कि जो भी उसे धोखा देने का, छलने का अथवा कुटिल व्यवहार करने का विचार करता है तो रुद्र उसके विषय में जान जाता है क्योंकि वह क्रान्तदर्शी है। त्रिकालदर्शी ही क्रान्तदृष्टि वाला कहा जाता है। ऐसे कुटिल व्यक्तियों के प्रति उसका क्रोध भड़क जाता है। योगी जी के शब्दों में **'योगी प्रभु भी काइयाँ वह है तेरा बाप। वदन मुकुर में दीखता अन्तर का सब पाप।।** अन्त में रुद्र से प्रार्थना की गई है कि वह अन्य देवताओं के क्रोध को भी हम से दूर रखे तथा हम उसकी परानुग्रहात्मिका शोभन बुद्धि का ही वरण करें।

योगी जी के अनुसार परमात्मा पूर्णशक्तिशाली व दीप्तियुक्त है। मनुष्य में धर्मानुकूल सब कार्य उसी की कृपा से सिद्ध होते हैं। कुछ मनुष्य स्वयं को बहुत चतुर चालाक मानते हुए यह समझने लगते हैं कि वे परमात्मा को धोखा दे सकते हैं परन्तु वह परमात्मा तो क्रान्तदर्शी व अन्तर्यामी है। ऐसे व्यक्ति उसके क्रोध का पात्र बनते हैं। मनुष्य को सदाचारी होना चाहिए तभी वह उसकी सुमति प्राप्त कर सकता है।

टिप्पणियाँ

1. त्वेषम् – सायण, स्कन्दस्वामी तथा वेंकट माधव ने इसका अर्थ 'दीप्तियुक्त' किया है। **सातवलेकर तथा श्रीराम शर्मा** ने **'तेजस्वी'** अर्थ किया है तथा **ग्रिफिथ** ने **'तीव्र प्रचण्ड'** अर्थ किया है।

2. यज्ञ साधम् – साधम् शब्द दो प्रकार से निष्पन्न किया जा सकता है (i) √ षिधू – संराद्धौ में णिच् आने पर लघूपध गुण करके **'सिध्यतेरपारलौकिके'**

(6.1.49) से आत्व' हुआ। अथवा (ii) √ साध्-संसिद्धौ में **क्विप्** प्रत्यय लगा कर साधम् बना। यह द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग है।

सायण, स्कन्दस्वामी तथा वेंकटमाधव आदि विद्वानों ने इसका अर्थ यज्ञ को सम्पन्न करवाने वाला किया है परन्तु **सातवलेकर** ने इसका अर्थ 'सत्कर्मसाधक' किया है।

3. **अवसे** -√ अव्+ असे प्रत्यय तुमन् के अर्थ में आया। सूत्र है **'तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेक्सेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः।**

सायण 'रक्षा के लिए। **ग्रिफिथ** 'सहायता के लिए'।

स्कन्दस्वामी ने अर्थ किया 'हवि द्वारा तृप्त करने के लिए' अथवा 'अपने पालन के लिए'।

4. **वङ्कुम्** -**सायण, वेंकटमाधव** तथा **स्कन्दस्वामी** ने इसका अर्थ 'कुटिल गति वाला' किया। उनके अनुसार यह √ वकि-कौटिल्ये में उणादि प्रत्यय 'उ' लगाकर निष्पन्न है।

स्वामी दयानन्द- 'कुटिल शत्रुओं के प्रति कुटिल'

सातवलेकर - 'स्फूर्तियुक्त'। **ग्रिफिथ** -'भ्रमण करने वाला'।

प्रो. योगी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि परमात्मा के क्रिया कलाप अत्यन्त विचित्र हैं जिन्हें साधारण मनुष्य नहीं समझ पाते God moves in a mysterious way दुर्बोध गति वाला होने के कारण ही उसे कुटिल गति वाला कहा गया है।

5. **कविम्**-**सायण**- क्रान्तदर्शी, **स्कन्दस्वामी** -मेधावी, **सातवलेकर**-ज्ञानी, **स्वामीदयानन्द**- सब शास्त्रों का क्रान्तदर्शी

6. **निह्वयामहे**- नि + √ ह्वेञ्-आत्मनेपद, लट्लकार, उत्तम पुरुष वहुवचन। यहाँ **'निसमुपविभ्यो ह्वः** (1.3.30) से आत्मनेपद का प्रयोग हुआ।

सायण ने इसका अर्थ- नितराम् आह्वयामः अर्थात् 'बहुत अधिक बुलाते हैं' किया है।

स्कन्दस्वामी 'नियमपूर्वक बुलाते हैं'।

स्वामी दयानन्द -'अपने सुख दुःख का निवेदन करते हैं।

प्रो. सत्यभूषण योगी- आग्रहपूर्वक बुलाते हैं।

7. दैव्यम्- यहाँ 'देवाद्यञञौ' (4.1.85 की वर्तिक) से देव मे 'यञ्' प्रत्यय आया। आदि वृद्धि होकर 'दैव्यम्, रूप बना।

8. आ वृणीमहे - आ + √ वृङ् - सम्भक्तौ + श्ना विकरण लट् लकार उत्तम पुरुष, बहुवचन, आत्मनेपद।

दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा निर्ह्वयामहे।

हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्म च्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्।। 5।।

दिवः। वराहम्। अरुषम्। कपर्दिनम। त्वेषम्। रूपम्। नमसा। नि। ह्वयामहे। हस्ते। बिभ्रत्। भेषजा। वार्याणि। शर्म। वर्म। छर्दिः। अस्मभ्यम्। यंसत्।

अन्वय-वराहम् अरुषम् कपर्दिनम् त्वेषं रूपम् दिवः नमसा निह्वयामहे। हस्ते वार्याणि भेषजा बिभ्रद् अस्मभ्यम् शर्म वर्म छर्दिः यंसत्।

सरलार्थ- अत्यन्त बलशाली (वराहम्) आरोचमान (अरुषम्) जटाजूटधारी (कपर्दिनम्) तेजस्वी रूप वाले (त्वेषं रूपम्) (रुद्र को) (हम) द्युलोक से (दिवः) नमस्कार सहित (नमसा) आग्रहपूर्वक बुलाते हैं (निह्वयामहे) हाथ में (हस्ते) सबके द्वारा वरणीय (वार्याणि) औषधियों को (भेषजा) धारण करते हुए (बिभ्रत्) हमें (अस्मभ्यम्) सुख (शर्म), कवच (वर्म) (और) घर (छर्दिः) प्रदान करे (यंसत्)।

सायण भाष्य -वराहं वराहारमुत्कृष्टभोजनम्! यद्व। वराहवद दृढाङ्गम्। अरुषमारोचमानं कपर्दिनं जटाभिर्युक्तं त्वेषं तेजसा दीप्यमानं रूपं निरूपणीयं वेदान्तैरधिगम्यम् एवंभूतं रुद्रं नमसा हविर्लक्षणेनान्नेन नमस्कारेण वा दिवो द्युलोकसकाशान्नि ह्वयामहे। नितरामाह्वयामः। स आहूतो रुद्रो हस्ते स्वकीये बाहौ वार्याणि सर्वैर्वरणीयानि भेषजा भैषज्यानि रोगशमनहेतुभूतानि बिभ्रत् धारयन् अस्मभ्यं स्तोतृभ्यः शर्मारोग्यलक्षणं सुखं वर्मायुधानां निवारकं कवचं छर्दिः। गृहनामैतत्। गृहं च यंसत् प्रयच्छतु। बिभ्रत्। डुभृञ् धारणपोषणयोः। जौहोत्यादिकः। लटः शतृ। भृञामिदित्यभ्यासस्येत्वम्। भेषजा। भिषज् चिकित्सायाम्। कण्डवादिः। पचाद्यच्। अतो लोपयलोपौ। सुमंगलभेषजाच्च। पा. 4.1.30। इति निपातनादूपसिद्धिः। शेश्छन्दसि बहुलमिति शेर्लोपः। वार्याणि। वृङ् सम्भक्तौ। ऋहलोर्ण्यत्। ईडवन्देत्याद्युदात्तत्वम्। छर्दिः। उच्छृदिर दीप्तिदेवनयोः। छृद्यते दीप्यते सुवर्णादिभिर्धनैः प्रकाश्यत इति च्छर्दिर्गृहम्। अर्चिशुचिहुसृपिच्छ.... दादिच्छर्दिभ्य इसिः। यंसत। यम उपरमे। लेट्यडागमः। सिब्बहुलं लेटीति सिप्। इतश्च लोप इतीकारलोपः।

स्पष्टीकरण – प्रस्तुत मन्त्र में रुद्र को वराह कहा गया है क्योंकि वह वराह के समान अत्यधिक बलशाली है अथवा तत् सदृश दृढ़ अङ्गों वाला है। वह प्रकाशमान है क्योंकि उसका लोहित वर्ण होना ही उसकी प्रकाशमत्ता को सूचित करता है। वह जटाजूटधारी व तेजस्वी है ऐसे रुद्र के लिए हम नमस्कार भी करते है और साथ ही शुभ स्तुतियों का उच्चारण भी करते हैं। वस्तुतः वैदिक युग में नमस्कार की पूर्णता तभी मानी जाती थी जब हाथ जोड़कर नमस्कार भी किया जाए तथा मुहँ से स्तुतियों का उच्चारण भी किया जाए तुलनीय उप त्वाग्ने **दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि** (ऋग्वेद 1.1.7) यहाँ अग्नि के प्रति एकाग्र बुद्धि से नमस्कार करने का अभिप्राय ही यह है कि हाथ जोड़ने के साथ साथ स्तुतियों का उच्चारण भी किया जा रहा है। इसी कारण प्रस्तुत मन्त्र में भी नमस्कार करते हुए रुद्र का आह्वान किया जा रहा है। हाथों में वह रोगनिवारक औषधियों को धारण करता है। रुद्र को सर्वश्रेष्ठ वैद्य कहा गया है **'भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि'**। अतः वह सब रोगों से मुक्ति दिलवाने में समर्थ है। ऐसा रुद्र हमें सुख, अस्त्र शस्त्रों से रक्षा करने वाला कवच तथा रहने के लिए घर प्रदान करे।

प्रो. योगी के अनुसार यदि भगवन्महिमा देखनी है अथवा भगवान् का साक्षात्कार करना है तो द्युलोक का अवलोकन करना चाहिए। तारक मण्डित द्युलोक आरोचमान, दीप्तिमान् व अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है। रात्रि में तारे विभिन्न पशु पक्षियों के समान आकार वाले दृष्टिगोचर होते हैं तो दिन में प्रकाशयुक्त सूर्य अकेला ही भ्रमण करता है। कभी आकाश में विद्युल्लसित मेघ (वराह) मन को आकर्षित करते हैं। ऊपर स्थित यह विशाल ब्रह्माण्ड उस परमात्मा की सुन्दर लीला का अल्पांश है। इस प्रकार का महाशक्तिशाली भगवान् हमारा पिता है। वही सब रोगों व कष्टों को हर्ता भी है। उसकी शरण में शाश्वत सुख है।

टिप्पणियाँ

1. **वराहम्**–सायण ने इसके दो अर्थ किए हैं (i) **'उत्कृष्ट भोजन'** वर आहारम् और (ii) वराह के समान दृढ़ अङ्गों वाला।

स्कन्द स्वामी ने तीन अर्थ दिए है। (i) वराह नामक असुर के समान अत्यन्त बलवान (ii) निघण्टु 10 में वराह मेघ का पर्याय है। रुद्र मेघ के समान है क्योंकि उसका कण्ठ भी मेघ के समान नील वर्ण है अतः एकदेशसादृश्य से

समस्त सादृश्य सूचित होने के कारण रुद्र को मेघसदृश कहा गया है।

(iii) सूकर के समान आकार वाला। स्कन्दस्वामी के अनुसार अन्य देवताओं की भाँति रुद्र भी अपनी महानता के कारण भिन्न भिन्न रूप धारण करने में समर्थ है, देवता हि महाभाग्यात् तं तमाकारं भजते'। पाश्चात्य विद्वानों ने वराहम् का सम्बन्ध 'दिवः' से माना है तदनुसार अर्थ किया है 'हम द्युलोक के वराह को बुलाते हैं।

2. **अरूषम्– सायण** और **वेंकट माधव** ने इसका अर्थ 'आरोचमान' किया है। **स्कन्दस्वामी** ने इसे √ अरुष्–गत्यर्थक धातु से निष्पन्न मान कर अर्थ किया है 'शत्रुओं अथवा यज्ञों के प्रति जाने वाला'। निघण्टु 2.14 में कहा गया है– **'अरुषम् अरुषतिर्गतिकर्मा'**।

सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'लाल' किया है।

3. **रूपम्–सायण** ने इसका अर्थ 'वेदान्तों के द्वारा जानने योग्य' किया है।

स्कन्द स्वामी—'अनेक रूपों से युक्त'

योगी जी— निरूपणीय, सुरूप

परन्तु कुछ विद्वानों ने इसे रुद्र का पृथक् विशेषण न मान कर त्वेषम् का विशेष्य मान लिया और अर्थ किया 'तेजस्वी रूप वाले'।

4. **नमसा** – दृष्टव्य मन्त्र 2 ।

5. **वार्याणि** – √ वृङ्– सम्भक्तौ। यहाँ **ऋहलोर्ण्यत्'** (3.1.124) से 'ण्यत्' प्रत्यय आया। आदि वृद्धि होकर यह प्रथमा द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, नपुसंकलिङ्ग का रूप है।

प्रायः **सभी विद्वानों** ने इसका 'वरणीय' अर्थ किया है। केवल **सातवलेकर** ने इसका 'रोग निवारक' अर्थ किया है।

6. **भेषजा**– यहाँ भेषजानि रूप होना चाहिए था परन्तु **'शेश्छन्दसि बहुलम्'** से 'शि' का लोप हो गया।

7. **शर्म** – √ शृ + मनिन्, प्रथमा द्वितीया विभक्ति, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग। **सायण** ने इस का अर्थ 'आरोग्य रूपी सुख' किया। **सातवलेकर** 'आन्तरिक सुख' व **अन्य सभी विद्वानों** ने इस का अर्थ 'सुख' किया।

8. **छर्दिम्**– √ छृद् +इंसि प्रत्यय। यहाँ **'अर्चिशुचिसृचिच्छ ....**

दादिच्छर्दिभ्य 'इसिः' सूत्र से 'इसि' प्रत्यय आया है। √ उच्छृदिर- छृद् धातु का अर्थ है- दीप्ति देवनयोः। निघण्टु 3.4 में छर्दि गृह का पर्याय है- छर्दिः गृहनामैतत्। जो सुवर्णादि धन से प्रकाशित होता है वह छर्दि घर है।

सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'घर' किया है केवल स्वामी-दयानन्द ने इसका अर्थ 'दीप्तियुक्त शास्त्रादि' किया है।

9. त्वेषम् - दृष्टव्य मंत्र 4।

10. निह्वयामहे- दृष्टव्य मंत्र 4 ।

11. यंसत्- √ यम्- उपरमे, लेट् लकार। 'लेटोऽडाटौ' से 'अट्' और 'सिब्बहुलं लेटि' से 'सिप् का आगम हुआ तथा 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु से 'इ' का लोप हो गया।

प्रस्तुत मंत्र में एक विसंगति प्रतीत होती है। रुद्र अन्तरिक्षस्थानीय देवता है परन्तु उसे द्युलोक से बुलाए जाने का उल्लेख है। मंत्र 10 में स्पष्टतः उसे 'द्विबर्हाः' कहा गया है अर्थात् जो अन्तरिक्ष व पृथ्वी दोनों ही लोकों में वृद्धि को प्राप्त कर रहा है।

इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्।
रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृळ।। 6।।

इदं। पित्रे। मरुताम्। उच्यते। वचः। स्वादोः। स्वादीयः। रुद्राय। वर्धनम्। रास्व। च। नः अमृत। मर्तऽभोजनं। त्मने। तोकाय। तनयाय। मृळ।।

अन्वय - मरुतां पित्रे रुद्राय वर्धनम् स्वादोः स्वादीयः इदम् वचः उच्यते। अमृत नः मर्तभोजनम् रास्व च त्मने तोकाय तनयाय मृळ।

सरलार्थ- मरुतों के (मरुताम्) पिता (पित्रे) रुद्र के लिए (रुद्राय) वृद्धि करने वाला (वर्धनम्) (तथा) स्वादु से अधिक स्वादिष्ट (स्वादोः स्वादीयः) यह (इदम्) (स्तुति) वचनं (वचः) कहा जाता है (उच्यते)। हे मरणरहित (अमृत) (रुद्र) हमारे लिए (नः) मनुष्यों के लिए पर्याप्त भोजन (मर्तभोजनम्) दो (रास्व) और (च) हमारे (त्मने) पुत्र (तोकाय) पौत्रों को (तनयाय) सुख दो (मृळ)।

सायण भाषय- इदं स्तुतिलक्षणं वचो मरुतामेकोनपञ्चाशत्संख्याकानां देवशिष्याणां पित्रे जनकाय रुद्रायेश्वरायोच्यते। उच्चार्यते। कीदृशम्। स्वादोः स्वादीयो

रसवतो मधुघृतादेरपि स्वादुतरम्। अतिशयेन हर्षजनकमित्यर्थः। वर्धनं स्तुत्यस्य प्रवर्धकम्। स्तोत्रेण हि देवता हृष्टा सती प्रवर्धते। रुद्रस्य च मरुतां पितृत्वमेवमाख्यायते। पुरा कदाचिदिन्द्र असुराञ्जिगाय। तदानीं दितिरसुरमातेन्द्रहननसमर्थं पुत्रं कामयमाना तपसा भर्तुः सकाशाद् गर्भं लेभे। इमं वृत्तान्तमवगच्छन्निन्द्रो वज्रहस्तः सन् सूक्ष्मरूपो भूत्वा तस्या उदरं प्रविश्य तं गर्भं सप्तधा बिभेद। पुनरप्येकैकं सप्तखण्डमकरोत्। ते सर्वे गर्भैकदेशा योनेर्निगत्यारुदन्। एतस्मिन्नवसरे लीलार्थं गच्छन्तौ पार्वतीपरमेश्वराविमान् ददृशतुः। महेशं प्रति पार्वत्येवमवोचत्। इमे मांसखण्डा यथा प्रत्येकं पुत्रः सम्पद्यन्तामेवं त्वया कार्यं मयि चेत्प्रीतिरस्तीति। स च महेश्वरस्तान्समानरूपान् समानवयसः समानालंकारान् पुत्रान्कृत्वा गौर्यै प्रददौ तवेमे पुत्राः सन्त्विति। अतः सर्वेषु मारुतेषु सूक्तेषु मरुतो रुद्रपुत्रा इति स्तूयन्ते। रौद्रेषु च मरुतां पिता रुद्र इति। अपि च हे अमृत मरणरहित रुद्र मर्तभोजनं मर्तानां मनुष्याणां भोगपर्याप्तमन्नं नोऽस्मभ्यं रास्व। प्रयच्छ यथा प्रजास्था जना राजाज्ञां स्वीकुर्वन्ति तथा राजपुरुषा अपि प्रजाज्ञां मन्येरन्।। तथा त्मने आत्मने। द्वितीयार्थं चतुर्थी। मां तोकाय तोकं पुत्रं तनयाय तत्पुत्रं च मृळ। सुखय। पित्रं। उदात्तयण इतिविभक्तेरुदात्तत्वम्। रास्व। रा दाने। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। त्मने मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मन इत्यत्राङोऽन्यत्रापिच्छन्दसि दृश्यते। का. 6.4.141.1। इति वचनादात्मन आकारलोपः।

स्पष्टीकरण- प्रत्येक रुद्र सूक्त में रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में कहा है कि एक बार इन्द्र ने असुरों की नगरी को जीत लिया। तब असुरों की माता दिति ने इन्द्र को मारने में समर्थ पुत्र प्राप्त करने के लिए तप द्वारा अपने पति से गर्भ धारण किया। इस वृत्तान्त को जानकर इन्द्र वज्र हाथ में धारण करके सूक्ष्म रूप होकर उसके पेट में प्रविष्ट हो गया और गर्भ के सात भाग कर दिए और फिर पुनः एक एक भाग के सात सात भाग और कर दिए। वे सब अंश बाहर आकर रोने लगे। तभी लीला के लिए जाते हुए शिव पार्वती ने उन्हें देखा। पार्वती जी ने शिव जी से उन्हें पुत्रों में परिवर्तित करने को कहा। शिवजी ने उन्हें समरूप, समवय और समान अलंकार युक्त करके पार्वती को देते हुए कहा कि अब से ये तुम्हारे पुत्र हैं। तभी से शिव अर्थात् रुद्र मरुतों के पिता बन गए।

प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि हम रुद्र को बढ़ाने वाले अत्यन्त मधुर स्तुति वचनों का उच्चारण करते हैं। स्तुति से प्रसन्न होकर देवता वृद्धि को प्राप्त होते हैं, यह वेदों में अनेकशः कहा गया है। तुलनीय **'वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे'** (ऋग्वेद 7.100.7)। रुद्र से पुनः प्रार्थना की गई है कि प्रसन्न हुआ रुद्र सभी

मनुष्यों के भोग के लिए पर्याप्त अन्न दे तथा हमें और हमारे पुत्र पौत्रादि को सुख प्रदान करे।

प्रो. योगी के अनुसार इस मंत्र का संप्रेषित अर्थ है कि मैं रुद्र की महिमा को जानता हूँ इसी कारण मधुरतम शब्दों में मेरे हृदय से उसके लिए स्तुतिवचन निस्सृत होते हैं। रुद्र अमर्त्य है, मैं मर्त्य हूँ। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुरूप उसके मन में इच्छाएँ भी उत्पन्न होती हैं और उनकी पूर्ति की इच्छा भी रहती है क्योंकि पञ्चभूत शरीर मेरे साथ संलग्न है और इसी शरीर के लिए मर्तभोजन भी चाहिए।

संक्षेप में यहाँ सांसारिक विषय भोगों को परित्याज्य नहीं बतलाया गया क्योंकि वैशेषिक दर्शन में स्पष्ट कहा गया है **'यतोऽभ्युदयानिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।** योगवसिष्ठ में भी कहा गया है **'भोगयोगपरो भव'**। ईशोपनिषद् में भी अविद्या और विद्या का समन्वय स्थापित किया गया है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

टिप्पणियाँ

1. मरुतां पित्रे –सभी विद्वानों ने इस का अर्थ 'मरुतो के पिता के लिए' किया है। यास्काचार्य ने मरुत् की निरुक्तियाँ इस प्रकार दी हैं– **'मरुतो मितराविणो मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा'** अर्थात् जो सुशिलष्ट होकर शब्द करते हैं अथवा प्रकाशित होते हैं अथवा बहुत अधिक द्रवित होते हैं अर्थात् बरसते हैं। **मरुत् शब्द √ मर धातु से निष्पन्न है जिसकर अर्थ है 'प्रकाशित होना'** अथवा **'कुचलना'**। ये दोनों ही निरुक्तियाँ मरुतों के लिए उपयुक्त हैं क्योकि मरुत् मूलतः द्युतिमान् देवता हैं और वनों को कुचलने के कारण दूसरा अर्थ भी ग्राह्य है। **पाश्चात्य विद्वानों ने** इसे √ मृ –मरणे से निष्पन्न मान कर इन्हें प्रेतात्माओं का मूर्तीकरण माना है परन्तु ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। तथापि 'मरुत्' शब्द का निर्वचन अनिश्चित ही है।

2. **स्वादोः स्वादीयः**– यह 'वचः' का विशेषण है। **सायण** ने इसका अर्थ किया है – रसयुक्त मधु, घृत आदि से भी अधिक स्वादिष्ट अर्थात् 'अत्यधिक हर्ष प्रदान करने वाला'।

स्कन्द स्वामी ने अर्थ किया है – 'मन को अत्यधिक प्रसन्न करने

वाला'।

3. **मर्तभोजनम्** – सायण ने अर्थ किया 'मनुष्यों मे भोग योग्य अन्न'। निघण्टु 2.10 में भोजन शब्द धन के पर्याय रूप में गिनवाया गया है। इस आधार पर **स्कन्दस्वामी** ने 'मनुष्यों' के भोग योग्य धन' अर्थ किया है।

4. **रास्वा** – √ रा-दाने, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। **व्यत्ययो बहुलम्**' (3.1.85) सूत्र से आत्मनेपद आया तथा '**द्व्यचोऽतस्तिङः**' (6.3.135) सूत्र से अन्तिम 'अ' दीर्घ हुआ।

5. **त्मने** – **यहाँ 'आत्मने' रूप होना चाहिए था** क्योंकि यह आत्मन् शब्द, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन का रूप है परन्तु '**मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः** (6.4.141) सूत्र की वार्तिक '**आङोऽन्यत्रापि छन्दसि लोपो दृश्यते**' से 'आत्मने' के आ का लोप हो गया। **सायण** के अनुसार त्मने, तोकाय, तनयाय तीनों में द्वितीया विभक्ति के अर्थ में चतुर्थी का प्रयोग हुआ है।

6. **तोकाय तनयाय** – **प्रायः सभी विद्वानों ने** इस का अर्थ 'पुत्र पौत्रादि सहित' किया है परन्तु **स्वामी दयानन्द** ने तोकाय का अर्थ 'छोटा बालक' तथा 'तनयाय' का अर्थ 'युवा पुत्र' किया।

7. मृळ – √ मृळ्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। दृष्टव्य मन्त्र 2।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥7॥

मा। नः। महान्तम्। उत। मा। नः। अर्भकम्। मा। नः। उक्षन्तम्। उत। मा। नः। उक्षितम्।
मा। नः। वधीः। पितरम्। मा। उत। मातरम्। मा। नः। प्रियाः। तन्वः। रुद्र। रीरिषः॥

अन्वय– रुद्र नः महान्तम् उत नः अर्भकम् उत नः उक्षन्तम् उत नः उक्षितम् नः पितरम् उत मातरम् मा वधीः नः प्रियाः तन्वः मा रीरिषः।

सरलार्थ– हे रुद्र (रुद्र) हमारे (नः) बड़े (महान्तम्) और (उत) हमारे (नः) बालक को (अर्भकम्) वृद्धि को प्राप्त हो रहे (उक्षन्तम्) और (उत) हमारे (नः) वृद्धि को प्राप्त कर लेने वाले को (उक्षितम्) हमारे (नः) पिता (पिता) और (उत) माता को (मातरं) मत (मा) मारो (वधीः) हमारे (नः) प्रिय (प्रियाः) शरीरों की (तन्वः) (भी) हिंसा मत करो (मा रीरिषः)।

सायण भाष्य– हे रुद्र नोऽस्माकं मध्ये महान्तं वृद्धं मा वधीः। मा हिंसीः। उतापि च नोऽस्माकमर्भकं बालं मा हिंसीः। तथा मध्य उक्षन्तं सेक्तारं मध्यवयस्कं

युवानं मा वधीः। उतापि च नोऽस्माकमुक्षितं गर्भरूपेण स्त्रीषु निषिक्तमपत्यं मा वधीः तथा नोऽस्माकं पितरं जनकं मा वधीः। तथा मातरं जननीं मा वधीः। तथा च नोऽस्माकं प्रियाः स्नेहविषयास्तन्वः शरीराणि तनूषु भवाः प्रजा वा हे रुद्र मा रीरिषः। मा हिंसीः। वधीः। हन्तेर्माङि लुङि चेति वधादेशः। स चादन्तः। सिच इट्। अतो लोपस्य स्थानिवद्भावाद्वाद्ध्यभावः। रिषः। रिष हिंसायाम्। ण्यन्ताल्लुङि चङि णिलोपोपधाह्रस्वत्वादीनि। छान्दसः पदकालीनोऽभ्यासह्रस्वः।

स्पष्टीकरण- प्रस्तुत मन्त्र से यह स्पष्ट है कि रुद्र का सम्बन्ध मृत्यु से भी है। इसी कारण प्रसिद्ध महामृत्युञ्जय मन्त्र में भी रुद्र की स्तुति की गई है। प्रस्तुत मन्त्र में रुद्र से प्रार्थना की है कि हममें जो वृद्ध है, जो बच्चा है, जो सन्तानोत्पत्ति में समर्थ युवा है और जो स्त्रियों में गर्भरुप में स्थापित होकर भ्रूण बन गया है उसे भी मत मारो। हमारे पिता और माता का भी वध मत करो और न ही हमारे शरीर की हिंसा करो। समभवतः शरीर की हिंसा से तात्पर्य है कि किसी भी प्रकार का अङ्गभङ्ग अथवा विकृति न हो।

प्रो. योगी के अनुसार मनुष्य जीवन में प्रतिक्षण सत् असत् का संघर्ष चलता रहता है। जो परमात्मा के नियमों का पालन करता है वह सदैव अहिंसित रहता है।

टिप्पणियाँ

1. उक्षन्तम् उक्षितम्- **सायणा** ने इसे √ उक्ष्- सेचने से निष्पन्न मान कर इसका अर्थ किया है 'सन्तानोत्पत्ति में समर्थ युवा' तथा 'उक्षितम्' का अर्थ किया 'गर्भ रूप में स्त्रियों में निषिक्त अपत्य' अर्थात् 'भ्रूण'।

स्कन्द स्वामी ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। परन्तु **सातवलेकर, योगीजी, ग्रिफिथ** इत्यादि ने इसका अर्थ किया है 'वृद्धि को प्राप्त करते हुए और वृद्धि को प्राप्त कर चुकने वाले'। उन्होने यह अर्थ यास्काचार्य के अनुसार किया है क्योंकि यास्क के अनुसार इसमें √ उक्ष् धातु वृद्धयर्थक है। इस पद का सम्भवतः यह अर्थ भी हो सकता है कि तुम उस गर्भ की रक्षा करो जो माता के उदर में वृद्धि को प्राप्त हो रहा है और उस शिशु की रक्षा करो जो वृद्धि को प्राप्त हो चुका है और अब उत्पन्न होने वाला है। **उक्षन्तम्** में √ उक्ष् + शतृ प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग है।

उक्षितम् में √ उक्ष्+ क्त प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन पुल्लिङ्ग है।

2. मा वधीः- हन्+ लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन 'लुङि च', (2.4.43) से 'हन्' के स्थान पर 'वध्' का आदेश हुआ तथा '**न माङ्योगे**' (6.4.74) से अट् का निषेध हुआ।

3. रीरिषः- √ रिष्- हिंसायाम् '**तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य**' (6.1.17) से अभ्यास का दीर्घ हो गया। 'श्लु' विकरण के कारण धातु का द्वित्व हुआ। लोट् लकार' मध्यम पुरुष, एकवचन।

4. प्रियाः तन्वः-सायण ने दो अर्थ किए हैं (i) प्रिय शरीर अथवा (ii) 'शरीरों से उत्पन्न संतान।

स्कन्दस्वामी व **सातवलेकर** ने भी 'प्रिय शरीर' अर्थ किया परन्तु **श्रीराम आचार्य** ने' हमारे प्रियजनों के शरीरों को' यह अर्थ क्रिया।

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे।। 8।।

मा। नः। तोके। तनये। मा। नः। आयौ। मा। नः। गोषु। मा। नः। अश्वेषु। रीरिषः।
वीरान्। मा। नः। रुद्र। भामितः। वधीः। हविःऽमन्तः। सदम्। इत्। त्वा। हवामहे।

अन्वय- नः तोके तनये नः आयौ नः गोषु नः अश्वेषु मा रीरिषः। रुद्र भामितः नः वीरान् मा वधीः हविष्मन्तः सदम् इत् त्वा हवामहे।

सरलार्थ -हमारे (नः) पुत्र (तोके) पौत्र (तनये) हमारे (नः) जीवन (आयौ) हमारी (नः) गाय (गोषु) (और) हमारे (नः) घोड़ो पर (अश्वेषु) हिंसा मत करो (मा रीरिषः)। हे रुद्र (रुद्र) क्रुद्ध हुए (भामितः) (तुम) हमारे (नः) वीरों को (वीरान्) मत (मा) मारो (वधीः) हवि से युक्त (हविष्मन्तः) सदा (सदम्) ही (इत्) तुम्हें (त्वा) बुलाते हैं (हवामहे)।

सायण भाष्य- मा अस्माकं तत्पुत्रे न, मा च अन्यस्मिन् मदीये पुरुषे मा नः गोषु मा च अस्माकम् अश्वेषु हिंसीः। मा चास्माकम् समर्थान् क्रुद्धः वधीः हविष्मन्तः सदैव त्वां वयम् हवामहे। सा.- हे रुद्र नोऽस्माकं तोकादिविषये मा रीरिषः। मा हिंसीः। तोकशब्दः पुत्रवाची। तनयस्तत्पुत्रः। आयुरित्यन्तोदात्तो मनुष्यनाम। पुत्रपौत्रव्यतिरिक्तो योऽस्मदीयो मनुष्यस्तस्मिन् गोषु पश्वादिष्वश्वेषु च मा रीरिषः। हिंसां मा कृथाः। तथा हे रुद्र वीरान् विक्रान्तान् शौर्योपेतानस्मदीयान् भामितः क्रुद्धः सन् मा वधीः। मा हिंसीः। वयं च हविष्मन्तो हविभिर्युक्ताः सन्तः सदमित् सर्वदैव त्वां हवामहे। आह्वयामहे। आयौ। इण् गतौ। छन्दसीण इत्युणप्रत्ययः। भामितः। भाम

क्रोधे क्रोधिकरणे चेति कर्तरि क्तः। हवामहे ह्वेञो लटि बहुलं छन्दसीति सम्प्रसारणम्।।

स्पष्टीकरण – प्रस्तुत मन्त्र में भी रुद्र से प्रर्थना की गई है कि वह हमारे पुत्र पौत्र, हमारी स्वयं की, हमारे गौओं घोड़ों सबकी रक्षा करे, उनकी हिंसा मत करे। हिंसा का अभिप्राय यहाँ हर प्रकार के शारीरिक व मानसिक कष्ट से है। रुद्र हमारे वीरों का वध भी न करे क्योंकि वीर हो तो राष्ट्र की सुरक्षा करते हैं। हम हवि अर्पित करके सदा ही तुम्हारा आह्वान करते हैं अर्थात हम हवि प्रदान करके और मधुर स्तुतियों द्वारा तुम्हें यज्ञ में बुलाते हैं।

प्रो. योगी के अनुसार पिछले मन्त्र में अमरणशील रुद्र से मर्तभोजन प्रदान करने की प्रार्थना की गई थी। प्रस्तुत मन्त्र में मर्तभोजन का विस्तार है। जब मनुष्य दुष्कर्म करता है तब स्वयं उसके पुत्र पौत्र, बन्धुजन, पशु इत्यादि सभी वीरता से रहित हो जाते हैं। इस संसार में यहीं सब मर्तभोजन के साधन हैं। भोगरहित मनुष्य योग साधना करने में समर्थ नहीं होता। बहुत पुरानी उक्ति है **'भूखे पेट भजन होय न गोपाला'**। भोगों को अनावश्यक मान भोगों का त्याग करने वाला मनुष्य तो योगसाधना करने में समर्थ है परन्तु भोगों का त्याग न करते हुए भी योगसाधना सम्भव है, ऐसा प्रस्तुत मन्त्र का अभिप्राय है।

टिप्पणियाँ–

1. **तोके तनये** –दृष्टव्य मन्त्र 6।
2. **रीरिषः** – दृष्टव्य मन्त्र –7।
3. **आयौ** – सायण के अनुसार इसमें आ + √ इण् –गतौ में उणादिसूत्र (संख्या 2) **'छन्दसीणः'** से उण् प्रत्यय आया। यह सप्तमी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग है।

सायण ने इसका अर्थ 'पुत्र पौत्र के अतिरिक्त जो हमारे मनुष्य हैं उनको मत मारो' किया है। निघण्टु 2.3 में आयु शब्द मनुष्य का पर्यायवाची है **'आयव इति मनुष्यनामसु'**। सम्भवतः इसी आधार पर **स्कन्दस्वामी** ने आयु शब्द का अर्थ 'सेवक' इत्यादि कर दिया। परन्तु इस का हमारी अपनी आयु अर्थात् हमारा स्वयं का जीवन यह अर्थ भी उचित और प्रसङ्गानुकूल प्रतीत होता है। अपना जीवन तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण महाकवि कालिदास ने कहा **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**। तथा अग्निहोत्रावयवोपासनाप्रकार में भी प्राणों को ही अग्निहोत्र कहा गया है **'प्राणऽए वाग्नि होत्रम्'** क्योंकि जीवन रूपी यात्रा प्राणों के बिना

सम्भव नहीं है।

4. त्वा- यहाँ 'त्वाम्' रुप होना चाहिए था परन्तु 'सुपां सुलुक' इत्यादि सूत्र से विभक्ति लोप हो गया। यह द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग का रूप है।

5. सदम् - प्रायः सभी विद्वानों ने 'सदम्' को सदा का पर्याय माना है जबकि सातवलेकर ने इस का अर्थ 'घर' किया है।

6. हवामहे- √ ह्वे- आह्वाने, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन, आत्मेनपद। 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से सम्प्रसारण हो गया।

7. वधीः - दृष्टव्य मन्त्र 7।

8. भामितः - √ भाम् -क्रोधे + क्त प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

उप॑ ते॒ स्तोमा॑न्पशु॒पा इ॒वाक॑रं॒ रास्वा॑ पितर्मरुतां सु॒म्नम॒स्मे।
भ॒द्रा हि ते॑ सु॒म॒ति मृ॑ळ॒यत्त॒माथा॑ व॒यमव॒ इत्ते॑ वृणीमहे।।9।।

उप॑। ते॒। स्तोमा॑न्। प॒शु॒पाःऽइ॑व। आ।
अ॒क॒र॒म्। रास्व॑। पि॒तः॒। म॒रु॒ता॒म्। सु॒म्नम्। अ॒स्मे इति।
भ॒द्रा। हि। ते॑। सु॒ऽम॒तिः। मृ॒ळ॒यत्ऽत॑मा। अथ।
व॒यम्। अव॑ः। इत्। ते॒। वृ॒णी॒म॒हे॒।

अन्वय- पशुपाः इव ते स्तोमान् उप अकरम् मरुतां पितः अस्मे सुम्नम् रास्व। ते भद्रा सुमतिः मृळयत्तम अथ वयं ते अवः इत् (वृणीमहे)।

सरलार्थ- (हे रुद्र) पशुओं की रक्षा करने वाले अर्थात् पशुपालक के (पशुपाः) समान (इव) तुम्हारी (ते) स्तुतियों को (स्तोमान्) (तुम्हें ही) समर्पित करता हूँ (उप अकरम्) हे मरुतों के पिता (मरुतां पितः) हमें (अस्मे) सुख (सुम्नम्) दो (रास्व)। तुम्हारी (ते) कल्याण करने वाली (भद्रा) सुन्दर अनुग्रहात्मिका बुद्धि (सुमतिः) अत्यधिक सुख द्रे (मृळ्यत्तम) हम (वयम्) तुम्हारी (ते) रक्षा का (अवः) ही (इत्) वरण, करते हैं (वृणीमहे) अर्थात् हम तुमसे रक्षा की ही प्रार्थना करते हैं।

सायण भाष्य- हे रुद्र स्तोमान् स्तुतिरूपान्मन्त्रान् ते तुभ्यमुपाकरम्। उपाकरोमि। समर्पयामि। तत्र दृष्टान्तः। पशुपा इव। यथा पशूनां पालयिता गोपः प्रातः काले स्वस्मै समर्पितान्पशून् सायंकाले स्वामिभ्यः प्रत्यर्पयति एवं त्वत्सकाशाल्लब्धवान्

स्तुतिरूपान्मन्त्रान् स्तुतिसाधनतया तुभ्यं प्रत्यर्पयामीत्यर्थः। हे मरुतां पितर्मरुत्संज्ञानां देवानामुत्पादक रुद्र नोऽस्मभ्यं सुम्नं सुखं रास्व। देहि। अपि च ते त्वदीया सुमतिः कल्याणी बुद्धिर्मृडयत्तमातिशयेन सुखयितृतमा। अतएव भद्रा भजनीया हि। यस्मादेवं तस्मादथानन्तरं वयं ते त्वदीयमवो रक्षणं वृणीमहे। सम्भजामहे। अकरम्। छन्दसि लुङ्लङ्लिटः इति वर्तमाने लुङ्। कृमृदृरुहिभ्य इति च्लेरङादेशः। ऋदृशोऽङि गुणः। पितर्मरुताम्। परमपि च्छन्दसीति परस्याः षष्ठ्याः पूर्वामन्त्रितानुप्रवेशे सत्यामन्त्रितस्य चेति पदद्वयमप्यनुदात्तम्। अस्मे। सुपां सुलुगिति चतुर्थीबहुवचनस्य शे आदेशः। मृडयत्तमा। मृड सुखने। अस्माद् ण्यन्ताल्लटः शतृ। तस्य च्छन्दस्युभयथेत्यार्ध धातुकत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वाभावे प्रत्ययस्वरः शिष्यते।

स्पष्टीकरण- प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि जिस प्रकार एक ग्वाला प्रातः काल अनेक व्यक्तियों के पशुओं को चराने ले जाता है और सन्ध्याकाल में उन पशुओं को उन व्यक्तियों को वापस लौटा देता है उसी प्रकार मैं भी तुमसे प्राप्त मन्त्रों को तुम्हारे लिए ही अर्पित कर रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि मन्त्र भी मुझे आपकी कृपा से ही प्राप्त हुए हैं। सम्भवतः यहाँ ऋषि उस तथ्य की तरफ सङ्केत कर रहा है कि समाधिस्थ ऋषियों के शुद्ध अन्तः करण में मन्त्रों का प्रादुर्भाव स्वयं हुआ। यह उस परमात्मा की कृपा से ही सम्भव हो पाया। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि यह आत्मतत्त्व जिसको चुनता है उसी के लिए अपने स्वरुप को प्रकट कर देता है-

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'

कठोपनिषद 1.2.23

प्रसिद्ध आरती की ये पंक्तियाँ भी इसी भाव को अभिव्यक्त करती हैं

यह तन मन धन सब कुछ है तेरा।
तेरा तुझको अर्पण क्या लागे मेरा।।

अन्त में रुद्र से पुनः प्रार्थना की गई है कि वह हमें सुख प्रदान करे व हमारी रक्षा करे।

प्रो. योगी के अनुसार मनुष्य ऐसा आचरण करे जिससे वह रुद्र की सुमति में ही रहे। यदि मनुष्य स्तुतियों द्वारा परमात्मा की स्तुति तो करता है परन्तु उसके लिए सत्कार्यरुपी दुग्ध मिष्ठान्नादि प्रदान नहीं करता तो वह रुद्र की सुमति का भागीदार नहीं होता। रुचिकर वस्तु प्रदान न किए जाने पर और अनुकूल कार्य न किए जाने पर स्तुत व्यक्ति केवल स्तुतियों से ही प्रसन्न नहीं होता। भाव यह है

कि रुद्र की कृपा प्राप्त करने के लिए पशुपा की भाँति मनुष्य को अपनी इन्द्रियाँ भी नियन्त्रण में रखनी चाहिए और सत्कार्य भी करना चाहिए।

टिप्पणियाँ

1. **उपअकरम्**– उप+ √ कृ+ लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। प्रथम तो '**व्यवहिताश्च**' सूत्र से धातु और उपसर्ग के बीच व्यवधान है। दूसरे '**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**' सूत्र से लट् लकार के अर्थ में लुङ् लकार का प्रयोग हुआ है। तीसरे '**कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि**' (3.1.59) से लुङ् लकार में 'च्लि' के स्थान पर अङ् आदेश हुआ और पुनः '**ऋदृशोऽङि गुणः**' (7.4.16) से गुण आदेश होकर अकरम् रुप सिद्ध हुआ।

2. **स्तोमान्** – √ ष्टुञ्– स्तु+मनिन् प्रत्यय। **प्रायः सभी विद्वनों** ने इसका 'स्तुतिरूप मन्त्र' यह अर्थ किया है जबकि **स्वामीदयानन्द** ने 'स्तुत्य रत्नादि द्रव्यसमूह' अर्थ किया है।

3. **पशुपा**– पशून् पाति इति पशुपा+क्विप् प्रत्यय, प्रथमा विमक्ति एकवचन, पुल्लिङ्ग।

यद्यपि **सभी विद्वानों** ने इसका अर्थ 'पशुओं की रक्षा करने वाला' अर्थात् गोपालक ही किया है तथापि इसके कार्य से रुद्र के लिए स्तुति मन्त्रों को समर्पित करने की उपमा दी गई है इसके लिए भिन्न भिन्न व्याख्याएँ दी गई हैं–

सायण ने अर्थ किया है कि जिस प्रकार ग्वाला प्रातः काल अनेक व्यक्तियों के पशु चराने के लिए ले जाता है और सांयकाल उन्हें वापस कर देता है उसी प्रकार हे रुद्र। तुमसे प्राप्त मन्त्रों को मैं तुम्हें ही समर्पित करता हूँ।

स्कन्दस्वामी–'जिस प्रकार गोपालक इधर उधर विचरते पशुओं को इकट्ठा करके गाँव के पास अथवा अपने पास रखता है उसी प्रकार मैं सब स्तुति मन्त्रों को आपके समीप करता हूँ अर्थात् आपके सम्मुख उनका उच्चारण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द—जिस प्रकार ग्वाला गौओं का दूध दोहकर स्वामी को देता है उसी प्रकार मैं भी स्तुत्य रत्नादि द्रव्यसमूह तुम्हें देता हूँ।

ग्रिफिथ 'जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओं के कल्याण के लिए प्रार्थना करता है उसी प्रकार ऋषि उन सब लोगों की समृद्धि के लिए प्रार्थना करता है जिनकी तरफ से वह मन्त्रों का उच्चारण कर रहा है।

4.**रास्वा**– दृष्टव्य मन्त्र 6।

5. **पितर्मरुताम्**— दृष्टव्य मन्त्र 6।

6. **सुम्नम्**— प्राय: सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'सुख' किया है परन्तु **स्कन्दस्वामी** ने इसका अर्थ 'बल' अथवा 'रूप' किया है।

7. **अस्मे**— यहाँ '**अस्मभ्यम्** 'रूप होना चाहिए था परन्तु '**सुपां सुलुक्**' इत्यादि से विभक्ति प्रत्यय 'भ्यम्' के स्थान पर 'शे' (ए) आदेश हो गया।

8. **अथा**— यहाँ '**निपातस्य च**' (6.3.136) सूत्र से संहिता पाठ में अन्तिम 'अ' दीर्घ हो गया।

9. **मृळयत्तमा**— √ मृड् + णिच्+ शतृ + तमप् प्रत्यय + टाप् + प्रथमा विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिङ्गी। '**अज्मध्यस्थ**' इत्यादि।

10. **वृणीमहे** –दृष्टव्य मन्त्र 4

11. **अव:**—प्राय: सभी विद्वानों ने इसका 'रक्षण अर्थ किया है केवल **स्कन्द स्वामी** ने 'पालन' यह अर्थ किया है।

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।
मृळा च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः।।10।।

आरे। ते। गोऽध्नम्। उत। पुरूषऽघ्नम्। क्षयत्ऽवीर। सुम्नम्। अस्मे इति। ते। अस्तु।
मृळ। च। नः। अधि। ब्रूहि। देव। अधा। च। नः। शर्म। यच्छ। द्विबर्हाः।

अन्वय – क्षयद्वीर ते गोध्नम् उत पुरुषघ्नम् आरे अस्मे ते सुम्नम् अस्तु। देव नः मृळ अधिब्रूहि च अधा द्विबर्हाः नः शर्म यच्छ।

सरलार्थ— हे क्षयद्वीर (क्षयद्वीर) तुम्हारा (ते) गौओं को मारने वाला (गोघ्नम्) और (उत) पुरुषों को मारने वाला (पूरुषघ्नम्) (आयुध हम से) दूर रहे (आरे) हमारे लिए (अस्मे) तुम्हारा (ते) सुख (सुम्नम्) हो (अस्तु)। हे देव (देव) हमारे ऊपर (नः) कृपा करो (मृळ) (हमें) बतलाओ (अधिब्रूहि) और (च) तत्पश्चात् (अधा) दोनों लोकों में वृद्धि को प्राप्त होने वाले (द्विबर्हाः) रुद्र हमें (नः) सुख (शर्म) दो (यच्छ)।

सायण भाष्य: हे क्षयद्वीर क्षपितसर्वजनशत्रो रुद्र ते त्वदीयं गोघ्नं यद् गोहननसाधनमायुधं उतापि च पूरुषघ्नं तत्साधनमायुधं वा तदुभयमारे दूरेऽस्मत्तो विप्रकृष्टदेशे भवतु। अस्मे अस्मासु ते त्वदीयं सुम्नं सुखमस्तु। भवतु अपि च नोऽस्माकं मृड। सुखसिद्ध्यर्थं प्रसन्नो भव। हे देव द्योतमान रुद्र नोऽस्मानधि ब्रूहि

च। अधिवचनं पक्षपातेन वचनं ब्राह्मणायाधि ब्रूयात्। तै. सं. 2.5.11.9। इति यथा। अध चाथानन्तरं च द्विबर्हाः द्वयोः स्थानयोः पृथिव्यामन्तरिक्षे च परिवृढः। यद्वा। द्वयोर्दक्षिणोत्तरमार्गयोर्ज्ञानकर्मणोर्वा परिवृढः स्वामी। स त्वं नोऽस्मभ्यं शर्म सुखं यच्छ। देहि। गोघ्नं। हन हिंसागत्योः। अस्माद्घञर्थे कविधानमिति भावे करणे वा कप्रत्ययः। गमहनेत्युपधालोपः। हो हन्तेरिति कुत्वम्। द्विबर्हाः। बृह बृहि वृद्धौ। द्वयो स्थानयोर्बर्हते प्रवर्धत इति द्विबर्हाः। असुन् कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्।

स्पष्टीकरणः प्रस्तुत मन्त्र में रुद्र से प्रार्थना की गई है कि जिस आयुध से तुम गौओं और पुरुषों का वध करते हो, उसे हमसे दूर ही रखना। तुम्हारे द्वारा दिया गया सुख ही हमें प्राप्त हो। आप हमें यह भी बतलाने की कृपा करें कि आपके द्वारा प्रदत्त सुख प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए। तैतरीय संहिता में भी कहा गया हैं- **'अधिवचनं पक्षपातेन वचनं ब्राह्मणाधि ब्रूयात्'** (तैतरीय संहिता 2.5.11.9) अन्तरिक्षस्थानीय देवता होने के कारण रुद्र अन्तरिक्ष और पृथ्वी दोनों ही लोकों मे वृद्धि को प्राप्त होता है।

प्रो. योगी के अनुसार जो मनुष्य सदाचार से नहीं रहते, उनकी संपत्ति भी नष्ट हो जाती है और वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। उनका पौरुष, ओज, सत्त्व, प्रभाव सभी कुछ दूर हो जाता है। परमात्मा की कृपा से ही भोग योग, अविद्या विद्या, अभ्युदय निःश्रेयस् की सिद्धि होती है।

टिप्पणियाँ

1. **क्षयद्वीर**— दृष्टव्य प्रथम मन्त्र।

2. **सुम्नम्**— दृष्टव्य नवाँ मन्त्र।

3. **गोघ्नम् पूरुषघ्नम्— इसके दो अर्थ हो सकते हैं** गवां हननम् तथा पुरुषाणां हननं अर्थात् गौ तथा पुरुषों की हत्या अथवा 'गोघ्ननसाधनमायुधं पुरुषहननसाधनमायुधम् अर्थात गौ और पुरुषों की हत्या का साधनभूत आयुध।

4. **अधि ब्रूहि— 'व्यवहिताश्च'** सूत्र से धातु उपसर्ग के बीच व्यवधान है।

सायण ने इसका अर्थ किया 'हमारे पक्षपात के वचन कहिए'।

स्कन्द स्वामी तथा स्वामी दयानन्द— 'हमें आज्ञा दीजिए कि हमें क्या करना है।' **ग्रिफिथ** 'हमें आशीर्वाद दीजिए'।

5. **अस्मेः** दृष्टव्य नवाँ मन्त्र।

6. मृळ— दृष्टव्य दूसरा मन्त्र।

7. अधा— यहाँ वर्ण व्यत्यय से 'थ' के स्थान पर 'ध्' हो गया तथा 'निपातस्य च' (6.3.136) सूत्र से अन्तिम 'अ' दीर्घ हो गया।

8. द्विबर्हाः— √ बृहू- वर्धने+ असुन् प्रत्यय 'द्वयोः स्थानयोः बर्हते प्रवृद्धो भवति इति द्विबर्हाः।

सायण ने इसके तीन अर्थ किए हैं (i) पृथ्वी और अन्तरिक्ष दोनों स्थानों में वृद्धि को प्राप्त होने वाला (ii) जो उत्तर और दक्षिण दोनों भागों का स्वामी है अथवा (iii) जो ज्ञान और कर्म दोनों का स्वामी है।

स्कन्दस्वामी ने भी तीन अर्थ किए है (i) जो यज्ञ करने वाले अथवा स्तुति करने वाले दोनों की ही वृद्धि करने वाला है (ii) जो यज्ञ और संग्राम दोनों ही स्थानों मे पराक्रम द्वारा वृद्धि को प्राप्त करता है (iii) मध्यमस्थानीय (अन्तरिक्ष स्थानीय) देवता होने के कारण जो दिव्य आदित्य से बहुत से रस ग्रहण कर सकता है और अन्तरिक्ष में आप्रवृद्ध होकर वर्षा करने में भी समर्थ है।

स्वामी दयानन्द 'व्यवहार और परमार्थ दोनों की ही वृद्धि करने वाला है'।

ग्रिफिथ ने इसे शर्म का विशेषण मान कर अर्थ किया- दोहरी सामर्थ्य से युक्त'।

9. शर्म- सायण व अन्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'सुख' किया। स्कन्दस्वामी 'गृह'। ग्रिफिथ 'रक्षा'।

अवो॑चाम॒ नमो॑ अस्मा अव॒स्यवः॑ शृणोतु॑ नो॒ हवं॑ रु॒द्रो म॒रुत्वा॑न्।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः सिन्धुः॑ पृथि॒वी उ॒त द्यौः॥11॥

अवो॑चाम। नमः॑। अ॒स्मै। अ॒व॒स्यवः॑। शृणोतु॑। न॒ः। हव॑म्। रु॒द्रः। म॒रुत्वा॑न्।
तत्। न॒ः। मि॒त्रः। वरु॑णः। मा॒म॒ह॒न्ता॒म्। अदि॑तिः। सिन्धु॑ः। पृ॒थि॒वी। उ॒त। द्यौः।

अन्वयः अवस्यवः अस्मै नमः अवोचाम मरुत्वान् रुद्रः नः हवम् शृणोतु। तत् नः मित्रः वरुणः अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौ मामहन्ताम्।

सरलार्थ— रक्षा की इच्छा करने वाले (अवस्यवः) (हम) इसे (अस्मै) नमस्कार (नमः) करते हैं (अवोचाम) मरुत्वान् रुद्र (मरुत्वान् रुद्रः) हमारे (नः) आह्वान को (हवम्) सुने (शृणोतृ) उस (तत्) हमारे (नः) (आह्वान को) मित्र) वरुण (वरुणः) अदिति (अदितिः) सिन्धु (सिन्धुः) पृथ्वी (पृथिवी) और (उत) द्यु (द्यौः) बढ़ाएँ (मामहन्ताम्)।

सायण भाष्य— अवस्यवोऽन्नं रक्षणं वेच्छन्तो वयमवोचाम। एतत्सूक्तरुपं स्तोत्रमवादिष्म। अस्मै रुद्राय नमो नमस्कारोऽस्तु। मरुत्वान्मरुद्भिः स्वकीयैः पुत्रैर्युक्तो रुद्रश्च नोऽस्माकं हवमाह्वानं शृणोतु स्वीकरोतु। यदस्माभिरुक्तं नोऽस्मदीयं तत्सर्वं मित्रादयः षड्देवता मामहन्ताम्। (मित्रः प्रमीतेस्त्राता वरुणोऽनिष्टानां निवारयिता अदितिरदीनाऽखण्डनीया वा देवमाता सिन्धुः स्यन्दनशीलोदकात्मा देवता पृथिवी प्रथिता भूदेवता। सा. ऋ. 1.94)। पूजयन्तु। उतशब्दोऽप्यर्थे। अवोचाम ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। लुङि ब्रुवो वचिः। अस्यतिवक्तीत्यादिना च्लेरङादेशः। वच उमित्युमागमः। वच उमित्युमागमः। अवस्यवः। अव रक्षणे। भावेऽसुन्। सुप आत्मनः क्यच्। क्याच्छन्दसीत्युप्रत्ययः। हवम्। भावेऽनुपसर्गस्येत्यप् संप्रसारणं च। मरुत्वान्। झय इति मतुपो वत्वम्। तसौ मत्वर्थ इति भत्वेन पदत्पाभावाज्जश्त्वाभावः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र मे रुद्र से प्रार्थना की गई है कि हम आपसे अपनी रक्षा की कामना करते हैं इसी कारण हम आपको नमस्कार करते हैं। मरुतों से युक्त होकर आप हमारे उस आह्वान को स्वीकार कर लें। आपके अतिरिक्त हमारे उस आह्वान को मित्र वरुण इत्यादि देवता और भी अधिक प्रवर्धित करें। मित्र त्राता है **'मित्रः प्रमीतेस्त्राता'** वरुण अनिष्टों को दूर करने वाला है **'वरुणोऽनिष्टानां निवारयिता'** अदिति अदीना अखण्डनीया देवमाता है **'अदितिरदीनाऽखण्डनीया वा देवमाता'** सिन्धुः शीतल जल देने वाला है **'सिन्धुः स्यन्दनशीलोदकात्मा देवता'** पृथ्वी 'प्रसिद्ध भू देवता' है तो द्यौ 'स्वर्ग लोक' है।

टिप्पणियाँ

अवोचाम— √ ब्रू + लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन **'ब्रुवो वचिः** (2.4.53) सूत्र से 'ब्रू' के स्थान पर 'वच्' आदेश हुआ। **'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्'** (3.1.52) से च्लि के स्थान पर 'अङ्' आदेश हुआ तथा **'वच उम्'** (7.4.20) से 'उम्' का आगम हुआ। यहाँ **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** से लट् लकार के अर्थ में लुङ् लकार का प्रयोग है।

2. **अवस्यवः**— √ अव्- रक्षणे + असुन् प्रत्यय। **'सुप आत्मनः क्यच्'** (3.1.8) से 'क्यच्' प्रत्यय आया तथा **'क्याच्छन्दसि'** (3.2.170) से 'उ' प्रत्यय लगा कर 'अवस्यु' रुप बना। 'अवस्यवः' प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग का रुप है।

सायण ने इसके दो अर्थ किए हैं-'अन्न की अथवा रक्षा की इच्छा करने वाले हम'।

3 **मामहन्ताम्**— सायणादि विद्वानों ने इसका अर्थ' अनुमोदन करें' किया है जबकि स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ 'प्रवर्धित करें' किया है। √ मंह्+ चङ्, द्वित्व होकर 'ममह्' रुप बना फिर छान्दस् दीर्घ होकर प्रथम पुरुष, बहुवचन, आत्मनेपद, लोट् लकार में 'मामहन्ताम्' रुप सिद्ध हुआ

卐 卐 卐

अग्निः (ऋग्वेद 5.8)

ऋग्वैदिक देवताओं में सूक्तों की संख्या की दृष्टि से यद्यपि इन्द्र सबसे प्रमुख देवता है तथापि महत्त्व की दृष्टि से अग्नि का स्थान सर्वोपरि है। **पृथ्वीस्थानीय इस देवता की स्तुति लगभग 200 सूक्तों में हुई है** अनेक अन्य सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी इसकी स्तुति की गई है। वास्तव में अग्नि के अत्याधिक दैनिक उपयोग के कारण और इसकी विध्वंसक शक्ति से भयभीत वैदिक आर्यों ने इसकी स्तुति मुक्त कण्ठ से की है। इसका महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के अधिकांश मण्डलों का प्रारम्भ ही अग्नि विषयक सूक्तों से होता है। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को ही सर्वदेवता कहा गया है- अग्निः सर्वा देवताः' (ऐतरेय ब्राह्मण 6.3 तथा शतपथ ब्राह्मण 1.6.2.20) बृहदारण्यक उपनिषद में भी कहा गया है. **'एतस्यैव सा विसृष्टिः। एष उ ह्येव सर्वे देवाः'** (बृ.उ. 1.4.6)। यास्क ने भी अग्नि को ही एकमात्र देवता माना है **'इममेवाग्निं महान्तमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति'**। यास्काचार्य ने 'अग्नि' की निम्न निरुक्तियाँ दी हैं-

1. **अङ्गं नयति सन्नममानः** प्रत्येक पदार्थ की तरफ प्रवृत्त होता हुआ उसके शरीर को ले लेता है।

2. **अक्नोपनो भवति**– सबको सुखा देता है।

3. **अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते**– यज्ञों में सबसे पहले स्थापित किया जाता है।

4. **अग्रणीर्भवति**— सबका नेता है।

कुछ विद्वानों ने इसे √ अग्- अङ्ग् (जाना) से भी निष्पन्न माना है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्डॉनल ने इसे √ अज्- गतौ से निष्पन्न किया है। कुछ अन्य विद्वानों ने इसे √ नी- ले जाना से निष्पन्न माना है क्योकि यह देवताओं तक हवि ले जाता है। ऋग्वेद के 5.8.6 में स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं ने अग्नि को दूत बनाया **'देवा दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम्'**

आधिभौतिक पक्ष में अग्नि का अर्थ पार्थिव अग्नि है। योगी जी ने ब्राह्मणों

को ही अग्नि माना है। उनके अनुसार राष्ट्र में ब्राह्मण नेता हैं और अग्नि पदभाक् है। आधिदैविक पक्ष में अग्नि देवता है। आध्यात्मिक पक्ष में अरविन्द घोष के अनुसार मनुष्य की दिव्य सङ्कल्प शक्ति और सद् असद् विवेक समन्वित बुद्धि ही अग्नि है "That flame of Agni is the seven tongued power of the Will, a Force of God instinct with knowledge (Hymns to the Mystic Fire, Introduction, page XXXI)"B.

वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार 'शरीर को उष्ण रखने वाला प्राणतत्त्व ही अग्नि है'।

अग्नि को 'द्विमातृ' (दो माताओं वाला) कहा गया है क्योंकि इसकी उत्पत्ति दो समिधाओं के घर्षण से होती थी। कहीं कहीं इसे तीन माताओं वाला (त्र्यम्बक) भी कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये माताएँ द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी हैं क्योंकि द्यु मे यह सूर्य रुप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् रुप में व पृथ्वी पर वनस्पति रुप में विद्यमान है। परन्तु तार्किक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि अरणियों के घर्षण से उत्पन्न जो चिनगारी सूखे पत्तों या तिनकों पर गिर कर अग्नि उत्पन्न करती है, उसे भी इसकी माता के रुप में मान कर इसे 'त्र्यम्बक' कह दिया गया। दस अङ्गुलियों द्वारा प्रज्वलित किए जाने के कारण इसे दस युवतियों की संतान भी कहा गया है। अरणियों के घर्षण में बल की आवश्यकता होती है अतः इसे बल का पुत्र भी कहा गया है 'त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः' तथा 'सहसः सूनुः'। वडवानल रुप में यह जल से भी उत्पन्न होता है- 'अपां नपात्'।

वनों का भक्षण करना, अन्धकार नष्ट करना, देवताओं को यज्ञ में लाना, उनके लिए हवि वहन करना अग्नि के प्रमुख कार्य हैं। यह देवताओं और मनुष्यों के बीच दौत्यकर्म सम्पादित करता है-'अग्निर्वै देवानां होता'। अग्नि द्वारा रक्षित यज्ञ ही देवताओं तक पहुँचता है-

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति (ऋग्वेद 1.1.4.)

घी से अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह घृतमुख, घृतचक्षु, घृतपृष्ठ, घृतकेश व घृतलोम है। कहीं कहीं तो घी को इसका निवास ही बतलाया गया है 'घृतमस्य धाम'। अग्नि को सप्तजिह्वा वाला भी कहा गया है (ऋग्वेद 3.6. 2) जो अग्नि की सात प्रकार की लपटों की सूचक हैं। मुण्डकोपनिषद में स्पष्ट कहा गया है।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च धूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः।।

(मुण्डकोपनिषद् 1.2.4)

अपने तेज जबड़ों द्वारा वनों का भक्षण करने के कारण अग्नि को **'तीक्ष्ण दंष्ट्र'** प्रकाशमनी लाल ज्वालाओं से युक्त होने के कारण **'शुचिदन्'** और **'रुक्मदन्त'** साँय साँय करती हुई लपटों के कारण **'रम्भाता हुआ बैल'** तीव्रगति वाला होने के कारण **श्येन** व **गरुड़**, धुएँ रुपी स्तम्भ के कारण **'धूम्रकेतुः'** व उषाकाल में प्रज्वलित किए जाने के कारण **'उषर्बुध'** भी कहा गया है।

वस्तुतः अग्नि की लपटें ही उसका रथ है अतः उस रथ का प्रदीप्त, उज्ज्वल, प्रकाशमान् और स्वर्णिम होना स्वाभाविक ही है। अग्नि का मानव जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। सारे गृहकार्य अग्नि द्वारा ही सम्पन्न किए जाते हैं। वैदिक युग में भी भोजन पकाने के लिए, प्रकाश के लिए, शीत से बचने के लिए एवं जंगली पशुओं को डराने के लिए अग्नि की परम आवश्यकता थी। दैनिक कार्यों में प्रयोग किए जाने के कारण इसे **'गृहपति' 'वरेण्य अतिथि'** माता, पिता, पुत्र, भ्राता व मनुष्य का मित्र भी कहा गया है। अग्नि दृष्टा, यज्ञकेतु (यज्ञ का सूचक) सत्य (यजमानों को उनके यज्ञ का फल अवश्य देने वाला) अङ्गिरः (अङ्गारों से युक्त) राजा, गोपा (रक्षक), पुरोहित ऋत्विक, दाता, कविक्रतुः अजिर (पुरातन) नेता, पावक, वृत्रहा (वृत्र का नाश करने वाला) प्रचेता, चित्रश्रवस्तमः (विविध कीर्तियों से युक्त) वैश्वानर (सब का हित करने वाला), नाराशंस व रत्नधातमम् (श्रेष्ठ रत्नों को धारण करने वाला) है। वह अपने यजमानों को सुख समृद्धि, यश, अभ्युदय व वीर पुत्र प्रदान करता है।

अग्नि का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह उसका युग्म भाई माना गया है क्योंकि अग्नि (आग) और इन्द्र (जल) जीवन की दो मौलिक आवश्यकताएँ हैं। इन दो देवताओं को सब देवताओं का प्रतिनिधि देवता माना गया है **'इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः'**। इन्द्र के प्रमुख सहायक व मित्र होने के कारण **'मरुत्'** अग्नि के भी परम मित्र बन गए। सोम के साथ अग्नि का सम्बन्ध उल्लेखनीय है। ऋग्वेद 5.44.15 में सोम अग्नि के पास जाकर अपना सख्य प्रकट करता है। रुद्र को तो अग्नि ही कहा गया है- **'यो वै रुद्रः सोऽग्निः'** (शतपथ ब्राह्मण 5. 2.4.13)

वस्तुतः अग्नि भारोपीय काल का देवता है। इसकी तुलना लेटिन इग्निस्,

स्लैवानिक ओग्नि तथा लिथुआनियम उग्निस् से की जा सकती है।

अग्निः (ऋग्वेद 5.8)

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के पाँचवे मण्डल का 8वाँ सूक्त है। इसका देवता अग्नि है, ऋषि इष् आत्रेय है। 1-2 तथा पाँचवे मन्त्र में त्रिष्टुब् छन्द है। यह वैदिक छन्द है जिसमें चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में 11-11 वर्ण होते हैं जबकि 3,4,6 और 7 वें मन्त्र में जगती छन्द है। जगती में भी चार चरण होते हैं परन्तु प्रत्येक चरण में 12-12 अक्षर होते हैं। इष् आत्रेय की व्याख्या इस प्रकार की गई है इष् का अर्थ है शक्तिशाली, रसमय, उर्वर इत्यादि तथा व्याकरण की दृष्टि से आत्रेय √ अद् धातु से निष्पन्न है। तदनुसार इष आत्रेय का अर्थ हुआ जो समस्त ज्ञान को आत्मसात् करके रसमय और उर्वर है।

त्वामग्न ऋतायवः समीधिरे प्रत्नं प्रत्नास ऊतये सहस्कृत।

पुरुश्चन्द्रं यजतं विश्वधायसं दमूनसं गृहपतिं वरेण्यम्।। 1।।

त्वाम्। अग्ने। ऋतऽयवः। सम्। ईधिरे। प्रत्नसम्। प्रत्नासः। ऊतये। सहःऽकृत।

पुरुःऽचन्द्रम्। यजतम्। विश्वऽधायसम् दमूनसम्। गृहऽपतिम्। वरेण्यम्।

अन्वय— सहस्कृत अग्ने प्रत्नं पुरुश्चन्द्रम् यजतम् विश्वधायसम् दमूनसम् गृहपतिम् वरेण्यम् त्वाम् ऋतायवः प्रत्नासः ऊतये सम् ईधिरे।

सरलार्थ— बल द्वारा उत्पन्न किए गए (सहस्कृत) हे अग्नि (अग्ने) पुरातन (प्रत्नम्) बहुतों को प्रसन्न करने वाले (पुरुश्चन्द्रम्) पूजनीय (यजतम्) सबको धारण करने वाले (विश्वधायसम्) घर में रहने वाले (दमूनसम्) घर के स्वामी (गृहपतिम्) (तथा) वरणीय (वरेण्यम्) तुमको (त्वाम्) ऋत का पालन करने वाले (ऋतायवः) प्राचीन (प्रत्नासः) (ऋषियों ने) अपनी रक्षा के लिए (ऊतये) भली भाँति (सम्) प्रदीप्त किया (ईधिरे)।

सायण भाष्य— त्वामग्न इति सप्तर्चमष्टमं सूक्तमात्रेयस्येषस्यार्ष जागतमाग्नेयम्। त्वामग्ने सप्त जागतमित्यनुक्रमणिका। प्रातरनुवाक आग्नेये क्रतौ जागते छन्दस्याश्विनशस्त्रे चेदं सूक्तम। तथा च सूत्रम्। जनस्य गोपास्त्वामन ऋतायवः। आ. 4.13। इति

हे सहस्कृत बलस्य कर्तरग्ने प्रत्नं पुरातनं त्वां प्रत्नासः पुरातना ऋतायवो यज्ञकामा ऋषय ऊतये स्वरक्षणाय समीधिरे। सम्यग्दीपितवन्तः। कीदृशं त्वाम्। पुरुश्चन्द्रं बहुधनमतिशयेनाह्लादकं वा यजतं यष्टव्यं विश्वधायसं बह्वन्नं दमूनसं दानमनसं गृहपतिं यजमानगृहस्य पालकं वरेण्यं वरणीयम्।

स्पष्टीकरण— अग्नि को बल का पुत्र कहा गया है 'सहसः सूनुः' क्योंकि अग्नि को उत्तरारणि तथा अधरारणि इन दो समिधाओं के घर्षण से उत्पन्न किया जाता था और घर्षण के लिए बल की आवश्यकता होती थी। भारोपीय काल का देवता होने के कारण यह अत्यन्त प्राचीन है। समस्त गृहकार्य अग्नि द्वारा ही सम्पन्न किए जाते थे अतः इसे दमूनसम् और गृहपति कहा गया है। द्युलोक में अग्नि सूर्य के रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में तथा पृथ्वी पर भौतिक अग्नि के रूप में विद्यमान है। तीनों ही दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण यह वरणीय है।

अग्नि स्वयं प्राचोन है अतः यह प्राचीन ऋषियों द्वारा ही प्रदीप्त किया गया। इसके दो अर्थ अभिप्रेत हैं (1) अग्नि विषयक मन्त्र प्राचीन ऋषियों के शुद्ध अन्तः कारण में प्रादुर्भूत हुए तथा (2) जंगली जानवरों, शीत इत्यादि से रक्षा करने के लिए ऋषियों ने इसे प्रदीप्त किया। वे ऋषि ऋत अर्थात सत्य का पालन करने वाले थे। इसी कारण वे क्रान्तदर्शी थे।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि राजा महाशक्तिशाली, सर्वगुण सम्पन्न, न्यायप्रिय तथा प्रजारञ्जक हो। **कालिदास** ने राजा का व्युत्पन्न अर्थ ही किया है **'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'**।

आध्यात्मिक पक्ष में अरविन्द घोष के अनुसार अग्नि का अर्थ सङ्कल्पशक्ति है। मनुष्य की सङ्कल्प शक्ति इतनी दृढ़ होनी चाहिए कि वह अपने शरीर रुपी घर का स्वामी, अधिपति होकर रहे। तभी वह सर्वविध आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। कहा भी गया है **'जहाँ चाह वहाँ राह'** Where there is will there is way.

टिप्पणियाँ

1. **प्रत्नासः**— यहाँ 'प्रत्नाः' रुप होना चाहिए था क्योकि यह प्रथमा विभक्ति, बहुवचन अकारान्त पुल्लिङ्ग है परन्तु वेद में **'आज्जसेरसुक'** सूत्र से **असुक् का आगम हो गया।**

2. **ऋतायवः**— **सायण और स्कन्दस्वामी** ने इसका अर्थ 'यज्ञ की इच्छा करने वाले' किया है। **स्वामी दयानन्द** और अरविन्द घोष ने अर्थ किया 'सत्य की इच्छा करने वाले'। **सातवलेकर**— सत्य के मार्ग पर चलने वाले'। **अन्य सभी विद्वान्**—'ऋत का पालन करने वाले'। **योगी जी**—'**सर्वविध नियम**— **नैतिक,**

भौतिक तथा विश्वीय नियम'। **वासुदेवशरण अग्रवाल—** 'विश्वव्यापी अखण्ड नियम' ही ऋत है। इससे प्रकृति का नियमित विधान यथा सूर्य चन्द्रमा का क्रमानुसार उदित और अस्त होना, ऋतुओं का परिवर्तन होना, रात दिन का बनना इत्यादि अभिप्रेत है। वस्तुतः प्राकृतिक व्यवस्था ही ऋत है।

3. **पुरुश्चन्द्रम्— सायण** ने इसके दो अर्थ किए है (1) 'बहुत अधिक धन' अथवा (2) 'बहुतों को प्रसन्न करने वाला।'

स्कन्दस्वामी तथा वेंकटमाधव— 'बहुतों को प्रसन्न करने वाला'।

अरविन्द घोष– 'अनेक आनन्दों से युक्त'।

स्वामी दयानन्द— 'बहुत हिरण्यादि से युक्त'।

पाश्चात्य विद्वान– यह √ चदि-दीप्तौ से निष्पन्न है अतः इसका अर्थ 'अत्यन्त दीप्तियुक्त' है। जबकि भारतीय विद्वानों ने इसे √ चदि-आह्लादने से निष्पन्न माना है।

4. **विश्वधायसम्— सायण** ने अर्थ किया, 'बहुत अन्न वाला'। जबकि अन्य सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'सब का भरण पोषण करने वाला ' किया है।

5. **दमूनसम्— सायण–** दानशील (दानमनसम्)

वेंकटमाधव– संयम

स्वामी दयान्नद— इन्द्रियों तथा अन्तः करण का दमन करने वाला'।

पाश्चात्य विद्वान्– 'घर में रहने वाला'।

6. **गृहपतिम्– केवल सायण** ने इसका अर्थ 'यजमान के घर का पालन करने वाला' किया है। अन्य सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'घर का स्वामी' किया है।

7. **यजतम्–** √ यज् - देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु + शतृ + द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सायण— पूजनीय। **अरविन्द घोष**-यज्ञ का स्वामी

ग्रिफिथ - पवित्र।

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं निषेदिरे।
बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्।। 2।।

त्वाम्। अग्ने। अतिथिम्। पूर्व्यम्। विशः। शोचिःऽकेशम्। गृहऽपतिम्। नि। सेदिरे। बृहत्ऽकेतुम्। पुरुऽरूपम्। धनस्पृतम्। सुऽशर्माणम्। सुऽअवसम्। जरत्ऽविषम्।

अन्वय– अग्ने अतिथिम् पूर्व्यम्, शोचिष्केशम्, गृहपतिम्,बृहत्केतुम् पुरुरूपम् धनस्पृतम् सुशर्माणम् स्ववसम् जरद्विषम् त्वाम् विशः निषेदिरे।

सरलार्थ– हे अग्नि (अग्ने) अतिथि (अतिथिम्) प्राचीन (पूर्व्यम्) प्रकाश रुपी केशों वाले (शोचिष्केशम्) घर के स्वामी (गृहपतिम्) महान् कर्म अथवा प्रज्ञा वाले (बृहत्केतुम्) बहुत रुप वाले (पुरुरूपम्) धन देने वाले (धनस्पृतम्) सुन्दर सुख देने वाले (सुशर्माणम्) भली प्रकार से रक्षा करने वाले (स्ववसम्) तथा शत्रुओं को नष्ट करने वाले (जरद्विषम्) तुमको (त्वाम्) यजमानों ने (विशः) (गार्हपत्य अग्नि के रुप में) स्थापित किया (निषेदिरे)।

सायण भाष्य- हे अग्ने त्वां विशो यजमाना गृहपतिं गृहस्वामिनं निषेदिरे। गार्हपत्यरूपेण स्थापितवन्त इत्यर्थः। कीदृशं त्वाम्। अतिथिमतिथिवत्पूज्यं पूर्व्यं पुरातनं शोचिष्केशं दीप्तज्वालं बृहत्केतुं पुरुरूपमाहवनीयादिरूपेण बहुरूपं धनस्पृतं धनानां स्पर्तारं सुशर्माणं शोभनसुखं स्ववसं सुरक्षणं जरद्विषं जरतां वृक्षाणां व्यापकं जीर्णोदकं वा।

स्पष्टीकरण– अग्नि अतिथि के समान पूजनीय है। भारोपीय काल का देवता होने के कारण वह प्राचीन है। अग्नि की लपटें ही उसके केश हैं अतः वह प्रकाशरूपी केशों वाला है। दैनिक गृह कार्यों को सम्पादित करने के कारण गृहपति है, क्रान्त कर्म अथवा क्रान्त प्रज्ञा वाला है अतः इसे कविक्रतुः भी कहा गया है (ऋग्वेद 1.1.5) द्युलोक में सूर्य रुप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् रुप में तथा पृथ्वी पर पार्थिव अग्नि के रुप में स्थित होने के कारण अथवा आहवनीय, मार्जालीय, गार्हपत्य, आदि अनेक रुपों से युक्त होने के कारण पुरुरूप है। यजमानों का वह हर प्रकार से कल्याण करता है तथा अभीष्ट सम्पादित करता है अतः धमस्पृत और सुशर्म है। वन्य पशुओं, शीतादि से पूर्ण रुप से रक्षा करता है तथा शत्रुओं का नाश भी करता है अतः स्ववस तथा जरद्विष् है।

आधिभौतिक पक्ष में अर्थात् राजपक्ष इस का भाव यह है कि राजा को सतत गमनशील अर्थात् क्रियाशील होना चाहिए। प्रजा का भी यह कर्त्तव्य है कि वेद सदाचार का पालन करे, विविध ज्ञानयुक्त हो और इस प्रकार पुरुरूप होकर राष्ट्र की सुख समृद्धि में वृद्धि करे।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अभिप्राय है कि यदि मनुष्य सङ्कल्पशक्ति अर्थात् आत्मविश्वास से युक्त है तो वह सब कुछ करने में समर्थ हो पाता है। उपनिषदों में भी कहा गया है **'आत्मना विन्दते वीर्यम्'**। मनुष्य का आत्मविश्वास ही उसे सुख और सुरक्षा की भावना प्रदान करता है।

टिप्पणियाँ

1. **अतिथिम्— सायण** ने इसका अर्थ 'अतिथि के समान पूजनीय' किया है।

स्वामी दयानन्द ने इसे √ अत्–सातत्यमने से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ 'सर्वदा उपदेश के लिए भ्रमण करने वाला' किया है।

2. **विशः — सायण** ने इसका अर्थ 'यजमान' किया है जबकि अन्य सभी विद्वानों ने 'प्रजा' अर्थ किया है।

3. **शोचिष्केशम्— सायण** ने इस का अर्थ 'दीप्त ज्वालाओं वाला' किया है।

वेंकटमाधव तथा ग्रिफिथ—'ज्वाला रुपी केशों वाला'।

अरविन्द घोष और सत्यभूषयोगीः प्रकाश से निर्मित केशों वाले।

स्वामी दयानन्द— 'न्याय व्यवहार और प्रकाश जिसके केशों के समान हैं।

4. **निषेदिरे**— नि + √ षदलृ – आत्मनेपद, प्रथम पुरुष बहुवचन। सायण ने इसका अर्थ किया है –गार्हपत्य अग्नि के रुप में तुम्हारी स्थापना की। **स्वामी दयानन्द तथा योगी जी** –बैठते हैं। **ग्रिफिथ** – स्थिर कया है'।

5. **बृहत्केतुम्— सायण** ने अर्थ किया 'अत्यधिक प्रज्ञावान्'।

स्वामीदयानन्द ने सायण का ही अर्थ स्वीकार किया (महाप्रज्ञम्)

वेंकट माधव— 'महान् ज्वालाओं से युक्त' (बृहज्ज्वालम्)

सातवलेकर— ऊँची ज्वालाओं से युक्त

अरविन्द घोष महान् अनन्त ज्ञान वाले।

यास्क ने 'केतु' के प्रज्ञा और कर्म दोनों ही अर्थ किए हैं।

6. **पुरुरूपम्**— प्रायः सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'अनेक रूपों से युक्त' किया है परन्तु स्वामी दयानन्द ने इस का अर्थ 'बहुत रूप युक्त' अर्थात सुन्दर

आकृति वाला' किया है।

7. **धनस्पृतम्** — धन + √ स्पृ धातु है जिसके प्रीति और पालन ये दो अर्थ हैं। अमरकोश में इसका अर्थ 'दान' भी किया गया है। **सायण** ने इसका अर्थ -'धनों का स्पर्ता' अर्थात् धन से प्रीति करने वाला किया है।

स्वामीदयानन्द— धनस्पृहा से युक्त **ग्रिफिथ**— 'धन का दाता' । **योगी जी**— 'धन का आदाता'। द्वितीया विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग।

8. **सुशर्माणम्**— सु + √ शृ + मनिन्, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। **सायण** ने 'सुन्दर सुख देने वाला', **स्वामीदयानन्द** ने 'प्रशंसनीय सुख देने वाला', **अरविन्द घोष व योगी जी** ने -'पूर्ण शान्ति देने वाला' तथा **सातवलेकर** ने - 'उत्तम सुखकारी' अर्थ किया है।

9. **स्ववसम्**— सु + √ अव्+ असुन् प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

10. **जरद्विषम्**— √ जृ+ शतृ प्रत्यय+ विषम् जरद्विषम् द्वितीया विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग।

सायण ने इसका 'वृक्षों में व्यापक' अथवा 'जलों का शोषक' अर्थ किया है।

ग्रिफिथ— जलों का शोषक।

वेंकट माधव , अरविन्दघोष तथा **योगी जी**— 'शत्रुओं को नष्ट करने वाला'।

त्वामग्ने मानुषीरीळ्ते विशो होत्राविदं विविचिं रत्नधातमम्।
गुहा सन्तं सुभग विश्वदर्शतं तुविष्वणसं सुयजं घृतश्रियम्।। 3।।

त्वाम्। अग्ने। मानुषीः। ईळ्ते। विशः। होत्राऽविदम्। विविचिम्। रत्नऽधातमम्।
गुहा। सन्तम्। सुऽभग। विश्वऽदर्शतम्। तुविऽस्वनसम्। सुऽयजम्। घृतऽश्रियम्।

अन्वय - सुभग अग्ने होत्राविदम् विविचिम् रत्नधातमम् गुहा सन्तम् विश्वदर्शतम् तुविष्वणसम् सुयजम् घृतश्रियम् त्वाम् मानुषी विशः ईळ्ते।

सरलार्थ— हे सौभाग्यशाली (सुभग) अग्नि (अग्ने) होत्र को जानने वाले (होत्राविदम्) सत् और असत् का विवेचन करने वाले (विविचिम्) श्रेष्ठ रत्नों को धारण करने वाले (रत्नधातमम्) गुहा में विद्यमान (गुहा सन्तम्) सबके द्वारा दृष्टव्य (विश्वदर्शतम्) अत्यधिक ध्वनि करने वाले (तुविष्वणसम्) भली प्रकार

से यज्ञ करने वाले (सुयजम्) तथा घी का आश्रय लेने वाले (घृतश्रियम्) तुम्हारी (त्वाम्) मानुषी प्रजा (मानुषी विशः) स्तुति करती है (ईळते)।

सायण भाष्य— हे अग्ने सुभग शोभनधन त्वां मानुषीर्विशो मानुषसम्बन्धिन्यः सर्वाः प्रजा ईळते स्तुवन्ति। कीदृशं त्वाम्। होत्राविदं होमानां सप्तहोत्रकाणां वा वेत्तारं विविचिं विवेचकं सदसतोः रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमं गुहा गुहायामरण्यां हृदयेषु वा सन्तं सर्वदा वर्तमानं विश्वदर्शतं सर्वैर्द्रष्टव्यं तुविष्वणसं प्रभूतध्वनिं सुयजं सुष्ठु यष्टारं घृतश्रियं घृतं श्रयन्तम्।

स्पष्टीकरण— अग्नि सौभाग्यशाली है, इसका अनुमान इसी से हो जाता है यह अपने यजमानों का अनेक प्रकार से कल्याण करता है। अग्नि होता भी है और पुरोहित भी है अतः उसे यज्ञसम्बन्धी सम्यक् ज्ञान है। देवता होने के कारण उसका सदसद्विवेकी होना स्वाभविक ही है। वैसे भी अरविन्द घोष ने अग्नि का अर्थ सङ्कल्प शक्ति व विवेक शक्ति किया है। अच्छे बुरे में अन्तर कर पाना ही विवेक है। अपने यजमानों को यज्ञकर्मफलरुपी श्रेष्ठ रत्नों को देने के कारण रत्नधातमम् है। समिधा रुपी अथवा हृदय रुपी गुफा में विद्यमान है। इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि दो अरणियों के घर्षण से उत्पन्न की जाती है अथवा वासुदेव शरण अगवाल के अनुसार शरीर को उष्ण रखने वाला प्राणतत्त्व ही अग्नि है। अथवा अग्नि प्रकाशस्वरुप है। अग्नि ज्ञान का प्रतीक है और ज्ञान की उत्पत्ति हृदय रुपी गुहा (हृदय कमल) में ही होती है। अतः वह गुहासत् है

अग्नि की लपटें साँय साँय करके प्रज्वलित होती हैं अतः बहुत आवाज़ करती हैं। अथवा इसका अभिप्राय बादलों में चमकने वाली विद्युत अथवा वडवानल से भी हो सकता है। बिजली जहाँ भी गिरती है, कर्णविदारक आवाज करती है और आजकल पानी से बिजली बनाने के लिए पानी को बहुत ऊँचाई से वेग पूर्वक गिराया जाता है जिससे अत्यधिक शोर होता है। घी का अग्नि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। घी के बिना अग्नि प्रज्वलित ही नहीं होता। इसी कारण 'घी' को इसका घर बतलाया गया है **'घृतमस्य धाम्'**। इन सब गुणों से युक्त अग्नि की सभी स्तुति करते हैं।

आधिभौतिक राजपक्ष में इसका अर्थ है कि राजा को सदसद्विवेकी, परोपकारी, कर्त्तव्य परायण व प्रजाहित रत होना चाहिए। तभी वह प्रजारञ्जक बन सकता है और वास्तविक अर्थों में क्षितिपति, भूपति कहा जा सकता है।

आध्यात्मिक पक्ष में 'अग्नि' का अर्थ सङ्कल्पशक्ति है। जिस प्रकार सोने

की शुद्धता और अशुद्धता की परख अग्नि में होती है उसी प्रकार सङ्कल्पशक्ति ही सत् असत् का विवेचन करती है

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि श्यामिकापि वा।। रघुवंश, प्रथम सर्ग)

जो व्यक्ति सम्यक् परीक्षा के उपरान्त किसी का वरण अथवा त्याग करते हैं, वही सज्जन हैं। दूसरों की बुद्धि से कार्य करने वाले मूर्ख हैं। दूसरे शब्दों में सङ्कल्पशक्ति आत्मविश्वास ही है। आत्मविश्वास मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रतिभाशाली बनाता है तथा प्रगतिपथ पर अग्रसर करता है।

टिप्पणियाँ

1. **होत्राविदम्** –होत्रं वेत्ति इति होत्रवित् तम्

यहाँ होत्र + √ विद्+ क्विप् प्रत्यय है, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग है।

सायण ने इसका अर्थ 'होम अथवा सप्तहोत्र को जानने वाला' किया है।

वेंकट माधव —स्तोत्रों को जानने वाला'।

ग्रिफिथ—'आहुतियों का ज्ञाता'।

अन्य सभी विद्वान्—'होत्रों को जानने वाला'।

2. **विविचिम्**— वि+ √ विच् + इस् , द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'सद् और असद् का विवेचन करने वाला' किया है।

3. **ईळते**— √ ईड्, लट् लकार, आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, एकवचन। वेद में दो स्वरों के बीच आने वाला 'ड्' में ळ् तथा 'ढ्' 'ळ्ह्' में परिवर्तित हो जाता है।

4. **सुभग**— **सायण, वेंकटमाधव** तथा **स्वामी दयानन्द** ने 'सुन्दर धन युक्त' अर्थ किया है। **ग्रिफिथ** तथा **सातवलेकर** ने 'सौभाग्यशाली' तथा योगी जी ने 'सर्वविध ऐश्वर्य' अर्थ किया है।

5. **रत्नधातमम्**— रत्न + √ धा+ तमप्, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग

सायण और **यास्क** ने 'रत्न' का अर्थ 'रमणीय धन' किया है और जो

उनका श्रेष्ठ दाता है, वह रत्नधातमम् है।

6. गुहा सन्तम्— गुहा + √ अस् + शतृ प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। 'गुहासन्तम्' का अभिप्राय 'गुहायां सन्तम्' है।

7. विश्वदर्शतम्— सायण, वेंकट माधव तथा सातवलेकर ने इसका अर्थ 'सब के द्वारा दृष्टव्य' किया। स्वामी दयानन्द—''सबका प्रकाशक'' तथा योगी जी व अरविन्द घोष 'सबको देखने वाला'।

8. तुविष्वणसम्— तुवि+ √ स्वन्+ असुन्, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'महान् ध्वनि' किया है। केवल स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ 'बहुतों की सेवा करने वाला' किया है।

9. घृतश्रियम्— घृत + √ श्रि + इयङ् आदेश, द्वितीया विभक्ति एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सायण ने अर्थ किया— घी का आश्रय लेने वाला'।

स्वामीदयानन्द—'घृत का आश्रय लेने वाला' अथवा 'घी से शोभा को प्राप्त होने वाला'। ग्रिफिथ ने दूसरा अर्थ स्वीकार किया है।

अरविन्द घोष— प्रकाश (घृत) की शोभा तथा सुन्दरता से युक्त'।

त्वाम॑ग्ने धर्ण॒सिं वि॒श्वधा॑ व॒यं गी॒र्भिर्गृ॒णन्तो॒ नम॒सोप॑ सेदि॒म।
स नो॑ जुषस्व समिधा॒नो अ॑ङ्गिरो दे॒वो मर्त॑स्य य॒शसा॑ सुदी॒तिभिः॥4॥

त्वाम्। अ॒ग्ने॒। ध॒र्ण॒सिम्। वि॒श्वधा॑। व॒यम्। गी॒र्भिः। गृ॒णन्तः॑। नम॑सा। उप॑। से॒दि॒म।
सः। नः॒। जु॒ष॒स्व॒। स॒म्ऽइ॒धा॒नः। अ॒ङ्गि॒रः॒। दे॒वः। मर्त॑स्य। य॒शसा॑। सु॒दी॒तिऽभिः॑।

अन्वय— धर्णसिम् अग्ने विश्वधा गीर्भिः गृणन्तः नमसा वयम् त्वाम् उप सेदिम। समिधानः अङ्गिरः सः देवः मर्तः यशसा सुदीतिभिः नः जुषस्व।

सरलार्थ— सब को धारण करने वाले(धर्णसिम्) हे अग्नि (अग्ने) सब प्रकार से (विश्वधा) स्तुतियों से (गीर्भिः) स्तुति करते हुए (गृणन्तः) नमस्कार सहित (नमसा) हम (वयम्) तुम्हारे (त्वाम्) समीप (उप) बैठते हैं (सेदिम) भली प्रकार से प्रदीप्त (समिधानः) अङ्गारों से युक्त (अङ्गिरः) वह (सः) देव(देवः) अर्थात तुम मनुष्यों के योग्य (मर्तः) यश (यशसा) (तथा) उत्तम प्रकाश के साथ (सुदीतिभिः) हमें (नः) प्राप्त हो जाओ (जुषस्व)।

सायण भाष्य—हे अग्ने धर्णसिं सर्वस्य धारकं त्वां वयमात्रेया वा विश्वधा बहुप्रकारेण गीर्भिर्गृणन्त स्तुवन्तो नमसा नमस्कारेणोप सेदिम। उपसन्ना भवेम। स त्वं नोऽस्मान् जुषस्व। सेवस्व धनादिभिः। समिधानः सम्यग्दीप्तो दीप्यमानोऽस्माभिर्हे अङ्गिरः सर्वत्र गन्तरङ्गिरसः पुत्र वा देवो दीप्यमानत्वं मर्तस्य यजमानस्य यशसा सुदीतिभिर्ज्वालाभिः सह जुषस्व।

स्पष्टीकरण— अग्नि सबको धारण करने वाला है क्योंकि एक तरफ तो पार्थिव अग्नि के रुप में अग्नि द्वारा ही समस्त दैनिक गृह कार्य सम्पादित किए जाते हैं और दूसरी तरफ आध्यात्मिक पक्ष में मनुष्य को धारण करने वाला प्राणतत्त्व ही है। वैदिक संस्कृति में नमस्कार की पूर्णता तभी होती थी जब हाथ जोड़ कर नमस्कार भी किया जाए और मुँह से स्तुतियों का उच्चारण भी किया जाए। इसी कारण विशेष रूप से साभिप्राय कहा गया है कि स्तुतियों का उच्चारण करते हुए हम नमस्कार सहित तुम्हारे पास बैठते हैं अर्थात् तुम्हारी परिचर्या करते हैं। हे अङ्गारों से युक्त देव तुम हमें मानवोचित यश और तेज प्रदान करो।

आधिभौतिक राजपक्ष में इसका अर्थ है कि राजा ही प्रजा को धारण करता हैं। **'यथा राजा तथा प्रजा'** एक बहुत पुरानी उक्ति है अतः राजा को स्वयं नियमित, मर्यादित, अनुशासित, कर्त्तव्यपरायण, सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। उसमें भयङ्करता और कोमलता दोनों ही प्रकार के राजगुण होने चाहिए। राजा दिलीप के वर्णन में कालिदास ने उसके इस पक्ष को भी उजागर किया है-

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगभ्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः।। रघुवंश 1.6

आध्यात्मिक पक्ष में मनुष्य की सङ्कल्पशक्ति ही उसे धारण करती है। सङ्कल्पशक्ति और आत्मविश्वास पर्यायवाची हैं। आत्माविश्वास के बिना तो मनुष्य एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा सकता। शतपथ ब्राह्मण में 'श्रद्धा को ही अग्निहोत्र का तेज कहा गया हैं **'तेज एव श्रद्धा'** (शतपथब्राह्मण 11.3.1.1) जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित हुए बिना अग्निहोत्र असफल है उसी प्रकार श्रद्धा अर्थात् आत्मविश्वास के बिना जीवन रुपी यात्रा (अग्निहोत्र) असम्भव है। इसी कारण उपनिषदों में भी कहा गया **'आत्मना विन्दते वीर्यम्'** आत्मविश्वास अथवा सङ्कल्पशक्ति मानव जीवन के विकास एवं सुख का मूल आधार है। आत्मविश्वास के बिना सङ्कल्पशक्ति कैसे होगी।

टिप्पणियाँ

1. धर्णसिम्— √ धृ + णसि, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। सायण, वेंकटमाधव आदि अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ 'सबको धारण करने वाला, किया है केवल ग्रिफिथ ने इसका अर्थ 'अत्यधिक बलशाली, किया है।

2. गृणन्तः— √ गृ + शतृ प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

3. नमसा— दृष्टव्य रुद्र सूक्त मंत्र 2 ।

4. जुषस्व— √ जुष्- प्रीतिसेवनयोः, लोट् लकार, आत्मनेपद, मध्यम पुरुष, एकवचन।

सायण ने अर्थ किया—'धनादि देकर सेवा करो'।

सातवलेकर—'सेवन करो अर्थात् स्वीकार करो'।

ग्रिफिथ— 'प्रसन्न होओ'।

5 अङ्गिरः—इसके दो अर्थ है (1) अङ्गारों से युक्त अग्नि' तथा (2) 'अङ्गिरा नामक ऋषि से उत्पन्न हे अग्नि'। सायण ने इसका अर्थ 'सर्वत्र जाने वाला' भी किया है।

6 समिधानः—सम् √ इन्ध् -दीप्तौ + शानच्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। 'सम्यग् इन्धितः इति समिधानः।

7. यशसा — निघण्टु में 'यशस्' शब्द उदक नाम में 'यश इति उदक नाम (1.12) अन्ननाम मे (2.7) तथा धननाम में पठित है। तदनुसार स्वामी दयानन्द ने इसके जल, धन और अन्न तीनों ही अर्थ कर दिए। अन्य सब विद्वानों नं 'यश के साथ' यही अर्थ किया है। यशसा तृतीया विभक्ति, एकवचन का रुप है।

8. सुदीतिभिः— सायण तथा सातवलेकर ने 'ज्वालाओं के द्वारा' अर्थ किया। वेंकट माधव 'सुन्दर दान समूह के द्वारा'।

स्वामीदयानन्द सुन्दर दान'।

अरविन्द घोष, योगीजी, ग्रिफिथ— 'उत्तम आलोक के साथ'।

त्वमग्ने पुरुरूपो विशेविशे वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत।
पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि त्विषिः सा ते तित्विषाणस्य नाधृषे।। 5।।

त्वम्। अ॒ग्ने॒। पु॒रु॒ऽरूपः। वि॒शेऽविंशे। वयः। द॒धा॒सि॒। प्र॒त्नऽथा। पु॒रु॒ऽस्तु॒त पु॒रूणि। अन्ना। सहसा। वि। रा॒ज॒सि॒। त्विषिः। सा। ते॒। ति॒त्वि॒षाणस्य। न। आ॒ऽधृषे।

अन्वय— अग्ने पुरुरूपः उत पुरुष्टुत त्वम् विशेविशे प्रत्नथा वयः दधासि। सहसा पुरूणि अन्ना विराजसि तित्विषाणस्य ते सा त्विषिः न आधृषे।

सरलार्थ— हे अग्नि (अग्ने) अनेक रूपों से युक्त (पुरुरूपः) और (उत) बहुतों के द्वारा स्तुत (पुरुष्टुत) तुम (त्वम्) प्रत्येक मनुष्य को (विशेविशे) पहले की तरह (प्रत्नथा) जीवन (वयः) देते हो (दधासि)। (अपने) बल के कारण (सहसा) (तुम) बहुत से अन्नों के (पुरुणि अन्ना) स्वामी हो (विराजसि) दीप्ति से युक्त (तित्विषाणस्य) तुम्हारी (ते) वह (सा) दीप्ति (त्विषिः) अधृष्य है (न आधृषे)।

सायण भाष्य— हे अग्ने त्वं पुरुरूपः सन् विशे विशे सर्वस्मै यजमानाय प्रत्नथा पुराण इव वयोऽन्नं दधासि। धारयसि। हे पुरुष्टुत बहुभिः स्तुत्य पुरूणि बहून्यन्नानि चरुपुरोडाशादीनि सहसा बलेन विराजसि। ईश्वरो भवसि स्वीकर्तुम्। तित्विषाणस्य दीप्तस्य ते तव सा प्रसिद्धा त्विषिर्दीप्तिर्नाधृषे। अन्यैरधृष्या भवति।

स्पष्टीकरण— आधिभौतिक, आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक किसी भी पक्ष में अर्थ करने पर अग्नि अनादि काल से सबको जीवन देने वाला है। आधिभौतिक पक्ष में पार्थिव अग्नि से ही समस्त दैनिक गृहकार्य सम्पादित होता है। आधिदैविक पक्ष में अग्नि देवता अपने यजमानों का विविध प्रकार से कल्याण करता है। सूर्य भी अग्नि का ही रुप है और उसके ताप और प्रकाश से ही जीवन सम्भव है। आध्यात्मिक पक्ष में **वासुदेव शरण अग्रवाल** के अनुसार शरीर को उष्ण रखने वाला प्राणतत्त्व ही अग्नि है। अतः यह कहना सर्वथा उचित है कि अग्नि ही जीवन देने वाला है।

अग्नि के ताप से ही भोजन पकने के कारण तथा अग्नि रुपी सूर्य की गर्मी और प्रकाश से विविध प्रकार की कृषियों और अन्न के पकने के कारण ही अग्नि को विविध प्रकार के अन्नों का स्वामी बतलाया गया है। अग्नि के प्रकाश की समानता अन्य कोई प्रकाश नहीं कर सकता अतः उसकी दीप्ति अन्य किसी भी दीप्ति द्वारा अधृष्य है।

राजपक्ष में अर्थात् आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि राजा को अग्नि के समान तेजस्वी तथा प्रजाहित में रत होना चाहिए। उसके द्वारा राज्यव्यवस्था

वैसी ही की जानी चाहिए जैसे प्राचीन समय में सर्वगुणसम्पन्न, न्यायप्रिय प्रतिभाशाली व्यक्तित्वयुत तेजस्वी राजा करते थे। राज्य में व्यवस्था, अनुशासन तथा शान्ति बनाए रखने के लिए राजा का अधृष्य होना भी परम आवश्यक है। केवल शान्ति का मार्ग अपनाने वाले राजाओं का न कोई आदर करता है और न ही कोई उनसे डरता है।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य की दृढ़ सङ्कल्पशक्ति होनी चाहिए और प्रत्येक मनुष्य को सदसद्विवेकी, महातेजस्वी, और प्रतिभाशाली होना चाहिए क्योंकि दृढ़ संकल्पशक्ति वाला तेजस्वी मनुष्य ही भौतिक और आध्यात्मिक समस्त भोगों को प्राप्त कर पाता है।

टिप्पणियाँ

1. **पुरुरूप**— दृष्टव्य मंत्र 2 ।

2. **विशेविशे**— सायण ने अर्थ किया 'सभी यजमानों को'। **ग्रिफिथ**— : प्रत्येक घर में' जबकि अन्य विद्वानों ने प्रत्येक मनुष्य को' अर्थ किया।

3. **वयः**— **सायण** तथा **वेंकटमाधव** ने इसका अर्थ 'अन्न' किया जबकि अन्य सभी विद्वानों ने— 'आयु' अथवा 'जीवन' किया।

4. **पुरुष्टुत**— पुरु + √ स्तु + क्त, सम्बोधन, एकवचन, पुल्लिङ्ग। 'पुरुभिः स्तुतः इति पुरुष्टुत।

5 . **पुरूणि अन्ना सहसा विराजसि**— **सायण** ने इसका अर्थ किया 'चरुपुरोडाशादि बहुत से अन्नों के अपने बल के कारण स्वामी हो'। **ग्रिफिथ** ने भी यही अर्थ कुछ इस प्रकार किया —'अपनी शक्ति द्वारा तुम बहुत प्रकार के भोजन पर शासन करते हो'।

सातवलेकर ने भी यही अर्थ स्वीकार किया।

वेंकट माधव— 'अपने बल से बहुत से अन्नों का भक्षण करते हुए तुम सुशोभित होते हो'।

योगी जी ने 'अन्ना' का अर्थ 'भोग' किया अर्थात् 'तुम अपनी शक्ति से बहुविध भोगों के एकमात्र स्वामी हो।

अरविन्द घोष ने इस पद को दो वाक्यांशों में बाँट दिया -पुरूणि अन्ना अर्थात् बहुत सी वस्तुएँ हैं जिनका तुम भक्षण करते हो तथा सहसा विराजसि

अर्थात् अपने बलद्वारा उन सब भोज्य वस्तुओं को तुम प्रकाशित करते हो।

'अन्ना' के स्थान पर 'अन्नानि' रुप होना चाहिए था परन्तु **शेश्छन्दसि बहुलम्**' (6.1.70) से 'शि' का लोप हो गया।

6. **तित्विषाणस्य** √ त्विष्+ कानच्, षष्ठी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

त्वामग्ने समिधानं यविष्ठ्य देवा दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम्।
उरुज्रयसं घृतयोनिमाहुतं त्वेषं चक्षुर्दधिरे चोदयन्मति।। 6।।

त्वाम्। अग्ने। सम्ऽइधानम्। यविष्ठ्य। देवाः। दूतम्। चक्रिरे। हव्यऽवाहनम्।
उरुऽज्रयसम्। घृतऽयोनिम्। आऽहुतम्। त्वेषम्। चक्षुः। दधिरे। चोदयत्ऽमति।

अन्वय— यविष्ठ्य अग्ने समिधानम् हव्यवाहनम् त्वाम् देवाः दूतं चक्रिरे। उरुज्रयसम् घृतयोनिम् आहुतम् त्वेषम् चक्षुः मतिम् चोदयन् त्वाम् दधिरे।

सरलार्थ— सबसे अधिक युवा (यविष्ठ्य) हे अग्नि (अग्ने) भली प्रकार से प्रदीप्त हुए (समिधानम्) आहुति द्रव्यों का वहन करने वाले (हव्यवाहनम्) तुमको (त्वाम्) देवताओं ने (देवाः) दूत (दूतम्) बनाया (चक्रिरे)। अत्यधिक वेगवान् (उरुज्रयसम्), घृतरूप कारण वाले (घृतयोनिम्) आहुतियों से युक्त (आहुतम्) दीप्तियुक्त (त्वेषम्),सबके दृष्टा (चक्षुः) (और) शुभ विचारों को (मतिम्) प्रेरित करने वाले (चोदयन्) तुमको (त्वाम्) (मनुष्यों ने) धारण किया (दधिरे)।

सायण भाष्य— हे यविष्ठ्य युवतमाग्ने समिधानं सम्यगिध्यमानं त्वां हव्यवाहनं हविषां वोढारं दूतं चक्रिरे। कृतवन्तो देवाः। त्रयाणामग्नीनां मध्ये हव्यवाहनः खलु पूर्वं देवैर्हविर्वहनाय दूतः कृतः। हव्यवाहनो देवानाम्। तै. सं. 2.5.8.6। इति हि श्रुतिः। किञ्च उरुज्रयसं प्रभूतवेगं घृतयोनिम्। घृतं योनिः कारणं यस्य तम्। आहुतं त्वां चोदयन्मति। चोदयन्ती मतिर्यस्य तच्चोदयन्मति। त्वेषं दीप्तं चक्षुरुक्तलक्षणं सर्वप्रकाशकं चक्षुः स्थानीयं कृत्वा दधिरे देवा मनुष्याश्च। मत्या हि चक्षुश्चोद्यते।

स्पष्टीकरण— अग्नि युवातम है क्योंकि पार्थिव अग्नि अन्तरिक्षस्थानीय अग्नि- विद्युत तथा द्युस्थानीय अग्नि -सूर्य की सत्ता अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगी। परन्तु तब भी उसकी, आभा, शोभा, कान्ति, दीप्ति उसी प्रकार अक्षुण्ण हैं। अग्नि के भली प्रकार से प्रज्वलित होने पर ही यज्ञ की सफलता है। आहुतिद्रव्यों को देवताओं तक पहुँचाने के कारण ही उसे 'हव्यवाट्' अथवा 'वह्नि' कहा जाता है। इस प्रकार वह देवताओं और मनुष्यों के मध्य

दौत्यकर्म भी संपादित करता है। तुलनीय—

'त्रयाणामग्नीनां मध्ये हव्यवाहनः खलु पूर्वं देवैर्हविवहनाय दूतः कृतः। हव्यवाहनो देवानाम् 'अर्थात तीन अग्नियों के मध्य देवताओं ने प्राचीन काल में हव्यवाहन को दूत बनाया था (तैतरीय संहिता 2.5.8.6) घी के कारण ही अग्नि प्रज्वलित होता है अतः उसे '**घृतयोनिम्**' कहा गया है। तुलनीय '**घृतमस्य धाम**'। प्रकाशयुक्त ज्वालाओं के कारण वह दीप्तियुक्त है तथा बुद्धि को भी प्रेरित करता है। वस्तुतः अग्नि प्रकाशमय है और प्रकाश शुभ बुद्धि और ज्ञान का प्रतीक है '**अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्**' (यजुर्वेद 40.18)

आधिभौतिक अर्थात् राजपक्ष में इसका संप्रेषित अर्थ है कि राजा को सदैव नवयौवन सुलभ उत्साह से परिपूर्ण होना चाहिए। राजाओं में देवताओं का अंश भी माना गया हैं। अतः दैविक शक्तियाँ उनके माध्यम से कार्य करती हैं। राजाओं को ज्ञानयुक्त (प्रकाशमय) सद्विचार युक्त व विवेकी होना चाहिए ताकि प्रजा के सामने वह एक आदर्श राजा बन पाए।

आध्यात्मिक पक्ष में संकल्पशक्ति ही अग्नि है। यही मनुष्य को सदसद्विवेक युक्त, दिव्यविचारयुत, वर्चस्वयुत व तेजोमय बनाती है। आत्मविश्वास से युक्त व्यक्तित्व ही इतना अधिक प्रतिभाशाली होता है कि सब उसके प्रति अनायास ही आकंर्षित हो जाते हैं।

टिप्पणियाँ

1. **यविष्ठ्य**— युवन् शब्द +इष्ठन् प्रत्यय, सम्बोधन, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

2. **उरुज्रयसम्**— उरु +√ ज्रि + असुन्, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

प्रायः सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'महान् वेग वाला' किया है परन्तु **ग्रिफिथ** तथा **अरविन्दघोष** ने 'दूर दूर तक विस्तृत प्रदेशों में गति करने वाला' किया है।

3. **आहुतम्**— आ √ हु –दानादयोः + क्त प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन पुल्लिङ्ग। इसके दो अर्थ हो सकते हैं (i) जिसके लिऐ हवि अर्पित की गई है (ii) जिसका आह्वान किया गया है। परन्तु दूसरा अर्थ करने पर इसमें √ **ह्वे** –आह्वाने धातु माननी होगी।

4. **चोदयन्**— √ चुद्+ शतृ णिच्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

5. **चक्षुः**— **सायण** ने इसका अर्थ 'सबको प्रकाशित करने वाला' किया

है परन्तु इसे √ चक्ष्-दर्शने से निष्पन्न मानकर इसका अर्थ 'सबको देखने वाला' भी हो सकता है।

'मनुष्यों ने इसे धारण किया ' इसका अभिप्राय सम्भवतः यह हो कि मनुष्यों ने अग्नि को सर्वप्रकाशक, सर्वदृष्टा व बुद्धि को प्रेरित करने वाले देवता के रूप में स्वीकार किया है।

त्वामग्ने प्र दिव आहुतं घृतैः सुम्नायवः सुषमिधा समीधिरे।
स वावृधान ओषधीभिरुक्षितोऽभि ज्रयांसि पार्थिवा वि तिष्ठसे।।7।।

त्वाम्। अग्ने। प्रऽदिवः। आऽहुतम्। घृतैः। सुम्नऽयवः। सुऽसमिधा। सम्। ईधिरे। सः। वावृधानः। ओषधीभिः। उक्षितः। अभि। ज्रयांसि। पार्थिवा। वि। तिष्ठसे।

अन्वय— अग्ने घृतैः आहुतम् त्वाम् प्रदिवः सुम्नायवः सुषमिधा सम् ईधिरे। सः ओषधीभिः वावृधानः अभि उक्षितः ज्रयांसि पार्थिवा वितिष्ठसे।

सरलार्थ— हे अग्नि (अग्ने) घी की (घृतैः) आहुतियों से युक्त (आहुतम्) तुमको (त्वाम्) पुरातन (प्रदिवः) (और) सुख के इच्छुक (सुम्नायवः) (यजमानों ने) शुभ ईंधन से (सुषमिधा) भली प्रकार (सम्) प्रदीप्त किया (ईधिरे) वह (सः) (तुम) वनस्पतियों द्वारा (ओषधीभिः) वृद्धि को प्राप्त हुए (वावृधानः) तथा घी इत्यादि से) चारों तरफ से (अभि) सिञ्चित हुए (उक्षितः) अन्नों (ज्रयांसि) और पार्थिव वृक्षों को (पार्थिवा) व्याप्त करते हो (वितिष्ठसे)।

सायण भाष्य— हे अग्ने घृतैराहुतं त्वां प्रदिवः पुरातनाः सुम्नायवः सुखमिच्छन्तो यजमानाः सुषमिधा शोभनेनेध्मेन समीधिरे। सम्यक् दीपितवन्तः। स त्वं वावृधानो वर्धमान ओषधीभिरुक्षितः सिक्तो ज्रयांस्यन्नानि पार्थिवा पार्थिवान्वृक्षान्। यद्वा। पार्थिवेति ज्रयाविशेषणम्। पार्थिवानि चरुपुरोडाशादिकान्यभि वि तिष्ठसे। अभिव्यज्य वर्तसे।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि की स्तुति करते हुए कहा गया है कि प्राचीन काल से ही सुख के इच्छुक यजमान सुन्दर अर्थात् पवित्र समिधाओं से तुम्हें प्रदीप्त करते हैं और घी की आहुति भी अर्पित करते हैं। इन ओषधियों अर्थात् हवन सामग्री से प्रदीप्त और समर्पित घी से युक्त तुम अन्न व पार्थिव वृक्षों को व्याप्त करते हो। अन्तिम चरण का भाव दो प्रकार दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता हैं -

(i) अग्नि यजमानों की आहुति देवताओं तक ले जाता है जिसे खाकर सभी देवता अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। फलस्वरुप वे समय पर वर्षा करके तथा धूप प्रकाश इत्यादि देकर कृषियों को सघन करते हैं व अन्य पेड़ पौधों को फल

फूलों से समृद्ध करते हैं। देवता मनुष्यों द्वारा समर्पित हवि द्वारा ही जीवित रहते हैं, ऐसा उल्लेख संस्कृत साहित्य में पुनः पुनः प्राप्त होता है इसी कारण वे 'हविर्भुक्' हैं। यह सब अग्नि द्वारा ही सम्भव किए जाने के कारण अग्नि को अन्न व वृक्षों को व्याप्त करने वाला कह दिया गया।

(ii) अथवा इस चरण में अग्नि की स्तुति सूर्य रुप में की गई है क्योंकि सूर्य के ताप और प्रकाश से ही अन्न उत्पन्न होता है और पकता है तथा वृक्ष भी फल फूलों से लद जाते हैं।

आधिभौतिक अर्थात् राजपक्ष में राजा को तेजस्वी व सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। उसे प्रजा का संतापहारक, कष्टनिवारक तथा संरक्षक होना चाहिए। तभी वह प्रजा का प्रेम, आदर और सम्मान प्राप्त कर सकता है। राजा और प्रजा के पारस्परिक सहयोग से ही राष्ट्र की उन्नति, प्रगति व समृद्धि सम्भव है।

आध्यात्मिक पक्ष में सङ्कल्प शक्ति ही अग्नि है। जो मनुष्य सुख चाहता है वह अपनी सङ्कल्प शक्ति को प्रदीप्त करे। यह सङ्कल्पशक्ति कष्ट निवारक ज्ञानौषधि से बढ़ती है। आध्यात्मिक प्रगति के साथ साथ भौतिक प्रगति भी इसी सङ्कल्प शक्ति से सम्भव है।

टिप्पणियाँ

1. **प्रदिवः— सायण** ने इसे 'सुम्नायवः' का विशेषण माना है और अर्थ किया है 'पुरातन और सुख के इच्छुक यजमानों ने'।

सातवलेकर ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

स्वामीदयानन्द ने इसका सम्बन्ध 'आहुतम्' के साथ माना है और अर्थ किया है 'प्रकृष्ट प्रकाश से (प्रदिवः) गृहीत (आहुतम्) परन्तु व्याकरण की दृष्टि से सायण का अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि 'प्रदिवः' और 'सुम्नायवः' दोनों में ही प्रथमा बहुवचन है। संज्ञा और विशेषण में उसी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए। जबकि **स्वामी दयानन्द** के अर्थ में तृतीया विभक्ति का अर्थ निहित है यदि यह अर्थ अभिप्रेत होता तो 'प्रदिवः' में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए था न कि पञ्चमी विभक्ति का जो यहाँ किया गया है। **स्वामी दयानन्द** ने स्वयं इसमें पञ्चमी विभक्ति मानी है 'प्रकृष्टात्' प्रकाशात् आहुतम्'।

ग्रिफिथ— 'पुरातन काल से'

अरविन्द घोष— 'उच्चतर स्वर्ग लोक से'

2. **आहुतम्—** दृष्टव्य मन्त्र 6। **सायण** ने इसका सम्बन्ण 'घृतैः' से माना है 'घी के द्वारा आहुत'।

स्वामी दयानन्द ने इस का सम्बन्ध 'प्रदिवः से माना है और अर्थ किया है 'प्रकृष्ट प्रकाश से गृहीत' (प्रकृष्टात् प्रकाशात् आहुतम्)।

ग्रिफिथ ने भी इसका सम्बन्ध तो 'प्रदिवः' से ही माना है परन्तु अर्थ पञ्चम्यन्त ही किया है 'प्राचीन काल से पूजित'।

अरविन्द घोष 'प्रदिवः' घृतैः आहुतम्' इन तीनों पदों को एक साथ सम्बद्ध कर अर्थ करते हैं 'उच्चतर स्वर्ग लोक से (प्रदिवः) प्रकाश की आहुतियों द्वारा (घृतैः) तृप्त किया गया (आहुतम्)'

3. **ज्रयांसि पार्थिवा— सायण ने इसके दो अर्थ किए हैं-**

(i) ज्रयांसि और पार्थिवा दोनों को पृथक् पृथक् संज्ञा मानकर अर्थ किया है 'अन्नों और पार्थिव वृक्षों को'।

(ii) पार्थिवा को ज्रयांसि का विशेषण मान कर अर्थ किया पार्थिव चरुपुरोडाशादि अन्नों को'।

यह दृष्टव्य है कि पूर्व मन्त्र में सायण ने 'उरुज्रयसम्' का अर्थ प्रभूत वेगवान्' किया है। वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करते समय सायण ने शब्दों का अर्थ प्रसंग के अनुकूल किया है। यही कारण है कि एक ही शब्द का अर्थ उन्होंने भिन्न भिन्न किया है।

ग्रिफिथ तथा अरविन्द घोष 'पृथ्वी के विस्तृत प्रदेशों को'।

स्वामीदयानन्द और सत्यभूषण योगी 'पृथ्वी पर होने वाले वेगयुक्त कार्य'।

'पार्थिवा' के स्थान पर 'पार्थिवानि' रुप होना चाहिए था परन्तु **शेश्छन्दसि** बहुलम् (6.1.70) से 'शि' का लोप हो गया।

ज्रयांसि में √ ज्रि + असुन् प्रत्यय, प्रथमा द्वितीया विभक्ति, बहुवचन नपुसंकलिङ्ग।

4. **वावृधानः—** √ वृध्-वृद्धौ +कानच्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

5. **उक्षित—** √ उक्ष्-सेचने + क्त प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

'छन्दसि परेऽपि' (1.4.81) से उपसर्ग धातु के बाद आया।

6. **ऊतये—** √ अव्-रक्षणे + क्तिन्, सम्प्रसारण , चतुर्थी विभक्ति, एकवचन।

卐 卐 卐

सविता (ऋग्वेद 7.45)

द्युस्थानीय सविता देव की स्तुति ऋग्वेद के 11 सम्पूर्ण सूक्तों में तथा अंशतः अनेक अन्य सूक्तों में हुई है। वैदिकोत्तर साहित्य में सूर्य और सविता एक ही देवता माने गए हैं परन्तु वेद में ये दोनों देवता भिन्न थे। उस समय भी यद्यपि इन दोनों का सम्बन्ध इतना निकट का था कि कई बार वे दोनों एक ही देवता के रूप में सम्बोधित कर दिए गए हैं (तुलनीय ऋग्वेद 1.124.1, 7.63, 10.158,1-4) तथापि इन दोनों में अन्तर अवश्य था।

सविता सूर्य का प्रेरक है व उसके आगमन की सूचना देता है परन्तु स्वयं सूर्य नहीं है। ऋग्वेद के 1.35.9 में स्पष्ट कहा गया है कि आकाश और पृथ्वी के बीच सविता भ्रमण करता है व सूर्य को प्रेरित करता है— '**हिरण्यपाणि सविता .... उभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते .... वेति सूर्यम्।**' सविता सूर्य के समक्ष मनुष्यों के पापरहित होने की घोषणा करता है— '**देवो नो अत्र सविता दमूना अनागसो वोचति सूर्याय**' (ऋग्वेद 1.125.3) और तत्पश्चात् सूर्य की किरणों से संपृक्त हो जाता है (ऋग्वेद 1.157.1, 5.81.4, 10.139.1, 10.183.3) इसके अतिरिक्त सूर्योदय के समय उपासकों को ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए मित्र, भग आदि के साथ सविता की भी स्तुति की गई है (ऋग्वेद 7.66.4)। इन सबसे यह प्रमाणित होता है कि वेद में सूर्य और सविता का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होने पर भी ये दोनों पृथक्-पृथक् दो देवता हैं।

यास्काचार्य के अनुसार **उदय होने से पूर्व सूर्य को 'सविता' कहते हैं।** (निरुक्त 12.12) सायण का भी यही मत है 'उदयात् पूर्वभावी सविता (ऋग्वेद 5.81.4 पर सायण भाष्य)' और उदय से लेकर अस्त होने तक के समय को सूर्य कहते हैं परन्तु **ऋग्वेद में सविता का आह्वान दिन के प्रारम्भ में और दिन के अन्त में, दोनों ही समय किया गया है।** ऋग्वेद के 2.38.1 में सविता की स्तुति दिन के प्रारम्भ में है '**उदुष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तद्दपा वह्निरस्थात्**' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाले, प्रकाशक तथा तेजस्वी सविता देव सभी प्राणियों को कर्म की प्रेरणा देते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं तो उसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में सविता की स्तुति अस्त होने वाले सूर्य के रूप में है—

आशुभिश्चिद्यान्वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः।
अह्यर्षूणां चित्र्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात्।।

अर्थात् अस्त होते हुए सवितादेव अपनी द्रुतगामी रश्मियों को समेट कर चलते हुए यात्रियों को रोक देते हैं। शत्रुओं पर आक्रमण करने वाले वीरों को रोक देते हैं। उनके इस कर्म की समाप्ति के बाद ही रात्रि का आगमन होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्योदय से पहले और सूर्यास्त के समय आकाश में व्याप्त होने वाली लालिमा ही सविता है। सम्भवतया वैदिक ऋषियों की दृष्टि **में सूर्य भौतिक सूर्य के स्थूल रूप का प्रतिनिधित्व करता है जबकि सविता सूर्य की प्रेरक शक्ति का प्रतिरूप है** जो शक्ति मनुष्यों को प्रातः कार्य करने की और सायंकाल विश्राम करने की प्रेरणा देती है। **श्रीराम आचार्य ने भी 'सविता को दिव्य प्रेरणाएँ देने वाला देवता'** माना है। यह अपेक्षाकृत अधिक अमूर्त देव है।

सविता की व्युत्पत्ति √ सू-प्रेरणे से हुई है। यास्क ने भी सविता की परिभाषा देते हुए कहा है **'सर्वस्य प्रसविता'** (निरुक्त 10.31)। यह ध्यातव्य है कि सू धातु से बने शब्द भी जैसे **प्रसवितृ, प्रासावीत्, आसुवत्, परासुब, सवाय, सवे** आदि भी सविता के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि उषा का स्वरूप और कार्य भी सविता के समान हैं तथापि इन दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि उषा प्रभात का वह समय है जब सूर्य क्षितिज के नीचे होता है और सविता वह समय है जब सूर्य क्षितिज पर दिखाई देने लगता है।

सविता हिरण्यमय देवता है। वह हिरण्यनेत्र (हिरण्याक्षः), हिरण्यपाणि व हिरण्यजिह्व है। इसके बाल पीले हैं तथा यह पीले वस्त्र ही पहनता है। सविता का रथ भी स्वर्णिम है जिसके द्वारा वह समस्त प्राणियों को देखता हुआ जाता है **'हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्'** (ऋग्वेद, 1.35.2)। सविता तीन बार पृथ्वी के, तीनों लोको के तथा ज्योतिष्मान् स्वर्ग के तीनों लोकों के चारों ओर विद्यमान होता है—**'त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना'** (ऋग्वेद, 4.53.5)। यहाँ प्रातः काल और सायंकाल सविता का सर्वत्र व्याप्त होना तो स्पष्ट है परन्तु सम्भवतया तीसरी बार सविता का सूर्य में विलीन होकर व्याप्त होना भी अभिप्रेत है। ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर्योदय से पहले सविता उसकी अगवानी करने के लिए उपस्थित हो जाता है, दिन में उसके साथ-साथ रहता है और संध्याकाल में पुनः उसे विदाई देता है।

मनुष्यों को जगाने और आशीर्वाद देने के लिए हाथों को पसारना सविता का मुख्य कार्य है। वह रोगों को दूर करता है—**'अपामीवां बाधते'**। इसे देवताओं

का जनक भी कहा गया है— **'सविता वै देवानां प्रसविता'** (शतपथ ब्राह्मण 1.1.2.17)। यह देवताओं को अमरत्व तथा मनुष्यों को दीर्घायु प्रदान करता है। इससे मनुष्यों को पापरहित करने की व दुःस्वप्नों को दूर करने की प्रार्थना की गई है। यह दुष्टात्माओं तथा व्यभिचारियों को भी दूर भगा देता है— **'अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः'**। उसके व्रत व नियम भी दृढ़ हैं व कोई भी जहाँ तक कि इन्द्र, मित्र, अर्यमा आदि भी इसकी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करते। वरुण और सविता राष्ट्राध्यक्ष के रूप में भी प्रख्यात हैं क्योंकि ये भुवन के आश्रयदाता हैं— **'सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः'** (शतपथ ब्राह्मण 11.4.3.14)। — पूषन् और सूर्य की भाँति सविता भी चराचर जगत का स्वामी है। यह मनुष्यों की पृथ्वी पर रक्षा करता है तथा परलोक जाने पर भी उनके कुशलक्षेम का ध्यान रखता है।

सविता देव का स्मरण ऋग्वेद के प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में सर्वोच्च देवता के रूप में किया गया है व उससे बुद्धि प्रेरित करने की प्रार्थना की गई है।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।

(ऋग्वेद 3.32.10)

सविता के नाम पर यह **'सावित्री मन्त्र'** के नाम से भी विख्यात है। इसी कारण हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में इस देवता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाद में सविता शारीरिक, मानसिक, नैतिक व प्रेरक शक्ति का भी प्रतीक बन गया। इसी कारण यजुर्वेद में उसे सम्बोधित करते हुए कहा गया है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।।

आध्यात्मिक पक्ष में दिव्य अन्तः प्रेरणा शक्ति ही सविता है।

भारोपीय काल में सम्भवतया सूर्य और सविता एक ही देवता रहे होंगे अतः सविता के नाम का समरूप कोई देवता वहाँ नहीं है।

ऋग्वेद 7.45

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के सातवें मण्डल का 45वाँ सूक्त है। इसका देवता सविता है व ऋषि मैत्रावरुणि वसिष्ठ है। 'मित्रावरुणयोरपत्यम् इति मैत्रावरुणिः' अर्थात् जो मित्र और वरुण के पुत्र हैं। 'मित्र' सर्वत्र ऐकात्म्यदृष्टिमान्, दयालु स्वभाव और उदार हृदय है तो वरुण न्यायप्रिय है। **मित्र और वरुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है।** वसिष्ठ शब्द 'वसु + इष्ठन् प्रत्यय' से निष्पन्न है। **मोनियर विलियम्स महोदय** ने वसिष्ठ के most excellent, best, richest— उत्कृष्टतम, श्रेष्ठ, सबसे अधिक धनवान् ये अर्थ किए हैं। √ वस् धातु-आच्छादने, नियासे,

स्नेहनच्छेदनापहरणेपु से निष्पन्न है। तदनुसार वसिष्ठ के सुप्रतिष्ठित, व्याप्तिमान्, स्थितप्रज्ञ इत्यादि अर्थ हैं।

प्रस्तुत सूक्त में त्रिष्टब् छन्द है। यह वैदिक छन्द है। इसमें चार चरण होते हैं व प्रत्येक चरण में 11-11 अक्षर होते हैं।

आ दे॒वो या॑तु सवि॒ता सु॒रत्नो॑ऽन्तरिक्ष॒प्रा वह॑मानो॒ अश्वैः॑।
हस्ते॒ दधा॑नो॒ नर्या॑ पु॒रूणि॑ निवे॒शय॑ञ्च प्रसु॒वञ्च भूम॑।। 1।।

आ। दे॒वः। या॒तु। स॒वि॒ता। सु॒ऽरत्नः॑। अ॒न्त॒रि॒क्ष॒ऽप्राः॑। वह॑मानः। अश्वैः॑।
हस्तै॑। दधा॑नः। नर्याः॑। पु॒रूणि॑। नि॒ऽवे॒शय॑न्। च। प्र॒ऽसु॒वन्। च॒। भूम।

अन्वय— सुरत्नः अन्तरिक्षप्रा अश्वैः वहमानः हस्ते नर्याः पुरूणि दधानः भूम निवेशयन् च प्रसुवन् सविता देवः आ यातु।

सरलार्थ— सुन्दर रत्नों से युक्त (सुरत्नः) अन्तरिक्ष को व्याप्त करने वाला (अन्तरिक्षप्रा) अश्वों के द्वारा (अश्वैः) खींचा जाता हुआ (वहमानः) हाथ में (हस्ते) मनुष्यों के लिए हितकारी (नर्याः) बहुत सी (पुरूणि) (वस्तुएँ) धारण करता हुआ (दधानः) प्रणियों को (भूम) (रात्रि में) विश्राम देता हुआ (निवेशयन्) तथा (च) (प्रातः काल कार्य करने की) प्रेरणा देता हुआ (प्रसुवन्) सविता देव (सविता देवः) आए (आ यातु)।

सायण भाष्य— आ देवो यात्विति चतुर्ऋचं द्वादशं सूक्तं वसिष्ठस्यार्ष सवितृदेवताकं त्रैष्टुभम्। आ देवश्चतुष्कं सावित्र्यमित्यनुक्रान्तम्। व्यूळ्हे दशरात्रे चतुर्थेऽहनि वैश्वदेवशस्त्र इदं सावित्रनिविद्धानम्। सूत्र्यते हि। चतुर्थेऽहन्या देवो यातु . . .। आ. 8.8। . . . इत्येषा वपानुवाक्या। सूत्रितं च। आ देवो यातु सविता सुरत्नः स घा नो देवः सविता सहावा। आ. 3.7। इति।। अश्वमेधेऽनुसवनं तिस्रः सावित्र्य इष्टयः। तत्र द्वितीयस्यामिष्टौ याज्येयम्। सूत्रितं च। य इमा विश्वा जातान्या देवो यातु। आ. 10.6। इति।

सुरत्नः शोभानरत्नोपेतोऽन्तरिक्षप्राः स्वकीयेन तेजसान्तरिक्षस्य पूरयिताश्वैः स्वकीयैर्वाहैर्वहमान उह्यमानः सविता सर्वस्य प्रेरको देव आ यातु। आगच्छतु। कीदृशः। नर्या नर्याणि मनुष्यहितानि पुरूणि बहूनि धनानि हस्ते पाणौ दधानो दातुं धारयन् भूम भूतानि निवेशयंश्च रात्रिषु स्वे स्थाने स्थापयंश्च प्रसुवंश्चाहः सु प्रेरयंश्च। एवंभूतः सविता देव आ यातु।

स्पष्टीकरण— वेदों में सविता की स्तुति सूर्य की प्रेरक शक्ति के रूप में हुई है। वह सुन्दर रत्नों से युक्त है क्योंकि उसके उदित होने पर ही सब

धनोपार्जन के लिए जाते हैं तथा अपने इच्छित पदार्थों (सुरत्न) को प्राप्त करते हैं। अपने प्रकाश से वह अन्तरिक्ष लोक को व्याप्त करता है। यह ध्यातव्य है कि उसका प्रकाश पृथ्वी लोक पर भी व्याप्त होता है परन्तु सम्भवतः द्युस्थानीय देवता होने के कारण उसका प्रकाश अन्तरिक्ष लोक में पहले और अधिक मात्रा में प्रथित होने के कारण उसे 'अन्तरिक्षप्रा' कह दिया गया हो। उसका रथ किरण रूपी अश्वों द्वारा खींचा जाता है। मनुष्यों के लिए बहुत सी हितकारी वस्तुएँ लेकर उपस्थित होना उसके लिए स्वाभाविक है क्योंकि सविता के उदय होने पर ही मनुष्यों के लिए हितकारी और उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त करना सम्भव है। सविता ही रात दिन का निर्माण करता है अतः रात्रि में सब प्राणियों को सोने की तथा प्रातः काल कार्य करने की प्रेरणा उसी से प्राप्त होती है। इससे भी यह स्पष्ट है कि सूर्योदय से पूर्व का और सूर्यास्त के बाद का देवता सविता है।

आधिभौतिक पक्ष में इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि कल्याण व परहित के इच्छुक व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करने वाले महात्माओं, सन्त सन्यासियों के पास जाना चाहिए। इनका दर्शन भी मनुष्य का हित करता है क्योंकि **'सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्'**। इनके सान्निध्य मात्र से मनुष्य को प्रेरणा मिलती है, हृदय शान्त होता है तथा सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

आध्यात्मिक पक्ष में सविता का अर्थ दिव्य अन्तः प्रेरणा शक्ति है। जिस मनुष्य के पास यह प्रेरणा शक्ति है वह जीवन में अप्रतिम प्रगति करता है। कठिन कार्य भी उसके लिए सरल हो जाते हैं। प्रेरणा ही उसे दृढ़निश्चयी बनाती है। दृढ़निश्चयी के लिए इस संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है क्योंकि **'जहाँ चाह वहाँ राह'**।

टिप्पणियाँ

1. **आ यातु**— आ + √ या + लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। 'व्यवहिताश्च' (1.4.82) सूत्र से उपसर्ग और धातु में व्यवधान है।

2. **सुरत्नः**— **सायण, वेंकटमाधव, योगी जी**— 'सुन्दर रत्नों से युक्त।'
स्वामी दयानन्द— 'सकल ऐश्वर्य प्रदान करने वाला'।
सातवलेकर— 'उत्तम रत्नों को धारण करने वाला'।
वेलंकर—'सुन्दर उपहारों से युक्त'।

3. **वहमानः**— √ वह् + शानच् + मुक्‌आगम, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुलिङ्ग। यहाँ 'उह्यमानः, रूप होना चाहिए था परन्तु सम्प्रसारण नहीं हुआ।

4. **नर्या**— नृ + यत् प्रत्यय, प्रथमा द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, नपुसंकलिङ्ग। 'नर्याणि' रूप होना चाहिए था परन्तु 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (6.1.70) से 'शि' लोप हो गया।

5. **प्रसुवन्**— प्र + √ षू-सू-प्रेरणे, उवङ् आदेश, शतृ प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सायण— 'दिन में प्रेरित करते हुए'।

वेलंकर— 'कार्य करने की प्रेरणा देते हुए'।

ग्रिफिथ— 'जगाते हुए'।

6. **दधानः**— √ धा + शानच् प्रत्यय + प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

7. **निवेशयन्**— नि + √ विश् + णिच् + शतृ, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

8. **भूम**— सायण ने अर्थ किया 'सभी प्राणी'।

वेलंकर ने इसे √ भू धातु से निष्पन्न मानकर समूहवाचक संज्ञा पद में इसका अर्थ 'भूतजातम्' किया। कुछ अन्य स्थानों पर यह 'भूमि' के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

9. **देवः**— 'दानाद्वा, दीपनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा द्योतनाद्वा' अर्थात् दान, दीपन और द्योतन के कारण 'देव' होता है।

उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम्।
नूनं सो अस्य महिमा पनिष्ट सूरश्चिदस्मा अनु दादपस्याम्।। 2।।

उत्। अस्य। बाहू इति। शिथिरा। बृहन्ता। हिरण्यया।
दिवः। अन्तान्। अनष्टाम्।
नूनम्। सः। अस्य। महिमा। पनिष्ट। सूरः।
चित्। अस्मै। अनु। दात्। अपस्याम्।

अन्वय— अस्य शिथिरा बृहन्ता उत हिरण्यया बाहू दिवः अन्तान् अनष्टाम्। नूनम् अस्य सः महिमा पनिष्ट सूरः चित् अस्मै अपस्याम् दात्।

सरलार्थ— इसकी (अस्य) फैली हुई (शिथिरा) महान् (बृहन्ता) और (उत) स्वर्णिम (हिरण्यया) भुजाएँ (बाहू) द्युलोक के (दिवः) अन्त तक (अन्तान्) पहुँची हुई हैं (अनष्टाम्)। निस्सन्देह (नूनम्) इसकी (अस्य) वह

(सः) महिमा (हमारे द्वारा) गाई जाती है (पनिष्ट) सूर्य (सूरः) भी चित्) इसे (अस्मै) कार्यशीलता (अपस्याम्) प्रदान करे (अनुदात्)।

सायण भाष्य— शिथिरा शिथिलौ दानार्थं प्रसारितौ बृहन्ता बृहन्तौ महान्तौ हिरण्यया हिरण्ययौ सुवर्णमयावस्य सवितुः सम्बन्धिनौ बाहू हस्तौ दिवोऽन्तरिक्षस्यान्तान् पर्यन्तानुदनष्टाम्। ऊर्ध्वौ सन्तौ व्याप्नुवताम्। नूनमद्यास्येदृग्भूतस्य सवितुः स तादृशो महिमा महत्त्वं पनिष्ट। अस्माभिः स्तूयते। सूरश्चित्सूर्योऽप्यस्मै सवित्रेऽपस्यां कर्मेच्छामनुदात्। अनुददातु।

स्पष्टीकरण— सविता की किरणें ही इसकी भुजाएँ हैं जो सर्वत्र व्याप्त हैं। रात्रि का अन्धकार दूर कर सबको प्रकाशित करने के कारण सविता महान् है और स्वर्ण वर्ण होने के कारण स्वर्णिम है। द्युस्थानीय देवता होने के कारण सविता के किरण रूपी हाथ द्युलोक के अन्त तक अर्थात् द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथ्वी लोक तीनों लोकों में व्याप्त हैं। सम्भवतः पृथ्वी लोक को द्युलोक का अन्त कहा गया है। वेद में सूर्य सविता का ही स्थूल रूप है अतः उससे प्रार्थना की गई है कि वह सविता को अपनी कर्मशीलता प्रदान करे। सविता प्रेरक शक्ति है तो सूर्य कर्मशीलता। प्रेरणा तभी सार्थक है जब उसके साथ क्रिया भी हो। ये दोनों परस्पराश्रित हैं। सम्भवतः इसी कारण ऋषि ने कामना की है कि सूर्य अपनी कर्मशीलता सविता को भी प्रदान करे।

आधिभैतिक पक्ष में इस मन्त्र का अर्थ है कि महात्माओं तथा सन्तों का हृदय बहुत विशाल होता है। उनकी भुजाओं में समस्त संसार समाहित है। सूर्य से प्रार्थना की गई है कि परहित संलग्न उनको कर्मशील बनाए क्योंकि परहितभावना और कर्मभावना से ही संसार का कल्याण होता है।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि जब दिव्य प्रेरणा (सविता) जागृत होती है तभी मनुष्य का हृदय विस्तार होता है। वह सर्वत्र एकात्मदर्शन करता है। परन्तु प्रेरणा के अनुरूप कार्य करना भी आवश्यक है। कर्म के बिना प्रेरणा पङ्गु है तो प्रेरणा के बिना कर्म निरर्थक। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

टिप्पणियाँ

1. **उद् अनष्टाम्—** उद् + √ णक्ष्-नक्ष्-गतौ से निष्पन्न है।

निघण्टु 2.14 में **'नक्ष्'** का अर्थ **'गतिकर्मा'** दिया है तो 2.18 में **'व्याप्तिकर्मा न क्षति व्याप्तिकर्मा'**। लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन है। **'व्यवहिताश्च'** (1.4.82) सूत्र से उपसर्ग और धातु के बीच व्यवधान है तथा **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** (3.4.6) से लट् लकार के अर्थ में **'लुङ्'** प्रयोग है।

सायण— 'ऊपर उठी हुई सविता की भुजाएँ व्याप्त कर लेती हैं'।

वेलंकर, ग्रिफिथ— 'द्युलोक के किनारों तक' पहुँची हुई हैं।

2. **शिथिरा**— 'रलयोरभेदः' से 'शिथिरा' 'शिथिला' के अर्थ में प्रयुक्त है। शिथिरा श्रन्थ्-विमोचनप्रतिहर्षयोः तथा √ श्रथि शैथिल्ये से निष्पन्न है। प्रथमा, द्वितीया विभक्ति, द्विवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ 'शिथिरौ' रूप होना चाहिए था परन्तु '**सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः**' (7.1.39) से विभक्ति प्रत्यय 'औ' के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश हो गया।

सायण ने अर्थ किया—'दान के लिए फैलाई गई भुजाएँ'।

वेलंकर— 'शिथिल भुजाएँ'।

सातवलेकर, योगी जी— 'प्रसारित'।

3. **बृहन्ता, हिरण्यया**— प्रथमा द्वितीया विभक्ति, द्विवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ '**बृहन्तौ**' और '**हिरण्ययौ**' रूप होने चाहिए थे परन्तु '**सुपां सुलक्**' इत्यादि (7.1.39) से 'औ' के स्थान पर 'डा' आदेश हुआ।

4. **पनिष्ट**— √ पण्-स्तुतौ, लुङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन, यहाँ 'अपनिष्ट' रूप होना चाहिए था परन्तु '**छन्दस्यमाङ्योगेऽपि**' (6.4.75) से माङ् के न होने पर भी 'अट्' नहीं आया। तथा '**छन्दसि लुङ्लङ्लिट**': (3.4.6) से लट् के अर्थ में लुङ् प्रयोग है।

अपस्याम्— **सायण** और **वेकंटमाधव** ने 'कर्मेच्छा' अर्थ किया

वेलंकर— 'कर्मशीलता'। **ग्रिफिथ**— 'उद्योगशील तेज'। 'अपस्' से नामधातु संज्ञा पद 'अपस्या' बना तथा द्वितीया विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिङ्ग में 'अपस्याम्' रूप बना।

6. **अनुदात्**— अनु + √ दा + लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

7. **अस्मै**— **सायण, वेलंकर** तथा **योगी जी** ने इसे 'सविता' के लिए प्रयुक्त सर्वनाम माना है। जबकि **वेलंकर** ने इसे मनुष्य के लिए प्रयुक्त माना है। यहाँ **वेलंकर** का अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। सविता प्रेरक शक्ति है तो सूर्य कर्म शक्ति। सविता मनुष्यों को कर्म करने के लिए प्रेरित करे और सूर्य उसे कार्य में नियुक्त करे।

8. **सूरः**— √ षू-सू-प्रेरणे, प्रेरणां राति ददाति इति सूरः। प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

स घा नो देवः सविता सहावा साविषद्वसुपतिर्वसूनि।
विश्रयमाणो अमतिमुरूचीं मर्तभोजनमध रासते नः।। 3।।

सः। घ। नः। देवः। सविता। सहऽवा। आ। साविषत्। वसुऽपतिः। वसूनि। विऽश्रयमाणः। अमतिम्। उरूचीम्। मर्तऽभोजनम्। अध। रासते। नः।

अन्वय— सहावा वसुपतिः सः सविता देवः नः वसूनि साविषत्। उरूचीम् अमतिम् विश्रयमाणः अध मर्तभोजनम् नः रासते।

सरलार्थ— अन्य तेजों को अभिभूत करने वाला (सहावा) धन का स्वामी (वसुपतिः) वह (सः) सविता देव (सविता देवः) हमारे लिए (नः) धन को (वसूनि) सब तरफ से प्रेरित करे (साविषत्)। अपनी विस्तीर्ण गति वाली (उरूचीम्) दीप्ति का (अमतिम्) प्रसार करता हुआ (विश्रयमाणः) आज (अध) मनुष्यों के द्वारा भोगे जाने योग्य धन को (मर्तभोजनम्) हमें (नः) प्रदान करे (रासते)।

सायण भाष्य— सावित्रे पशौ पुरोडाशस्य हविषोः स घा न इति द्वे अनुवाक्ये। सूत्रं पूर्वमुदाहृतम्। आश्वमेधिकीषु सवित्रेष्टिषु तृतीयस्यामिष्टाविमे एव याज्यानुवाक्ये। सूत्रितं च। स घा नो देवः सविता सहावेति द्वे। आ. 10.6। इति।

सहावा। तेजोऽन्तराण्यभि भावुकं तेजो यस्य सः। वसुपतिर्धनानां पालकः स सविता देवो नोऽस्मभ्यं वसूनि धनानि आ साविषत्। आ समन्तात्प्रेरयति। घेति पूरणः। स सविता देव उरूचीं विस्तीर्णगमनाममतिं रूपम्। दीप्तिमित्यर्थः। विश्रयमाणो निषेवमाणः सन्नधुना नोऽस्मभ्यं मर्तभोजनं मनुष्याणां भोगयोग्यं धनं रासते ददातु।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सविता देव से प्रार्थना की गई है कि वह हमें सब तरफ से धन प्रदान करे। प्रथम तो 'देव' होने के कारण दान देना उसका स्वभाव है और दूसरे सविता के उदित होने पर ही मनुष्य धनोपार्जन के लिए जाते हैं। इसी कारण उसे वसुपति कहा गया है। उसका तेज अन्य सभी तेजों से बढ़कर है। वह अपने तेज से अन्य सभी तेजों को अभिभूत कर लेता है। तीनों लोकों— स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी लोक में व्याप्त होने के कारण उसकी दीप्ति को विस्तीर्ण गति वाला बतलाया गया है। अपनी काँति का प्रसार करता हुआ मानवोचित भोग्य सामग्री वह हमें प्रदान करे। वह देवता है क्योंकि दानशील है स्वयं प्रकाशमान है, दूसरों को प्रकाशित करने वाला है तथा द्युस्थानीय भी है।

आधिभौतिक पक्ष में महात्मा, सन्त सन्यासियों का तेज अन्य सब तेजों को पराभूत कर देता है क्योंकि वे आत्मप्रकाश युक्त होते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में

स्पष्ट कहा गया है—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकस्ति तेजः।

स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति।। (2.7)

वे अन्य मनुष्यों की सहायता से महान् नहीं बनते अपितु उनके अपने ही गुण उन्हें महान् बनाते हैं। ऐसे अग्रणी, उपकारी, तेजस्वी महात्माओं के उपदेश को सुनकर व आत्मसात् करके व कार्यान्वित करके राष्ट्र की सुख समृद्धि और प्रगति सम्भव है।

आध्यात्मिक पक्ष में जब मनुष्य के हृदय में अन्तः दिव्य प्रेरणा (सविता) उत्पन्न होती है तब वह स्वप्रकाश से प्रकाशित हो तेजस्वी व प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला हो जाता है। आध्यात्मिक जीवन में प्रवर्तित होता हुआ भी सांसारिक जीवन की उपेक्षा नहीं करता। अभ्युदय निःश्रेयस्, योग भोग, विद्या और अविद्या दोनों के समन्वय में ही जीवन की सार्थकता है।

टिप्पणियाँ

1. **घा**— यह छन्दपूर्ति के लिए है। **'ऋचि तुनुघमक्षतकुत्रोरुष्याणाम्'** (6.3.133) से अन्तिम 'अ' दीर्घ हो गया।

2. **सहावा**— सह् + वनिप् प्रत्यय-सहावन्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सायण ने इसका अर्थ 'अन्य तेजों का अभिभव करने वाला' किया है।

वेंकट माधव— 'सहन करने वाला'।

यास्क, दुर्गाचार्य, ग्रिफिथ, वेलंकर व सत्यभूषण योगी ने इसका अर्थ 'बलवान्' किया है। यास्क ने निरुक्त में कहा है—

सहावानम्-सहस्वन्तम्, अत्र दुर्गः **सहो बलं तेन तद्वन्तम्** अर्थात् सह का अर्थ बल है और उससे युक्त बलवान् है।

3. **आसाविषत्**— आ + √ षू-सू-प्रेरणे, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। **'सिब्बहुलं लेटि'** (7.1.34) से सिप् का आगम हुआ तथा 'सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः' वार्तिक से सिप् को 'णिद्वत्' माना गया जिससे आदि वृद्धि हो गई।

4. **उरूचीम्**— उरु + √ अञ्चु-गतिपूजनयोः, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिङ्ग।

सायण ने इसका अर्थ 'विस्तृत गति वाला' किया।

अन्य विद्वान्— 'विस्तृत'।

5. **विश्रियमाणः—** वि + √ श्रिञ्-सेवायाम् + शानच्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

प्रायः सभी **विद्वानों** ने इसका अर्थ 'सेवन करता हुआ' अथवा 'धारण करता हुआ' किया। **ग्रिफिथ** ने 'प्रसार करता हुआ' किया।

6. रासते- √ रा + लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद 'सिब्बहुलं लेटि' (3.1.34) से सिप् आगम हुआ।

7. **अमतिम्—** **सायण** ने इसका अर्थ 'रूप' अथवा 'दीप्ति' किया। **वेंकटमाधव और स्वामीदयानन्द** ने भी 'रूप' अर्थ किया।

सातवलेकर— 'तेज' निघण्टु में कहा गया 'अमतिरिति रूपनाम' (3.7)

इमा गिरः सवितारं सुजिह्वं पूर्णगभस्तिमीळते सुपाणिम्।
चित्रं वयो बृहदस्मे दधातु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।। 4।।

इमाः। गिरः। सवितारम्। सुऽजिह्वम्। पूर्णऽगभस्तिम्। ईळते। सुऽपाणिम्। चित्रम्। वयः। बृहत्। अस्मे इति। दधातु। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः।

अन्वय— इमाः गिरः सुजिह्वम् पूर्णगभस्तिम् सुपाणिम् सवितारम् ईळते। अस्मे चित्रं बृहत् वयः दधातु यूयं स्वस्तिभिः नः सदा पात।

सरलार्थ— ये (इमाः) स्तुतिपरक (गिरः) शुभवाणी वाले (सुजिह्वम्) सम्पूर्ण किरणों वाले (पूर्णगभस्तिम्) (और) सुन्दर हाथ वाले (सुपाणिम्) सविता की (सवितारम्) स्तुति करती हैं (ईळते)। (वह सविता) हमें (अस्मे) प्रशंसनीय (चित्रम्) (और) महान् (बृहद्) अनाज (वयः) प्रदान करे (दधातु) आप सब (यूयम्) कल्याणों से (स्वस्तिभिः) हमारी (नः) सदा (सदा) रक्षा करो (पात)।

सायण भाष्य— इमा ईदृग्भूता गिरः। गृणन्ति स्तुवन्तीति गिरः स्तोत्र्यः प्रजाः। यद्वा। इमाः स्तुतिरूपा वाचः सुजिह्वं शोभनजिह्वम्। शोभनवाचमित्यर्थः। पूर्णगभस्तिं सम्पूर्णघनहस्तं सवितारं देवमीळते। स्तुवन्ति। स च सविता चित्रं चायनीयं बृहन्महद्वयोऽन्नमस्मे अस्मासु दधातु। यद्वा। अस्मे अस्मभ्यं प्रयच्छतु। हे सवितृप्रमुखा देवा यूयं नोऽस्मान् स्वस्तिभिः कल्याणैः सदा सर्वदा पात पालयत।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सविता को 'सुजिह्व' अर्थात् शुभ वाणी वाला कहा गया है क्योंकि सम्भवतः प्रातः काल सभी मनुष्य शुभ, सत्य, प्रिय वाणी बोलते हैं। उषा को भी **'सूनृता ईरयन्ती'** (ऋग्वेद 3.61.2) कहा गया है। इस पर **सायण** ने अपना भाष्य लिखा है **'प्रियसत्यरूपा वाच उच्चारयन्ती'**। सविता

सम्पूर्ण किरणों वाला है अतः पूर्णगभस्ति है। प्रकाशमयी स्वर्णिम किरणें ही उसके हाथ हैं अतः उसे 'सुपाणि' कहा गया है। इस प्रकार के सविता देव की स्तुतिपरक वाणियों द्वारा हम स्तुति करते हैं। वह हमें प्रशंसनीय और पर्याप्त अन्न दे। सविता के ताप और प्रकाश से ही कृषि, अन्न पकता है अतः उसी की कृपा से हमें अन्न प्राप्ति होती है। यहाँ प्रशंसनीय विशेषण साभिप्राय है। वैदिक ऋषि प्रशंसनीय अर्थात् परिश्रम करके ही अन्न प्राप्ति करना चाहता है। वैदिक संस्कृति की विशेषता है कि वहाँ देवताओं से विभिन्न वस्तुओं की कामना तो की गई है परन्तु साथ ही साथ यह भी इच्छा प्रकट की गई है कि वह हमें संघर्ष और परिश्रम करके ही प्राप्त हो क्योंकि परिश्रम से प्राप्त की गई वस्तु ही वास्तविक सुख प्रदान करती है। ऋग्वेद के 1.81.7 में इन्द्र से धन पैना करने की 'वसु शिशीहि' प्रार्थना में भी यही भाव निहित हैं। अन्त में सभी देवताओं से हम सब की रक्षा करने की प्रार्थना की गई है।

ऋग्वेद के सातवें मण्डल की यह विशेषता है कि इसका प्रत्येक सूक्त **'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः'** से ही समाप्त होता है

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि राष्ट्र में प्रेरणा देने वाले मनुष्य नाना प्रकार के गुणों से युक्त होते हैं। उनकी वाणी मधुर व कल्याणमयी होती है। वह पूर्ण ज्ञानी होते हैं, उनका वरद हस्त होता है। जो उनकी सङ्गति में रहता है वह भी उन्हीं के समान शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्ति से सम्पन्न हो जाता है क्योंकि सत्सङ्गति का प्रभाव विलक्षण होता है।

आध्यात्मिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का तात्पर्य यह है कि अन्तः प्रेरणा से युक्त मनुष्य मधुर, ज्ञानी, सफल और शक्तिसम्पन्न होता है।

टिप्पणियाँ

1. **गिरः—** सायण ने इसके दो अर्थ किए हैं (i) स्तुति करने वाली प्रजा (ii) स्तुतिपरक वाणियाँ।

अन्य सभी विद्वानों ने सायण के दूसरे अर्थ को स्वीकार किया है।

यह प्रथमा द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, स्त्रीलिङ्ग है।

2. **सुजिह्वम्— सायण** ने इसके (i) शोभन जिह्वा और (ii) शोभन वाणी ये दो अर्थ किए हैं।

वेंकटमाधव— 'शोभन वाणी'। **स्वामी दयानन्द—** 'शोभन जिह्वा'।

सातवलेकर— 'उत्तम जिह्वा'।

सु + जिह्वा। **'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः'** (5.4.107) से **'टच्'** प्रत्यय हुआ। द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

3. **पूर्णगभस्तिम्—** सायण ने अर्थ किया 'धनों से भरी हुई मुट्ठी वाले'।

वेलंकर— 'उपहारों से भरे हुए हाथों वाले'।

ग्रिफिथ— 'भरी हुई भुजाओं वाले'।

योगी जी— 'पूर्ण किरण वाले'।

यहाँ योगी जी का अर्थ ही सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि 'गभस्ति' का सर्वमान्य अर्थ 'किरण' है और सविता के पक्ष में 'सम्पूर्ण किरणों वाले' यह अर्थ अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है।

द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

4. **अस्मे—** चतुर्थी विभक्ति, बहुवचन। यहाँ **'अस्मभ्यम्'** रूप होना चाहिए था परन्तु **'सुपां सुलुक'** (7.1.39) इत्यादि के द्वारा 'भ्यम्' के स्थान पर **'शे'** आदेश हो गया।

5. **वयः—** सायण और **वेकंटमाधव** ने इसका अर्थ 'अन्न' किया है।

स्वामीदयानन्द— 'जीवन'।

सातवलेकर— 'धन'।

योगी जी— **'ऊर्जा'।** **मोनियर विलियम्स** ने 'आनन्द, अन्न' ऊर्जा, शक्ति, स्वास्थ्य, तेज, बल' आदि अर्थ किए।

6. ईळते— √ ईड् + आत्मनेपद, लट्लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बहवृचा जगुः।
अज्मध्यस्थ ढकारस्य ळह्कारं वै यथाक्रमम्।।

अर्थात् वेद में दो स्वरों के बीच आने वाला 'ड्' 'ळ्' में और 'ढ' 'ळह्' में परिवर्तित हो जाता है।

7. **स्वस्तिभिः—** लौकिक भाषा में 'स्वस्ति' शब्द अव्यय है परन्तु वेद में यह संज्ञा पद था जिसके प्रत्येक विभक्ति और प्रत्येक वचन में रूप रहे होंगे। परन्तु क्रमशः वे रूप ही शेष रह गए जिनका अधिक प्रयोग होता था। शेष रूप लुप्त हो गए।

'स्वस्तिभिः' तृतीया विभक्ति, बहुवचन, स्त्रीलिङ्ग है।

卐 卐 卐

सोम (ऋग्वेद 9.73)

सोम का ऋग्वेद के प्रमुख देवताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल इसी के लिए अर्पित है। सोम सम्बन्धी छः सूक्त अन्य मण्डलों में भी हैं। वैदिक देवताओं में महत्त्व की दृष्टि से सोम का स्थान तृतीय है।

वस्तुतः ऋग्वेद में सोम का द्विविध रूप प्राप्त होता है। एक तो पार्थिव पौधे और लता के रूप में तथा दूसरा देवता के रूप में। पौधे के रूप में यह पृथ्वीस्थानीय देवता माना जाएगा जबकि देवता के रूप में यह अन्तरिक्ष स्थानीय देवता बन जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण 1.27 में स्पष्ट कहा गया है **'सोमोऽन्तरिक्षे तिष्ठति खलु सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्'। हिलोब्राण्ड के अनुसार सोम चन्द्रमा है।** चरक संहिता में सोमलता को चन्द्रमा की कलाओं के साथ बढ़ने व घटने वाली वनस्पति कहा गया है (1.46)। इसी कारण परवर्ती साहित्य में सोम चन्द्रमा का वाचक बन गया। छान्दोग्योपनिषद् (5.10.4) में भी चन्द्रमा को सोम कहा गया है।

सोम की व्युत्पत्ति $\sqrt{}$ सु से हुई है जिसका अर्थ है पीसकर निकाला हुआ रस। स्वामी दयानन्द ने सोम को $\sqrt{}$ सु-उत्पन्न करना से व्युत्पन्न मानकर इसका अर्थ 'उत्पन्न जगत्' किया है। ऋग्वेद के 1.22.1 में इन्होंने सोमस्य का अर्थ **'स्तोतव्यस्य सुखस्य'** किया है जबकि 1.32.3 में इन्होंने सोम का अर्थ 'रस' ही करते हुए कहा है **'सूयते उत्पद्यते यस्तं रसम्'**। अनेक स्थलों पर इन्होंने इसका अर्थ 'ओषधिरस' अथवा 'महोषधिरस' भी किया है। **अरविन्द घोष के अनुसार आध्यात्मिक पक्ष में सोम का अर्थ आध्यात्मिक आनन्द है।** मनुष्य का शरीर सोममदिरा के कलश के रूप में कल्पित किया गया है परन्तु प्रत्येक मानवसंस्थान उस दिव्यानन्द की तीव्रता को सहन नहीं कर पाता। संतप्त शरीर ही उसे वहन करते हुए पचा जाते हैं। **अतप्तनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इत् वहन्तस्तद् समाशत** (ऋग्वेद 9.83.1)। आनन्द की मदिरा का पान करने के लिए भी बलिष्ठ, शक्तिशाली, व हृष्ट-पुष्ट शरीर की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार आधिभौतिक पक्ष में सोम पार्थिव पौधा है, आधिदैविक पक्ष में सोम देवता है तथा आध्यात्मिक पक्ष में आध्यात्मिक आनन्द है।

सोम के सन्दर्भ में वैदिक ऋषियों के मन में इसकी कल्पना एक पौधे के रूप में ही अधिक थी अतः अन्य देवताओं के समान न तो इसका मूर्तीकरण ही हो पाया और न ही देवता के सदृश इसकी उपासना की जा सकी। सोम का रस निकालने के लिए प्रायः इसके तन्तु (अंशु) को पत्थर से कुचला अथवा दबाया जाता था '**आ सोम सुवानो आद्रिभिः**' (ऋग्वेद 9.107.10)। फिर उस रस को छलनी में डालकर पवित्र किया जाता था और द्रोण नामक पात्रों में इसे एकत्रित किया जाता था। इस प्रकार पवित्र किए गए सोम को पवमान अथवा पुनाव (स्वच्छ होकर बहने वाला) सोम कहा जाता था। सोमसवन के लिए व उसे परिष्कृत करने के लिए दस अङ्गुलियों की आवश्यकता होती थी। अतः सोम का इस युवतियों द्वारा परिष्कृत किए जाने का वर्णन है—'**मृजन्ति त्वा दश क्षिपः**'।

'द्रोण' में रखकर सोम को जल में मिलाया जाता था। इसके अतिरिक्त उसे दूध, दही व जौ में भी मिलाया जाता था। इसी कारण गवाशिर् (दूध मिश्रित), दध्याशिर् (दधि मिश्रित) तथा यवाशिर् (जौ मिश्रित) होने के कारण इसे '**त्र्याशिर्**' कहा गया है।

सोम के पौधे का और तदनुसार सोम देवता का रङ्ग भूरा (बभ्रु) लाल (अरुण) और सर्वाधिक बार हरा (हरि) बतलाया गया है। ऋग्वेद में सोम के तीन सवनों का उल्लेख हैं। वस्तुतः सोम के तीनों मिश्रणों में जल अवश्य डाला जाता था अतः सोम का जल से निकट सम्बन्ध था। उसे जल का नायक एवं वर्षा का शासक कहा गया है— '**ईशे यो वृष्टे— . . . अपां नेता**'। सोम को वन में गरजने वाला वृषभ कहा गया है—'**वृषाव चक्रवद्वने**'। सम्भवतः यहाँ सोम के नशे से प्रभावित मनुष्य की अतुलित शक्ति अभिप्रेत हो। अपने क्षिप्र प्रवाह के कारण इसे अश्व भी कहा गया है—'**हरिं नदीषु वाजिनम्**' (ऋग्वेद 9.63.17)। यह भी सम्भव है कि यहाँ शरीर में तीव्रता से व्याप्त होने वाले सोमपान के प्रभाव का वर्णन किया गया हो।

अनेक स्थलों पर सोम को सारे संसार का शासक '**विश्वस्य राजा**' कहा गया है। इसकी शक्ति अतुलित है। यह सूर्य का प्रकाशक '**एष सूर्यमरोचयत्**', दुष्टों का वध करने वाला (**अघशंसहा**), दोनों लोकों का उत्पादक (**जनिता रोदस्योः**), महान् अद्वितीय योद्धा, राक्षसों को नष्ट करने वाला (**रक्षोहन्**), अपने हाथों में भयङ्कर और तीक्ष्ण आयुध धारण करने वाला (**सहस्रभृष्टिः**) व अपने

उपासकों को गाय, घोड़े, रथ, स्वर्ण, पृथ्वी, भोजन, पशु आदि (ऋग्वेद 9.45.3) प्रदान करने वाला है। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सोम केवल पार्थिव लतामात्र ही नहीं बल्कि एक महान् अन्तरिक्ष स्थानीय देवता भी है।

सोम स्वयं अमर है अतः अमरत्व प्रदान करने वाला है। देवताओं ने भी अमरत्व प्राप्त करने के लिए इसका पान किया **'त्वां देवासो अमृताय कं पपुः'** (ऋग्वेद 9.106.8)।

यह मनुष्यों को भी अमरत्व देता है—**'अपां सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्'** (ऋग्वेद 8.48.3)। वस्तुतः यदि सोम उचित मात्रा में नियमित रूप से लिया जाए तो बहुत स्वास्थ्यप्रद है। सम्भवतया इसी कारण इसकी भैषज्यमयी शक्ति का उल्लेख बहुत बार हुआ है। यह आयु बढ़ाता है—**'प्रण आयूंषि तारीर'** तथा अन्धों को दृष्टि व लंगड़ों को चलने की शक्ति प्रदान करता है—

'भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्। प्रेमन्धः ख्यत् निःश्रोणोः भूत्' (ऋग्वेद 7.89.2)

सोमपान हृदय से पापों को नष्ट कर सत्य बढ़ाता है क्योंकि नशे में मनुष्य प्रायः सत्य ही बोलता हुआ देखा जाता है। यह वाणी को भी प्रेरित कर स्फूर्तिमय बनाता है—**'अयं मे पीत उदियर्ति वाचम्'** (ऋग्वेद 6.47.3)। इसी कारण इसे वाक्पति **'पतिं वाचः'** व वाणी का नायक **'वाचो अग्रिय'** कहा गया है।

वैसे तो सोम सभी देवताओं का प्रिय पेय पदार्थ है परन्तु इन्द्र की तो यह आत्मा है—**'आत्मेन्द्रस्य भवसि'**। यद्यपि सोम की स्तुति में एक पूरा मण्डल अर्पित है तथापि उसकी उत्पत्ति का कहीं सङ्केत नहीं है। अक्षसूक्त में (ऋग्वेद 10.34.1) केवल एक स्थल पर इसे **'मूजवत् पर्वत'** पर उत्पन्न होने वाला कहा गया है **'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः'**। **'पर्वतावृध्'** और **'गिरिष्ठा'** विशेषण भी सोम की उत्पत्ति ऊँचे स्थान पर ही प्रमाणित करते हैं। यद्यपि सोम एक पार्थिव पौधा है तथापि उत्क्रोश' पक्षी द्वारा इसे स्वर्ग से पृथ्वी पर लाए जाने का सङ्केत है—'श्येनो यदन्धो अभरत् परावतः' (ऋग्वेद 9.83.2)।

परवर्ती साहित्य में चाहें 'सोम' चन्द्रमा का पर्यायवाची बन गया परन्तु वैदिक सूक्तों में यह एक पेय के रूप में तथा कुछ स्थलों पर एक देवता के रूप में वर्णित है। सोम 'सुरा' से सर्वथा भिन्न है। सुरा की वेदों में सदा निन्दा की गई है **'युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्'**। सुरा का नशा युद्ध से विमुख करता है तो सोम की मादकता अनेक पराक्रम युक्त कार्य करने के लिए प्रेरित करती है।

सोमपान करके देवता विशेष रूप से इन्द्र अनेक आश्चर्यजनक महान् कार्य करता है।

सोमोपासना का सम्बन्ध भारोपीय काल से है क्योंकि अवेस्ता में 'हओम' सोम का ही वाचक है।

सम्भवतः वर्तमान युग का खसखस (Poppy seeds) ही वैदिक काल का सोम हो जिसकी अद्भुत भैषज्यमयी शक्तियों का पूर्ण ज्ञान तो वैदिक ऋषियों को नहीं था परन्तु उन्होंने उसके सेवन के अद्भुत परिणामों का अनुभव किया था। अद्भुत शक्तियों के कारण ही बाद में इसे देवता की मान्यता प्राप्त हो गई। यह भी ध्यातव्य है कि मधु मिश्रित सोम अश्विनीकुमारों को अर्पित किया जाता था जिन्हें 'देवभिषक्' माना गया है। मधु, दूध और घी दोनों का बोधक है। दूध में मिला खसखस गर्मी में ठण्डाई के रूप में अमृत तुल्य है तो घी के साथ मिश्रित किए जाने पर शीतर्तु में इसका सेवन अत्यन्त लाभप्रद है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि सोम को हरा, भूरा और लाल कहा गया है। भाङ्ग हरे रङ्ग की होती है तो अफीम भूरे रङ्ग की तथा अंगूर का रस लाल वर्ण होता है। वस्तुतः इन तीनों के प्रभाव मादक पेय के रूप में एक ही प्रकार के होते हैं अतः वेद में सम्भवतया इन्हें समकक्ष मानकर एक ही नाम 'सोम' से अभिहित कर दिया गया है।

सोम की उपयोगिता को देखकर ही इसे वेद का प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण देवता मान लिया गया।

ऋग्वेद— 9.73

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के नवम मण्डल का 73वां सूक्त है। इसका देवता सोम है, ऋषि पवित्र आङ्गिरस है तथा छन्द जगती है। आङ्गिरस का अर्थ 'अङ्गिरस का पुत्र' अथवा 'अङ्गारसदृश तेजस्वी' अथवा 'समस्त अङ्गों में व्याप्त रस वाला' है। दृष्टव्य इन्द्र सूक्त। पवित्र शब्द √ पूञ्-पवने से निष्पन्न है। सोम जो प्रस्तुत सूक्त का देवता है— आनन्द का प्रतीक भी है और पवित्र भी है। इस प्रकार प्रस्तुत सूक्त का ऋषि भी पवित्र आङ्गिरस है और देवता भी पवमान सोम है। 'जगती' वैदिक छन्द है जिसमें चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में 12-12 अक्षर होते हैं।

स्रक्वे॑ द्रुप्सस्य॒ धम॑तः॒ सम॑स्वरन्नृ॒तस्य॒ योना॒ सम॑रन्त॒ नाभ॑यः।
त्रीन्त्स मूर्ध्नो असु॑रश्चक्र आ॒रभे॑ स॒त्यस्य॒ नाव॑: सु॒कृत॑मपीपरन्।। 1।।

स्रक्वे॑। द्र॒प्सस्य॑। धम॑तः। सम्।
अ॒स्व॒र॒न्। ऋ॒तस्य॑। योना॑। सम्। अ॒र॒न्त॒। नाभ॑यः।
त्रीन्। सः। मू॒र्ध्नः। असु॑रः। च॒क्रे॒।
आ॒ऽरभे॑। स॒त्यस्य॑। नाव॑ः। सु॒ऽकृत॑म्। अ॒पी॒प॒र॒न्।

अन्वय— स्रक्वे धमतः द्रप्सस्य समस्वरन् नाभयः यज्ञस्य योनौ समरन्त। असुरः सः त्रीन् मूर्ध्नः आरभे सत्यस्य नावः सुकृतम् अपीपरन्।

सरलार्थ— सोम पात्र के प्रान्त भाग पर (स्रक्वे) आवाज करती हुईं (धमतः) सोम की (द्रप्सस्प) (बूँदे) एक साथ मिलकर गति करती हैं (समस्वरन्)। सोम की बूँदे (नाभयः) यज्ञ की (यज्ञस्य) योनि पर (योना) मिल कर गतिशील हुईं (समरन्त)। प्राणों के दाता (असुरः) उसने (सः) अर्थात् सोम ने तीन (त्रीन्) ऊँचे स्थानों को (मूर्ध्नः) कार्य करने के लिए (आरभे) बनाया (चक्रे) सत्य की (सत्यस्य) नौकाएँ (नावः) शुभकर्म करने वाले को (सुकृतम्) पार पहुँचा देती हैं (अपीपरन्)।

सायण भाष्य— स्रक्वे यज्ञस्य हनुस्थानीये। स्रक्व ओष्ठप्रान्तो हनुरुच्यते। अभिषवणफलके धमतोऽभिषूयमाणस्य द्रप्सस्य सोमस्यांशवः समस्वरन्। सङ्गच्छन्ते। तदारन्यशब्दन्वा। ऋतस्य सत्यभूतस्य यज्ञस्य योना योनावुत्पत्तिस्थाने नाभयः सोमरसा समरन्त। सङ्गच्छन्ते। अर्तेः समो गमीत्यादिनात्मनेपदम्। सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्चेति च्लेरङ्।। अथासुरो बलवान् सर्वेषां प्राणनात् प्राणदाता या सोमो मूर्ध्नः समुच्छ्रितान् त्रींल्लोकानारभ आरभणाय मनुष्यदेवादीनां सञ्चरणाय करोति। किञ्च सत्यस्य सत्यभूतस्य सोमस्य नावो नौका इव स्थिताश्चतस्रः स्थाल्यः। आदित्याग्रायणोक्थ्यध्रुवस्थाल्य इति। ताः स्थाल्यं सुकृतं सुष्ठु कर्माणि कुर्वन्तं यजमानमपीरन्। अभिमतदानेन पूजयन्ति वा।। पारयतेर्लुङि चङि सन्वद्भावाभ्यासेत्वदीर्घाः।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि जब सोम को पीस कर, छान कर, पवित्र करके द्रोण नामक पात्रों में भरा जाता है तो सोम रस को धार बना कर डाला जाता है जिस प्रकार फलों का रस भी जग से गिलास में ऊपर से धार रूप में ही डाला जाता है। बड़ी मात्रा में ऊपर से नीचे गिरती हुईं धार रूप में परिवर्तित सोम रस की बूँदे आवाज करने लगती हैं। वस्तुतः पात्र में भरने के लिए उन बूँदों को एक साथ नीचे गिराए जाने के कारण उन्हें एक साथ गतिशील हुआ वर्णित किया गया है। देवताओं का प्रिय पेय पदार्थ होने के कारण यज्ञ में सोम रस की हवि अवश्य अर्पित की जाती है। यज्ञ में हविरूप में अर्पित

की जाती हुई वे सोमबिन्दु गतिशील होती हैं। यज्ञशाला ही यज्ञ की योनि (उत्पत्ति स्थान) है।

सोम पान मनुष्यों को तो शक्ति प्रदान करता ही था, देवता भी सोम पान कर पराक्रमयुक्त कार्यों के लिए प्रेरित होते थे। इसी कारण सोम रस ने तीनों ऊँचे स्थानों को अर्थात् पृथ्वी स्थानीय मनुष्यों के साथ-साथ पृथ्वीस्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और द्युस्थानीय देवताओं को भी कार्य करने के लिए बनाया अर्थात् प्रेरित किया। शुभ कार्य करने वाले मनुष्य ही सत्य रूपी नौका पर सवार होकर अपने गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं। मन, वचन, कर्म की अकुटिलता ही सत्य है। मन, वचन, कर्म से अकुटिल व्यक्ति का आत्मविश्वास दृढ़ हो जाता है और आत्मविश्वाससम्पन्न मनुष्य ही कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित कर जीवन में आनन्द और सुख प्राप्त करता है।

आध्यात्मिक पक्ष में सोम का अर्थ दिव्यानन्द है। आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य का हृदय दिव्यानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। सभी प्रकार के नियमों का पालन करके वह प्रत्येक वस्तु के केन्द्र अर्थात् वास्तविक स्वरूप को (नाभिम्) जान लेता है। ज्ञानी होने के कारण वह महाशक्तिशाली (असुर) बन जाता है। उसके समस्त क्रिया कलाप शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास के लिए ही होते हैं। सत्यमार्गानुगामी पुण्य कार्य करता हुआ जीवन में सर्वविध सफलता प्राप्त करता है।

टिप्पणियाँ

1. **स्रक्वे— सायण** ने अर्थ किया है **'यज्ञस्य हनुस्थानीये'** ओष्ठप्रान्तो हनुरुच्यते। यज्ञ पुरुष की ठोडी। ओष्ठ प्रान्त 'हनु' कहा जाता है।

वेंकटमाधव ने 'यज्ञस्य सृक्वस्थानीये' अर्थात् 'यज्ञ के सृक्वस्थानीय में' अर्थ किया है।

सातवलेकर— 'यज्ञ के मुख्य स्थान में रहने वाले पात्रों में रस निकाले के समय'।

प्रो. योगी— 'सोमपात्र के प्रान्त भाग पर'।

योगी जी का अर्थ ही सबसे अधिक उचित और स्पष्ट प्रतीत होता है क्योंकि जब सोमपात्र में भरने के लिए सोम को ऊपर से धार रूप में डाला जाता है तो सोमबिन्दु एक साथ मिलकर आवाज करती हैं।

2. **द्रप्सस्य— सायण, वेंकटमाधव और सातवलेकर** ने '**सोम के अंशु**' अर्थ किया।

योगी जी— 'सोम की बूँदें।' **मोनियर विलियम्स** ने भी इसका सम्बन्ध 'drop' 'बिन्दु' से माना है।

यास्काचार्य— 'द्रप्सः संभृतः प्सानीयो भवति'। इस पर **दुर्गाचार्य** ने कहा 'प्सानीयः भक्षणीयो भरणीयश्च'। तात्पर्य यह है कि सोम की बूँदें भक्षणीय और भरणीय हैं। सोम रस पीकर पेट भर जाता है।

3. **धमतः—** √ ध्मा-शब्दाग्निसंयोगयोः + शतृ प्रत्यय, षष्ठी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सायण और **वेंकट माधव** ने 'अभिषव किए जाते हुए' (सोम का) अर्थ किया।

योगी जी— 'देदीप्यमान और शब्दायमान'।

ग्रिफिथ, सातवलेकर— 'शब्द करते हुए'।

4. **समस्वरन्—** सम् + √ स्वृ-शब्दोपतापयोः, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। '**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**' (3.4.6) से 'लट्लकार' के अर्थ में 'लङ्लकार' का प्रयोग हुआ।

सायण और **वेंकटमाधव—** 'मिल कर गतिशील होते हैं'।

सातवलेकर— 'उतर रहे हैं।' **योगी जी—** 'मिल कर गीत गाने लगे'।

ग्रिफिथ— 'ध्वनि करते हैं।' उनके अनुसार इस क्रिया का कर्ता सोम पीसने वाला पत्थर है जिसके किनारों से सोम की बूँदें आवाज करती हुई गिरती हैं।

5. **ऋतस्य— सायण** ने अर्थ किया '**सत्यभूतस्य यज्ञस्य**' अर्थात् 'सत्यरूप यज्ञ के'।

वेंकट माधव, सातवलेकर, ग्रिफिथ— 'यज्ञ के'। **योगी जी—** 'ऋत के'।

यास्क ने तीन अर्थ किए— ऋत, सत्य और यज्ञ।

6. **योना— यहाँ, योनौ**' रूप होना चाहिए था। परन्तु '**सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः**' (7.1.39) सूत्र से विभक्ति प्रत्यय के स्थान पर 'डा' आदेश हो गया।

7. **नाभयः— प्रायः** सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'सोम रस' ही किया है।

केवल योगी जी ने इसका अर्थ 'नाभियाँ' किया है। परन्तु यहाँ 'नाभियों' का क्या औचित्य है, यह स्पष्ट नहीं किया।

ग्रिफिथ ने इसका अर्थ 'रथचक्र' करते हुए कहा है कि रूपक द्वारा यहाँ, तीव्र गति से युक्त सोमबिन्दुओं का दौड़ना' अभिप्रेत है।

यास्क— 'नाभिः संनहनाद्' संहनन के कारण नाभि है' और नाभ्या संनद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः 'नाभि से जुड़ने पर ही गर्भ उत्पन्न होते हैं।'

8. **समरन्त**— सम् + √ ऋ-गतौ, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। यहाँ '**समोगमृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः**' (3.1.29) सूत्र से परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद का प्रयोग हुआ तथा '**सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च**' (3.1.56) से 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्-आदेश हुआ'।

9. **असुरः**— यद्यपि परवर्ती साहित्य में यह शब्द हीन अर्थ अर्थात् राक्षसों के लिए प्रयुक्त होने लगा तथापि वैदिक युग में यह अद्‌भुत शक्ति से युक्त वरुणादि कुछ विशिष्ट देवताओं के लिए ही प्रयुक्त होता था।

सायण ने इसके तीन अर्थ किए— बलवान्, सबको प्रसन्न करने वाला तथा प्राणदाता।

वेंकट माधव, सातवलेकर— 'बलवान्'।

यास्क ने इसकी व्युत्पत्ति 'असून् राति इति असुरः' की है अर्थात् 'प्राणों को देने के कारण यह असुर है'।

10. **चक्रे**— √ डुकृञ् + लिट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद।

11. **सत्यस्य नावः**— **सायण** ने अर्थ किया—'सत्यभूत सोम की नौकाओं के समान स्थित चार थालियाँ-'आदित्य, आग्रायण, उक्थ्य और ध्रुव'।

वेंकट माधव ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

सातवलेकर— सत्यस्वरूपी सोम की नौकाएँ।

ग्रिफिथ— 'सत्य अथवा सत्यशील सोम की नौकाएँ'।

योगी जी— 'सत्य की नावें'।

यास्काचार्य ने सत्य की उत्पत्ति 'सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवतीतिवा इस प्रकार की है जबकि **शाकटायन** ने 'सन्तमर्थं प्रत्याययति' 'जो वास्तविक अर्थ पर विश्वास दिलवाता है' इस प्रकार अर्थ किया है।

12. अपीपरन्— √ पॄ + पूरणे अथवा √ पार्-कर्मसमाप्तौ से निष्पन्न है। लुङ्लकार में 'चङ्' आया। धातु का द्वित्व हुआ, अभ्यास 'इ' का दीर्घ हुआ।

लुङ्लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सायण ने इसके दो अर्थ किए —

(i) यजमान को पार पहुँचाती हैं।

(ii) यजमान को उसका अभीष्ट प्रदान करती हैं।

सभी विद्वानों ने प्रायः पहला अर्थ ही स्वीकार किया है।

सम्यक् सम्यञ्चो महिषा अहेषत सिन्धोरुर्मावधि वेना अवीविपन्।
मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कमित् प्रियामिन्द्रस्य तन्वमवीवृधन्।। 2।।

सम्यक्। सम्यञ्चः। महिषाः। अहेषत। सिन्धोः। ऊर्मौ। अधि। वेनाः। अवीविपन्।

मधोः। धाराभिः। जनयन्तः। अर्कम्। इत्। प्रियाम्। इन्द्रस्य। तन्वम्। अवीवृधन्।।

अन्वय— महिषाः सम्यञ्चः सम्यक् अहेषत वेनाः सिन्धोः उर्मौ अधि अवीविपन्। मधोः धाराभिः अर्कम् जनयन्तः इन्द्रस्य प्रियां तन्वम् अवीवृधन्।

सरलार्थ— महान् ऋत्विजों ने (महिषाः) एक साथ मिलकर (सम्यञ्चः) भली प्रकार से (सम्यक्) (सोम रस का) अभिषव किया (अहेषत) (स्वर्ग इत्यादि की इच्छा से) उन लोगों ने (वेनाः) नदी की (सिन्धोः) ऊर्मि पर (ऊर्मौ अधि) (सोम को) प्रेरित किया (अवीविपन्) मधुर सोम की (मधोः) धाराओं के साथ (धाराभिः) स्तुति (अर्कम्) करते हुए (जनयन्तः) (उन ऋषियों ने) इन्द्र के (इन्द्रस्य) प्रिय (प्रियाम्) शरीर को (तन्वम्) बलशाली बनाया (अवीवृधन्)।

सायण भाष्य— महिषाः पूज्या महान्तो वर्त्विजः सम्यञ्चः परस्परं सङ्गताः सन्तः सम्यगहेषत। सोमं सम्यक् प्रेरयन्ति। अभिषुण्वन्तीति यावत्।। हि गतौ वृद्धौ च। लुङि सिचि रूपम्।। ततो वेनाः। वेनतेः कान्तिकर्मण इति यास्कः। नि. 10.38। स्वर्गादिफलं कामयमाना ऋत्विजः सिन्धोः स्यन्दमानस्योदकस्योर्मावधि सङ्घे वसतीवर्यादिषु जलेषु सोममवीविपन् कम्पयन्ति तत्र प्रेरयन्तीत्यर्थः वयतेर्ण्यन्तस्य लुङि चङिणौ चङ्युपधाया ह्रस्व इति ह्रस्वः।। किञ्चार्कमर्चनीयं स्तोत्रं जनयन्तः कुर्वन्तस्ते प्रियां प्रियतमामिन्द्रस्य तन्वं धाम च मधोर्मदकरस्य सोमस्य धाराभिरवीवृधन्। वर्धितवन्तः।। वर्धतेर्लुङि चङिरूपम्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि ऋत्विजों ने एक साथ मिलकर सोम रस का भली प्रकार अभिषव किया। वस्तुतः सोमलता की

पत्तियों, अंशुओं इत्यादि को एकत्रित करने से प्रारम्भ कर उन्हें पीसने, छानने, पात्रों में भरने इत्यादि की सम्पूर्ण प्रक्रिया सोम रस का अभिषव ही कही जाती है। उन ऋषियों ने स्वर्ग आदि को प्राप्त करने की इच्छा से नदी के जल के ऊपर सोम रस को प्रेरित किया। इसका तात्पर्य यह है कि सोम रस एक तरल पदार्थ है जिसमें अधिकांश भाग जल का है परन्तु यज्ञ में इसकी आहुति भी प्रदान की जाती है। अतः सोम जल युक्त होने के कारण जल को अपने अन्दर व्याप्त करता हुआ हवि रूप भी होता है।

तुलनीय— हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यं नभो वसानः परियास्यध्वरम्'।

(ऋग्वेद 9.83.5)

अर्थात् हे जलयुक्त सोम! जल को अपने अन्दर व्याप्त करते हुए हवि रूप होकर तुम देवताओं के महान् घर अर्थात् यज्ञशाला को जाते हो।'

इसका अभिप्रायः सम्भवतः यह हो कि ऋत्विक् यज्ञ में सोम की हवि प्रदान करने के फलस्वरूप संसार रूपी नदी को सोम हवि रूपी नौका में बैठ कर पार करने के उपरान्त स्वर्गादि की प्राप्ति चाहते हैं। यज्ञ में सोम रस की हवि अर्पित करने के साथ-साथ उन्होंने मधुर स्तुतियों का उच्चारण भी किया जिससे इन्द्र ने अत्यधिक बल प्राप्त किया। वैसे तो सभी देवता सोम के अभिलाषी हैं परन्तु इन्द्र की सोमलिप्सा अवर्णनीय है। सोमरस का पान करके अनेक पराक्रमयुक्त कार्य करने के लिए प्रेरित होना ही इन्द्र के शरीर को अभिवृद्ध करना है।

आध्यात्मिक पक्ष में सोम का अर्थ दिव्यानन्द है। दिव्य आनन्द से युक्त महापुरुष सबमें एक ही आत्मा के दर्शन करते हुए राग द्वेष से रहित होते हैं। उनका जीवन आमोद प्रमोद से परिपूर्ण रहता है **'तत्र कः मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**। इस प्रकार उनकी आत्मा अथवा मन (इन्द्रस्य) का भी पूर्ण विकास होता है। हृष्ट-पुष्ट शरीर में हृष्ट-पुष्ट मन का वास होता है—'A sound body has a sound mind.'

टिप्पणियाँ

1. **सम्यञ्चः—** सम् + $\sqrt{}$ अञ्चु + क्विन् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

यहाँ **'समः समि'** (6.3.93) सूत्र से **'सम्'** के स्थान पर **'समि'** आदेश होने पर यण् सन्धि होकर 'सम्यञ्चः' रूप सिद्ध हुआ।

2. **महिषाः—** $\sqrt{}$ मह्-पूजायाम्। **सायण** ने इसका अर्थ **'पूजनीय'** किया।

वेंकट माधव तथा सातवलेकर— 'महान्'। **ग्रिफिथ**— 'बलवान्'।

योगी जी ने पूजनीय और महान्' दोनों ही अर्थ किए।

3. **अहेषत**— √ हि-गतौ वृद्धौ च, लुङलकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। यहाँ लुङ् लकार में 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' का आगम हुआ।

सायण ने अर्थ किया 'प्रेरित करते हैं' अर्थात् अभिषव करते हैं।

वेंकट माधव और **सातवलेकर** ने भी यही अर्थ किया।

ग्रिफिथ— 'अपने कार्य में रत किया'।

योगी जी— 'गति की'।

सिन्धौ ऊर्मौ अधि— **सायण**— 'सयन्दमान जल के समूह पर अर्थात् 'वसतीवरी आदि जलों पर'। उनके अनुसार सोमयाग की पूर्व सन्ध्या पर नदी से जल लाकर रात भर रखा जाता है। उस जल को 'वसतीवरी' कहते हैं।

वेंकटमाधव ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

सातवलेकर— ऋत्विक् उदक की ऊर्मि पर सोम को रखते अथवा मिलाते हैं।

ग्रिफिथ— 'नदी की तरङ्ग पर'।

योगी जी— 'सिन्धु की ऊर्मि को आधार बनाकर'।

अवीविपन्— √ विप्-कम्पने + णिच् प्रत्यय + लुङ् लकार में 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' आदेश हुआ। पुनः **'दीर्घो लघोः'** (7.4.94) से दीर्घ होकर प्रथम पुरुष, बहुवचन, लुङ्लकार में यह रूप सिद्ध हुआ।

सायण— (सोम को) 'कम्पित करते हैं' अर्थात् प्रेरित करते हैं।

वेंकट माधव ने भी यही अर्थ स्वीकार किया।

सातवलेकर— (उदकोर्मि) में 'सोम को मिलाते हैं'।

ग्रिफिथ— 'गीत गाया'। **योगी जी**— 'नृत्य किया'। इस अर्थ के अनुसार √ विप्-धातु क्षेपे के अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

अर्कम्— √ ऋच् स्तुतौ अथवा √ अर्च्-पूजायाम् से निष्पन्न है। तदनुसार इसके गीत, स्तोत्र, सूक्त, स्तुति इत्यादि अर्थ हैं।

अवीवृधन्— √ वृध् + णिच् प्रत्यय, लुङ्लकार, च्लि के स्थान पर चङ् आदेश। 'दीर्घो लघोः' (7.4.94) से दीर्घ हुआ। प्रथम पुरुष, बहुवचन, लुङ् लकार।

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम्।
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्।। 3।।

पवित्रऽवन्तः। परि। वाचम्। आसते। पिता।
एषाम्। प्रत्नः। अभि। रक्षति। व्रतम्।
महः। समुद्रम्। वरुणः। तिरः। दधे। धीराः। इत्।
शेकुः। धरुणेषु। आऽरभम्।।

अन्वय— पवित्रवन्तः वाचम् परि आसते एषाम् प्रत्नः पिता व्रतम् अभिरक्षति। वरुणः महः समुद्रम् तिरोदधे धीराः इत् धरणेषु आरभम् शेकुः।

सरलार्थ— पवित्र (पवित्रवन्तः) (सोम की रश्मियाँ) (मन्त्र रूपी) वाणी के (वाचम्) चारों ओर (परि) स्थित होती हैं (आसते) इनका (एषाम्) पुरातन (प्रत्नः) पिता (पिता) व्रत की (व्रतम्) सब तरफ से रक्षा करता है (अभिरक्षति)। सबको आच्छादित करने वाला सोम (वरुणः) महान् (महः) अन्तरिक्ष रूपी समुद्र को (समुद्रम्) व्याप्त करता है (तिरोदधे) धीर व्यक्ति (धीराः) ही (इत्) सबको धारण करने वाले (धरणेषु) (कार्य को) आरम्भ करने में (आरभम्) समर्थ होते हैं (शेकुः)।

सायण भाष्यः— पवित्रवन्तः पवित्रेण शोधकेन सामर्थ्येन युक्ताः सोमस्य रश्मयो वाचं सोमस्थितां माध्यमिकां वाचं पर्यासते। पर्युपविशन्ति। सोमोऽन्तरिक्षे तिष्ठति खलु सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्। ऐ. ब्रा. 1.27। इत्याम्नानात्। ततः प्रत्नः पुराण एषां रश्मीनां पितायं सोमश्च व्रतं प्रकाशनात्मकं कर्माभि रक्षति। किञ्च वरुणः सर्वस्य स्वतेजसाच्छादकः सोऽयं सोमो महो महत् समुद्रम्। अन्तरिक्षनामैतत्। महदन्तरिक्षं तै रश्मिभिस्तिरोदधे। अन्तर्हितमकरोत्। सर्वं व्याप्नोदिति यावत्। तमिमं सोमं धीराः। इदवधारणे। कर्मणि कुशलाः प्राज्ञा एव दधे धरुणेषु सर्वस्य धारकेषु वसतीवर्यादिषूढकेष्वारभमारब्धुं शेकुः। शक्नुवन्ति।। रभेस्तुमर्थे शकि णमुल्कमुलौ पा॰ 3.4.12। इति कमुल्। लित्स्वरेण मध्योदात्तः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में पवित्र सोम को मन्त्र रूपी वाणी के चारों

ओर स्थित हुआ कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यज्ञ में चारों ओर बैठे हुए ऋत्विक् मन्त्रों का उच्चारण करने के साथ-साथ मध्य भाग में प्रज्वलित अग्नि में सोम की हवि भी अर्पित करते हैं। इस प्रकार उन मन्त्रात्मक वाणियों से घिरा हुआ सोम उनके चारों तरफ विद्यमान होता है। सोम यज्ञ की रक्षा करता है क्योंकि यज्ञ की सफलता अथवा पूर्णता आहुति द्रव्यों से ही होती है। कालिदास ने इस तथ्य को अत्यन्त काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा।। (रघुवंश 1.31)

अर्थात् जिस प्रकार यज्ञ की पत्नी दक्षिणा है उसी प्रकार राजा दिलीप की मगधवंश में उत्पन्न और उदारता के कारण प्रसिद्ध नाम वाली 'सुदक्षिणा' पत्नी थी।

सोम रस भी आहुतिद्रव्य होने के कारण यज्ञ को पूर्णता प्रदान कर उसकी रक्षा करता है। अन्तरिक्ष स्थानीय देवता होने के कारण वह अपने तेज से समस्त अन्तरिक्ष लोक को व्याप्त कर लेता है। यह ध्यातव्य है कि यहाँ वरुण शब्द √ वृञ्-आवरणे से निष्पन्न है।

इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने तेज से सबको आच्छादित करने वाला सोम अन्तरिक्ष में व्याप्त होता है। धीर व्यक्ति ही कार्यों को प्रारम्भ करके उन्हें पूरा कर पाते हैं।

कालिदास ने धीर का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि विकार का कारण होने पर भी अविचलित न होने वाले धीर हैं—

'सति विकारहेतौ विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'।

वही कार्य को प्रारम्भ करने का साहस भी करते हैं और उसे समाप्त भी करते हैं। परन्तु इनके कार्य परहित के लिए ही होते हैं।

सायण ने अन्तिम चरण का अर्थ किया है कि कार्य में कुशल और बुद्धिमान् ऋत्विक् ही सबको धारण करने वाले वसतीवरी नामक जलों में कार्य का अर्थात् यज्ञ का प्रारम्भ करते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि जो मनुष्य पवित्र हृदय होते हैं उनकी वाणी भी अत्यन्त प्रभावशाली होती है। वे जो कुछ भी कहते हैं, वही सत्य होता है—

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (भवभूति)।

उनका हृदय समुद्र के समान विशाल होता है। वे सभी कार्यों को करने में समर्थ होते हैं क्योंकि उनके सभी कार्य परहित के लिए (सबको धारण करने वाले) होते हैं।

टिप्पणियाँ

1. **वाचम् परि आसते—** **सायण** ने अर्थ किया 'सोम स्थित माध्यमिक वाणी के सब ओर बैठते हैं'। सोम अन्तरिक्षस्थानीय देवता है।

वेंकटमाधव और **योगी** जी ने भी यही अर्थ किया।

ग्रिफिथ— 'गीत के चारों ओर बैठते हैं।'

2. **तिरोदधे—** √ तृ + असुन् तिरः, दधे √ धा + लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद।

3. **पवित्रवन्तः—** **सायण** ने इसका पवित्र अथवा शोधक सामर्थ्य से युक्त सोम की रश्मियाँ अर्थ किया है।

यास्क— 'रश्मियुक्त माध्यमिक देवगण' (निरुक्त 12.32)

दुर्गाचार्य— आदित्यमण्डल से उत्पन्न रश्मियाँ मध्यस्थान में मरुदादि देवगणों से संयुक्त होती हैं। उनके संयोग से माध्यमिक देवगण पवित्रवान् होते हैं।

4. **आरभम् शेकुः—** यहाँ **'शकिणमुल्कमुलौ'** (3.4.12) से शक् उपपद में रहने पर तुमुन् के अर्थ में कमुल का प्रयोग हुआ है— आ + रभ् + अम् (कमुल्) आरभम्।

सहस्रधारेऽव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
अस्य स्पशो न निमिषन्ति भूर्णयः पदे पदे पाशिनः सन्ति सेतवः।। 41।।

सहस्रऽधारे। अव। ते। सम्। अस्वरन्। दिवः। नाके। मधुऽजिह्वाः असश्चतः। अस्य। स्पशः। न। नि। मिषन्ति। भूर्णयः। पदेऽपदे। पाशिनः। सन्ति। सेतवः।

अन्वय— मधुरजिह्वाः असश्चतः सहस्रधारे दिवः नाके ते अवसमस्वरन्। अस्य भूर्णयः स्पशाः न निमिषन्ति पाशिनः सेतवः पदे-पदे सन्ति।

सरलार्थ— मधुर जिह्वा युक्त (मधुरजिह्वाः) और कभी न थकने वाली (असश्चतः) सहस्रों धारों को प्रवाहित करने वाली (सहस्रधारे) (और) द्युलोक के (दिवः) उन्नत स्थान पर (नाके) विद्यमान्) वे (ते) अर्थात् सोमरश्मियाँ इस

पृथ्वी की तरफ गति करती हैं (अव समस्वरन्)। इसकी (अस्य) अर्थात् सोम की भ्रमणशील (भूर्णयः) और गुप्तचर रूपी (स्पशाः) (रश्मियाँ) पलकें नहीं झपकतीं (न निमिषन्ति) पापियों को (पाशिनः) बाँधने वाले (सेतवः) (गुप्तचर) पद पद पर (पदेऽपदे) विद्यमान हैं (सन्ति)।

सायण भाष्यः— सहस्रधारेऽव। उदकधारा यस्माद् द्रवन्ति तत्तथोक्तमन्तरिक्षम्। तस्मिन् वर्तमानास्ते सोमरश्मयोऽवावस्तात् स्थितां पृथिवीं वृष्ट्या संयोजयन्तीत्यर्थः। किञ्च दिवो द्युलोकस्य नाके समुच्छ्रिते देशे वर्तमाना मधुजिह्वा मध्वग्राः सोमतेजसाग्रेमयो हि मधूत्पन्नं भवति। अतो मधुजिह्वाः। असश्चतः सङ्गतवर्जिताः पृथक्पृथग्दिव्यवस्थिता अस्य सोमस्य स्वभूताः स्पशः सारभूता रश्मयो भूर्णयः क्षिप्रगामिनः सन्तो न निमिषन्ति। निमेषं न कुर्वन्ति। किन्तु पापिनः सुकृतिनश्च ज्ञातुं सर्वदा जाग्रतीत्यर्थः। अथवा राजानो दुष्टान्वारयितुं सर्वदा जागरणं कुर्वन्ति तद्वत्। एवं ते रश्मयः पदे पदे स्थाने सेतवः सम्बद्धाः सन्तः पाशिनः पापकृतां बाधकाः सन्ति। भवन्ति।

स्पष्टीकरण— मधुर (मीठा) होने के कारण प्रस्तुत मन्त्र में सोम को मधुरजिह्वाः कहा गया है। पीसे गए, छाने गए पवित्र सोम को जब ऊपर से धार बना कर नीचे जमीन पर रखे हुए पात्र में डाला जाता है तो वैदिक ऋषि की यह कल्पना कि 'सोम को सहस्रों धाराओं के रूप में द्युलोक के ऊँचे स्थान से पृथ्वी की तरफ लाया जा रहा है' निस्सन्देह प्रशंसनीय है। अथवा इसका एक अन्य अभिप्राय यह भी हो सकता है कि यहाँ द्युलोक का उन्नत प्रदेश अन्तरिक्ष का वाचक है। सोम अन्तरिक्ष स्थानीय देवता है परन्तु पृथ्वी लोक पर यज्ञ में आहुति रूप में अर्पित किया जाना ही उसका द्युलोक से पृथ्वी पर आना है।

मादकता, शक्ति, बल, आनन्द, उष्णता इत्यादि प्रदान करना सोम की विशेषताएँ हैं जिन्हें केवल सोम पीने वाला ही अनुभव कर सकता है। गुप्त रूप में छिपे हुए ये गुण ही सोम के गुप्तचर हैं। ये गुप्त रूप से अपना कार्य करते रहते हैं। पापवृत्ति वाले व्यक्ति इसका सेवन दुरुपयोग के लिए करते हैं। इसके सेवन से उनकी दुष्प्रवृत्तियाँ और भी अधिक बढ़ जाती हैं और उन्हें कष्ट पहुँचाती हैं। वस्तुतः सोम वैदिक आर्यों का प्रिय पेय पदार्थ था। वर्तमान युग की wine (शराब) के समान औषधिरूप में सीमित मात्रा में लिए जाने पर यह लाभप्रद है। परन्तु अनियन्त्रित होकर मदिरा रूप में सेवन किए जाने पर यह मनुष्य को समूल नष्ट कर देता है। इस प्रकार सोम की छिपी हुई विशेषताएँ ही मनुष्य को पकड़ती हैं अर्थात् नष्ट करती हैं अथवा सुख प्रदान करती हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि धीर व्यक्ति मधुरवाक् होते हैं। अथर्ववेद में स्पष्ट कहा गया है—

'जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्'। (अथर्ववेद 1.4.2)

वे ज्ञान युक्त होते हैं अतः दिव्यानन्द रूपी सोम की हजारों धाराएँ उनके चारों तरफ प्रवाहित होती हैं अर्थात् वे सर्वत्र सर्वदा आनन्द का अनुभव करते हैं।

टिप्पणियाँ

1. **सहस्रधारे— प्रायः सभी विद्वानों** ने इसका अर्थ—'जल की सहस्रों धाराएँ प्रवाहित करने वाला' किया है तथा इसे 'दिवो नाके' पद का विशेषण माना है।

योगी जी ने इसका अर्थ 'सहस्रों प्रकाश तथा सुख की धाराओं से युक्त स्थान पर' किया है।

परन्तु इसका अर्थ सोम रस की हजारों धाराएँ भी हो सकता है क्योंकि सोम रस को द्रोण नामक पात्रों में धार रूप में ही ऊपर से नीचे की तरफ डाला जाता है। अथवा सोम को छानने के लिए जब छिद्रयुक्त पवित्र नामक छलने में डाला जाता है तो वह अनेक धाराओं के रूप में बहता है।

2. **दिवः नाके— प्रायः सभी विद्वानों** ने इसका अर्थ— 'द्युलोक के उन्नत स्थान में' किया है। परन्तु **योगी जी** ने इसका अर्थ **'प्रकाशमय लोक के सुखमय प्रदेश में'** किया है। नाकः को सुख का वाचक मानकर ही उन्होंने यह अर्थ किया 'न अस्ति अकं यस्मिन् इति नाकः।

3. **मधुजिह्वाः— सायण** के अनुसार सोम तेज के अग्रभाग से मधु उत्पन्न होता है अतः सोमरश्मियाँ मधुजिह्वा हैं।

सोमरस के मीठा होने के कारण उसकी रश्मियों को 'मधुजिह्वाः' कहना सर्वथा उचित है।

4. **अव समस्वरन्—** दृष्टव्य मन्त्र प्रथम।

सायण— 'नीचे स्थित पृथ्वी को वर्षा से संयुक्त करते हैं'।

वेंकटमाधव— 'मिल कर पृथ्वी की ओर गति करते हैं'।

ग्रिफिथ— 'मिल कर अपनी ध्वनियाँ नीचे भेजते हैं'।

योगी जी— 'प्रदीप्त हुए और दिव्य सङ्गीत निमग्न हुए'। परन्तु प्रथम मन्त्र में 'मिल कर गीत गाने लगे' यह अर्थ किया है।

5. **भूर्णयः—** यह भूर्णि शब्द का प्रथमा विभक्ति, बहुवचन का रूप है।

सायण ने इसका अर्थ—'क्षिप्रगामी' किया। **वेंकटमाधव** ने भी यही अर्थ किया।

सातवलेकर—'स्थिर नहीं रहते'। **योगी जी**—'गतिशील'।

दुर्गाचार्य—'भ्रमणशील'।

6. **सेतवः**— √ षिञ् बन्धने + तुन् (उणादि प्रत्यय), प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

सायण—'पापियों से सम्बद्ध होते हुए'।

वेंकटमाधव—'पापियों को बाँधने वाले'।

ग्रिफिथ—'मनुष्यों को दृढ़ता से बाँधने वाले'।

योगी जी—'दुष्टों को बाँधने वाले'।

7. **असश्चतः**—नञ् + √ सच् + क्त, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

सायण और वेंकटमाधव—'सङ्गवर्जित अर्थात् द्युलोक में पृथक्-पृथक् अवस्थित'।

यास्क—'आसक्त न होते हुए'।

ग्रिफिथ तथा योगी जी—'कभी न थकने वाले'।

पितुर्मातुरध्या ये समस्वरन् ऋचा शोचन्त सन्दहन्तो अव्रतान्।
इन्द्रद्विष्टामप धमन्ति मायया त्वचमसिक्नीं भूमनो दिवस्परि।। 5।।

पितुः। मातुः। अधि। आ। ये। सम्ऽअस्वरन्।
ऋचा। शोचन्तः। सम्ऽदहन्तः। अव्रतान्।
इन्द्रऽद्विष्टाम्। अप। धमन्ति। मायया। त्वचम्।
असिक्नीम्। भूमनः। दिवः। परि।

अन्वय— ऋचा शोचन्तः अव्रतान् सन्दहन्तः ये पितुः मातुः अधि समस्वरन्। इन्द्रद्विष्टाम् त्वचमसिक्नीम् मायया भूमनः दिवः परि अपधमन्ति।

सरलार्थ— मंत्रों के द्वारा (ऋचा) प्रदीप्त होती हुईं (शोचन्तः) यज्ञादि से विमुखों को (अव्रतान्) नष्ट करतीं हुई (सन्दहन्तः) जो (ये) (सोमरश्मियाँ) द्युलोक और पृथ्वीलोक में (पितुः मातुः अधि) मिलकर ध्वनि करती हैं (समस्वरन्)। इन्द्र से द्वेष रखने वाले (इन्द्रद्विष्टाम्) (और) काली त्वचा वाले (त्वचमसिक्नीम्) (राक्षसों को) अपनी माया से (मायया) पृथ्वी लोक

(भूमनः) और द्युलोक के (दिवः) चारों तरफ से (परि) दूर भगाती हैं (अपधमन्ति)।

सायण भाष्यः— पितुर्मातुर्द्यावापृथिव्योः। द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्रबन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। ऋ. 1.164.33 इत्यादिषु द्यावापृथिव्योर्मातापितृत्वाम्नानात्। द्यावापृथिवीभ्यां ये सोमरश्मयोऽध्या समस्वरन् अधिकं प्रादुर्भूता अभवन् त ऋत्विग्भिः क्रियमाणया स्तुत्या शोचन्तो दीप्यमाना अव्रतान् कर्मरहितान्यजमानान् सन्दहन्त सम्यग्विनाशयन्तस्ते रश्मय इन्द्रद्विष्टांमिन्द्राय द्वेषकारिणीम्।। क्ते च। पा. 6.2.45। इति पूर्वपदप्रकृति स्वरः।। इन्द्रेण द्विष्टां वा असिक्नीम्। रात्रिनामैतत्। रात्रिवत्कृष्णरूपां त्वचम्। राक्षसमित्यर्थः। मायया कर्मणा प्रज्ञया वा भूमनो विस्तृताद् भूलोकाद्दिवस्परि द्युलोकच्चाप धमन्ति अपगतं कुर्वन्ति। अपघ्नन्तीत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि यज्ञ में सोम रस की हवि अर्पित करने के साथ-साथ मन्त्रों का उच्चारण भी किया जाता है। दोनों के संयोग से ही यज्ञ की अग्नि और भी अधिक सुदीप्त और प्रज्वलित होती है। भारतीय संस्कृति विशेष रूप से वैदिक युग में यज्ञ करना नित्यनैमित्तिक कर्म था जिसके करने से पुण्य प्राप्त नहीं होता परन्तु न करने से पाप अवश्य होता है। द्युलोक और पृथ्वी लोक के बीच में सोमरश्मियों द्वारा मिलकर ध्वनि करने का तात्पर्य ही सोम रस को धार रूप में ऊपर से नीचे भूमि तल पर स्थित द्रोण पात्रों में एकत्र करना है। सोम के अन्तरिक्षस्थानीय देवता होने के कारण प्रस्तुत मन्त्र में द्युलोक का अर्थ अन्तरिक्ष लोक है, स्वर्गलोक नहीं।

अन्तरिक्ष को पिता तथा पृथ्वी को माता कहना वैदिक ऋषि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। पिता का कार्य पालन करना और माता का कार्य उत्पत्ति करना है। पिता अर्थात् अन्तरिक्ष से जब वर्षा भूमि पर गिरती है तभी उस पर नानाविध वनस्पतियाँ, कृषियाँ, फलफूल अनाज इत्यादि उत्पन्न होते हैं। अथर्ववेद के भूमि सूक्त में स्पष्ट कहा गया है— **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु'** (अथर्ववेद 12.1.12)।

सोमपान से इन्द्र सबसे अधिक पराक्रमयुक्त कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। वह सब प्रकार के राक्षसों को नष्ट कर देता है। ऋग्वेद में दो प्रकार के राक्षसों का उल्लेख है— अधिक बलशाली और श्रेष्ठ राक्षस देवताओं के शत्रु थे तो अवर प्रकार के राक्षस पृथ्वी लोक पर रहने वाले मनुष्यों को कष्ट पहुँचाते थे। प्रस्तुत मन्त्र भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। सोम पान करके इन्द्र उन दोनों को ही नष्ट कर देता है।

आध्यात्मिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ है कि जिनके माता-पिता ज्ञानी हैं वे सहज ही प्रकर्ष प्राप्त कर लेते हैं। माता संतान की निर्मात्री है तो पिता उसका पूर्ण विकास करने वाला है। तुलनीय—

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।। (रघुवंश 1.24)

शिक्षण, रक्षण और भरण पोषण पिता के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार के माता-पिता की संतान ज्ञान से (ऋचा) युक्त होकर दिव्यानन्द प्राप्त करती हुई दीप्तियुक्त व तेजस्वी हो जाती है। उसका मन (इन्द्र) पापकर्म से घृणा करता है। वे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही जगत् में निर्दोष, निष्कलङ्क और निष्पाप वातावरण की ही इच्छा करते हैं।

टिप्पणियाँ

1. **पितुः मातुः अधि**— अनेक वैदिक मन्त्रों में पिता को 'द्यौः' तथा माता को पृथ्वी कहा गया है **'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्'** (ऋग्वेद 1.164.33)।

योगी जी और **ग्रिफिथ** ने अर्थ किया 'माता पिता को आधार बना' कर।

2. **आ समस्वरन्**— दृष्टव्य प्रथम मन्त्र।

3. **शोचन्तः**— √ शुच्-दीप्तौ + शतृप्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

4. **सन्दहन्तः**— सम् + √ दह्-दहने, शतृ प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

5. **अव्रतान्**— **सायण** 'कर्मरहित यजमानों को'। **वेंकटमाधव**— 'यज्ञ न करने वालों को'। **योगी जी**— 'व्रतहीनों को'। **ग्रिफिथ**— 'कर्मकाण्ड से विमुखों को'।

6. **इन्द्रद्विष्टाम्**— इन्द्र + √ द्विष्-अप्रीतौ + क्त + टाप् प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिङ्ग।

7. **असिक्नीम्**— 'असिक्नी' शब्द का प्रयोग 'रात्रि' के अर्थ में होता है। **सायण, योगी जी, ग्रिफिथ** 'रात्रि के समान काली त्वचा वाला'।

यास्क— 'असितवर्णा'।

8. **मायया**— **सायण**— 'प्रज्ञा'। **ग्रिफिथ**— 'आलौकिकशक्ति'। दृष्टव्य इन्द्र सूक्त मन्त्र 4

प्र॒त्ना॒न्मा॒ना॒द॒ध्या ये स॒मस्व॒र॒ञ्छ्लोक॑यन्त्रासो र॒भ॒सस्य॒ मन्त॑वः।
अपा॑न॒क्षासो॑ ब॒धि॒रा अ॑हासत ऋ॒तस्य॒ पन्थां॒ न त॑रन्ति दु॒ष्कृतः॑।। 6।।

प्र॒त्नात्। माना॑त्। अधि॑। आ। ये।
स॒म्ऽअस्व॑रन्। श्लोक॑ऽयन्त्रासः। र॒भ॒सस्य॑ मन्त॑वः।

अप॑। अ॒न॒क्षास॑ः। ब॒धि॒राः। अ॒हा॒स॒त।
ऋ॒तस्य॑। पन्था॑म्। न। त॒र॒न्ति॒। दुः॒ऽकृत॑ः।

अन्वय— श्लोकयन्त्रासः रभसस्य मन्तवः ये प्रत्नात् मानात् अधि आ समस्वरन्। अनक्षासः बधिराः अप अहासत दुष्कृतः ऋतस्य पन्थाम् न तरन्ति।

सरलार्थ— स्तुति का नियमन करने वाले (श्लोकयन्त्रासः) (और) वेग को (रभसस्य) स्वीकार करने वाले (मन्तवः) जो (ये) (सोम) अपने पुरातन (प्रत्नात्) निवासस्थान से (मानात्) अर्थात् अन्तरिक्ष से एक साथ प्रकट हुए (अधि आ समस्वरन्)। चक्षुरहित (अनक्षासः) (और) बधिरों ने (बधिराः) (उनसे) मुख मोड़ लिया (अप अहासत) दुष्कर्म करने वाले (दुष्कृतः) सत्य के (सत्यस्य) मार्ग को (पन्थाम्) पार नहीं करते (न तरन्ति)।

सायण भाष्यः— श्लोकयन्त्रासः। श्लोकाः स्तुतयः। स्तुतिनियमना रभसस्य मन्तवो वेगमभिमन्यमानाः एतादृशा ये सोमरश्मयः प्रत्नात्पुराणान्मानादन्तरिक्षादध्या समस्वरन् सह प्रादुर्भूता अभवन् तान्रश्मीननक्षासश्चक्षुर्वर्जिताः साधु पदार्थनामद्रष्टारो नरा बधिरा देवतास्तुतिश्रवणवर्जिताः पापकृतो नरश्चापहासत। तान्परित्यजन्ति दर्शिनःश्रवणवन्तो मेधाविनस्तु न परिजहति किन्तु स्तुवन्ति। ऋतस्य सत्यस्य पन्थां मार्गभूतमेषां गणं दुष्कृतः पापकृतो नरा न तरन्ति। नोत्तारयन्ति सुकृतस्तु तरन्तीत्यभिप्रायः।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि सोम रस स्तुति के नियामक हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब सोम रस की हवि यज्ञ में अर्पित की जाती है तो उसके साथ-साथ स्तुतियों और मन्त्रों का उच्चारण भी किया जाता है तुलनीय-पाँचवां मन्त्र 'ऋचा शोचन्तः'। इस दृष्टि से सोम स्तुति को प्रेरित करने वाला है। सोम रस जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है द्रोण नामक पात्रों में एकत्रित करते समय तीव्र गति से नीचे गिरता है। अन्तरिक्षस्थानीय देवता होने के कारण अन्तरिक्ष सोम का पुरातन निवासस्थान है। चक्षुहीनता और बधिरता अज्ञान का प्रतीक है। अपनी आँखों और कानों को बन्द रखने वाला व्यक्ति ज्ञान

कैसे प्राप्त कर सकता है। ऐसे व्यक्ति सोम रस का लाभ उठाने से भी वञ्चित रह जाते हैं। मदिरा रूप में इसका अत्यधिक पान करके स्वयं को हानि पहुँचाते हैं जबकि शुभकर्म वाले इसे हविरूप में यज्ञ में अर्पित करके विविध श्रेष्ठ फलों का भोग करते हैं। यह पीने वाले पर निर्भर है कि वह सोम का सदुपयोग करता है अथवा दुरुपयोग। वेदों में सुकृत की अत्यधिक प्रशंसा है— **सुकृत्तमाः मधुनो भक्षमाशत।**

आध्यात्मिक पक्ष में इस का अभिप्राय है कि दिव्यानन्द में लीन धीर व्यक्तियों का हृदय प्राचीन संस्कारों से युक्त रहता है। वे अबाध गति सम्पन्न होते हैं। परन्तु इसके विपरीत इस संसार में बहुत से मूढ़ ऐसे भी हैं जो देखते हुए भी देखने योग्य को देखते नहीं और सुनते हुए भी श्रवणीय को सुनते नहीं। उन्हें सूक्ष्मानुभूति नहीं होती। छोटे-छोटे स्वार्थ के लिए वे दुष्कर्म करते हैं, नियम भङ्ग करते हैं, भोग विलासों में लिप्त वे जन्मजन्मान्तरों तक दिव्यानन्दविहीन होकर दुःखों का अनुभव करते हैं।

टिप्पणियाँ

1. **श्लोकयन्त्रासः**— श्लोक + √ यत्रि-यन्त्र्-सङ्कोचने + अच् प्रत्यय। प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ 'श्लोकयन्त्राः' रूप होना चाहिए था परन्तु '**आज्जसेरसुक्**' से जस् को असुक् का आगम हे गया।

सभी विद्वानों ने इस का अर्थ-'गीत, मन्त्रों तथा स्तुतियों का नियमन करने वाले' किया है।

2. **आ समस्वरन्**— दृष्टव्य प्रथम मन्त्र। '**व्यवहिताश्च**' सूत्र से धातु ओर उपसर्ग के बीच व्यवधान है।

3. अनक्षासः— यहाँ '**अनक्षाः**' रूप होना चाहिए था परन्तु '**आज्जसेरसुक्**' से जस् को असुक् का आगम हो गया।

4. **अप अहासत**— अप + √ हा-त्यागे + सिच् + लुङ्लकार। **प्रथम** पुरुष बहुवचन। यहाँ 'च्लेःसिच्' (3.1.44) से सिच् का आगम हुआ है। 'व्यवहिताश्च' सूत्र से धातु और उपसर्ग के बीच व्यवधान है।

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः।। 7।।

सहस्रऽधारे। विऽतते। पवित्रे। आ। वाचम्। पुनन्ति। कवयः। मनीषिणः।
रुद्रासः। एषाम्। इषिरासः। अद्रुहः। स्पशः। सुऽअञ्चः। सुऽदृशः। नृऽचक्षसः।।

अन्वय— सहस्रधारे पवित्रे वितते कवयः मनीषिणः वाचम् पुनन्ति। एषाम् स्पशः रुद्रासः इषिरासः अद्रुहः स्वञ्चः सुदृशः नृचक्षसः।

सरलार्थ— सहस्रधारा प्रवाहित करने वाले (सहस्रधारे) सोम रस को पवित्र करने वाले छलने के (पवित्रे) फैलाए जाने पर (वितते) क्रान्तदर्शी (कवयः) विद्वान् (मनीषिणः) (अपनी) वाणी को(वाचम्) पवित्र करते हैं (पुनन्ति)। इनके (एषाम्) गुप्तचर (स्पशः) भयङ्कर (रुद्रासः) गमनशील (इषिरासः) द्रोहरहित (अद्रुहः) सुन्दर गति वाले (स्वञ्चः) सुदर्शन (सुदृशः) तथा मनुष्यों को देखने वाले हैं (नृचक्षसः)।

सायण भाष्यः— कवयः क्रान्तकर्माणः अत एव मनीषिणः प्राज्ञा ऋत्विजः सहस्रधारे अनेकधारोपेते वितते कर्मणि विस्तृते पवित्रे शुद्धयुत्पादके सोमे वर्तमानां वाचं माध्यमिकाम्। सोमः खलु विश्ववसुपभृतिगन्धर्वाश्चान्तरिक्षेऽतिष्ठन् सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीदिति श्रवणात् तत्र वर्तमानं सोमं देवा गोपया वाचा क्रीतवन्तः तदा सोमे वाचि तिष्ठतीति शक्यते वक्तुम्। तस्मात्सोमे स्थितां माध्यमिकां वाचमा पुनन्ति। संस्कुर्वन्ति स्तुवन्तीति यावत्। उक्तगुणा मरुतां मातरं माध्यमिकां वाचं स्तुवन्ति। तेषां रुद्रासो रुद्रपुत्रा मध्यमवाचः पुत्रा मरुतः स्पशो वाचां वशिनो भवन्ति। कीदृशाः। इषिरा गमनशीला अद्रुहः स्तोतृणामद्रोग्धारः। यद्वा।। द्रुहेः कर्मणि क्रिबौणदिकः।। परैरहिंस्याः स्वञ्चः शोभनाञ्च अत एव सुदृशः सुदर्शना नृचक्षसो नृणां कर्मनेतृणां द्रष्टारः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि सोम रस को पवित्र कर दिए जाने पर और इस पवमान सोम की हवि यज्ञ में अर्पित किए जाने पर क्रान्तदर्शी विद्वान् अपनी वाणी को पवित्र करते हैं अर्थाज् वे परिष्कृत, शुद्ध और सुघटित स्तुतियों का उच्चारण करते हैं। मन्त्रों का सस्वर शुद्ध उच्चारण ही वाणी की पवित्रता है। सोम रस छानने वाले छलने को 'सहस्रधारे' कहा गया है क्योंकि यह एक ऊनी वस्त्र होता था जिसे 'पवित्र' कहा जाता था। उसे पात्र के ऊपर फैला दिया जाता था। उसमें से सोम रस की असंख्य धाराएँ वर्षा की धाराओं के समान पात्र में गिरती हुई एक साथ गति करती थीं अथवा असंख्य बार इसमें से सोम को छानकर पवित्र किए जाने के कारण यह 'सहस्रधारे' हैं। परन्तु पहला अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

सोम की गुप्त शक्तियाँ जैसे मादकता, बल, आनन्द, वाक् शक्ति में वृद्धि, अमृतत्व, उष्णता इत्यादि **इसके गुप्तचर हैं**। ये गुप्तचर भयङ्कर हैं क्योंकि मनुष्य यदि अधिक मात्रा में इसका सेवन कर लेता है तो वह अनुचित भयङ्कर कार्य करने लगता है। यहाँ भयङ्कर का अर्थ ओजपूर्ण भी हो सकता है क्योंकि सोमरस पान मनुष्य को अतुलित शक्ति प्रदान करता है। धार रूप में नीचे गिरने के कारण सोम गतिशील है। वह द्रोहरहित हैं क्योंकि सोमरस का पान करके इन्द्र ने पृथ्वी पर निवास करने वाले और स्वर्ग में निवास करने वाले सभी राक्षसों को नष्ट कर दिया। परिणामतः न तो मनुष्यों का और न हीं देवताओं का कोई शत्रु शेष बचा है। यदि सोमरस को औषधिरूप में लिया जाए तो शरीर हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ और कान्तियुक्त रहता है। इन सब गुणों से युक्त होने के कारण इसके गुप्तचर सुदर्शन हैं। मनुष्य के विवेक और अविवेक को निरन्तर परखने के कारण ये नृचक्षसः हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि मनीषी अपनी वाणी को पवित्र रखते हैं अर्थात् वे सोच समझकर प्रिय, मधुर और शुभ वाणी ही बोलते हैं। परहित परायण तथा सूक्ष्मदर्शी होने के कारण पवित्र हृदय होते हैं। इनके हृदय में परमात्मा का वास होता है। निष्कपट निर्दोष सरल शुद्ध हृदय ही विशिष्ट तेज और प्रतिभा से युक्त होते हैं। सुदर्शन होने के कारण मनुष्यों को परखने की शक्ति उनमें अनायास ही विकसित हो जाती है।

टिप्पणियाँ

1. **मनीषिणः**— मनस् + ईषा **'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्'** से पररूप संधि हुई। मनीषा रूप सिद्ध होने पर 'इनि' प्रत्यय लगाकर प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग में 'मनीषिणः' रूप बना।

2. **रुद्रासः**— रुद्र शब्द, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग । यहाँ 'रुद्राः' रूप बनना चाहिए था परन्तु **'आज्जसेरसुक्'** सूत्र से जस् को असुक् आगम होने पर 'रुद्रासः' रूप बना।

3. **इषिरासः**— √ इष्-इच्छायाम्, गतौ, अभीक्ष्ण्ये √ इष् + किरच् प्रत्यय प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग यहाँ भी **'आज्जसेरसुक्'** से असुक् आगम होकर 'इषिराः' के स्थान पर 'इषिरासः' रूप सिद्ध हुआ।

4. **अद्रुहः**— √ द्रुह्-जिंघासायाम् + क्विप् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

5. **स्वञ्चः**— सु + √ अञ्च् –गतिपूजनयोः : क्विप् प्रत्यय प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

6. **सुदृशः**— सु + √ दृश्-दर्शने + अप् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

7. **नृचक्षसः**— नृ + √ चक्ष्-दर्शने + अप् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ 'नृचक्षाः' 'रूप बनना चाहिए था परन्तु 'आज्जसेरसुक्' से असुक् का आगम हो गया।

ऋतस्य॑ गो॒पा न दभा॑य सु॒क्रतु॒स्त्री ष प॒वित्रा॑ हृ॒द्य१॒॑न्तरा द॑धे।
वि॒द्वान्त्स विश्वा॒ भुव॑ना॒भि प॑श्य॒त्यवाजु॑ष्टान्विध्याति क॒र्ते अ॑व्रतान्॥ 8॥

ऋ॒तस्य॑। गो॒पाः। न। दभा॑य। सु॒ऽक्रतुः॑।
त्री। सः। प॒वित्रा॑। हृ॒दि। अ॒न्तः। आ। द॒धे॒।
वि॒द्वान्। सः। विश्वा॑। भुव॑ना। अ॒भि।
प॒श्य॒ति॒। अव॑। अजु॑ष्टान्। वि॒ध्य॒ति॒। क॒र्ते। अ॒व्र॒तान्।

अन्वय— ऋतस्य गोपा सुक्रतुः न दभाय सः हृदि अन्तः त्री पवित्रा आ दधे। विद्वान् सः विश्वा भुवना अभिपश्यति अजुष्टान् अव्रतान् कर्ते विध्यति।

सरलार्थ— यज्ञ के (ऋतस्य) रक्षक (गोपा) (और) शुभ कर्मों वाले (सुक्रतुः) (सोम को) धोखा नहीं दिया जा सकता (न दभाय) वह (सः) हृदय के अन्दर (हृदि अन्तः) तीन (त्री) पवित्रों को (पवित्रा) धारण करता है (आ दधे)। सर्वज्ञ (विद्वान्) वह (सः) सभी (विश्वा) प्राणियों को (भुवना) ध्यानपूर्वक देखता है (अभिपश्यति) नियमों का पालन न करने वाले (अजुष्टान्) अव्रतियों को (अव्रतान्) गड्ढे में (कर्ते) फेंक देता है (विध्यति)।

सायण भाष्य— ऋतस्य सत्यभूतस्य यज्ञस्य गोपा गोपायिता अत एव सुक्रतुः शोभनकर्मा सोमो न दभाय दम्भाय स्तम्भनाय न भवति। परैर्दम्भयितुं न शक्यत इत्यर्थः। किञ्च सोमस्त्री। शेश्छन्दसि बहुलमिति लुक्॥ त्रीणि पवित्राग्निवायुसूर्यात्मकानि त्रीणि पवित्राणि हृद्यन्तर्हृदयस्यान्तरा दधे। आदधाति। स्वस्मिन् सङ्क्रमयतीत्यर्थः। अपि च विद्वान् सर्वं जानानः स सोमो विश्वा भुवना सर्वाणि भूतान्यभि पश्यति। ततः कर्ते। करोतेरौणादिकस्तप्रत्ययः॥ कर्मण्यजुष्टानप्रियान्

अत एवाव्रतानयजमानानव विध्यति। अवाङ्मुखान् कृत्वा ताडयति हिनस्ति यावत्।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सोम को यज्ञ का रक्षक कहा गया है (दृष्टव्य मन्त्र 3) क्योंकि सोम रस की हवि अर्पित किए जाने पर ही अग्नि प्रज्वलित होती है। वस्तुतः अग्नि केवल सोम रस से ही प्रज्वलित नहीं होती अपितु घी तथा अन्य अनेक आहुति द्रव्य भी अर्पित किए जाते हैं । परन्तु सोम सूक्त में सोम की हवि को अधिक महत्त्व देना स्वाभाविक है। अग्नि प्रज्वलित होने में ही यज्ञ की सफलता तथा पूर्णता है। 'सोम प्रज्ञा से युक्त है' इसका तात्पर्य यह है कि (1) वह अपने गुप्तचरों द्वारा सब मनुष्यों के विषय में जानता है अतः उसे कोई धोखा नहीं दे सकता (2) सोम आनन्द है। आनन्द एक ज्ञानी ही प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः आनन्द और ज्ञान पर्यायवाची ही हैं। उपनिषदों में भी ब्रह्म को 'रसो वै सः' तथा सत् चित् आनन्द कहा गया है।

सोम के हृदय में तीन पवित्र हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर रूपी सोमपात्र में तीन शक्तियाँ-अग्नि, वायु और सूर्य हैं। अग्नि ज्ञान है, वायु कर्म है और सूर्य तेज, आत्मप्रकाश है। मनुष्य का शरीर सोमकलश के रूप में कल्पित है। तुलनीय अश्वघोष, 'Here for instance, the physical system of human being is imagined as the jar of the Soma wine .' (on the Vedas, p. 368) ज्ञान, कार्यक्षमता व आत्मनिरीक्षण की शक्ति से सम्पन्न मनुष्य रचनात्मक और सृजनात्मक कार्य ही करता है। सोम के गुप्तचरों का उल्लेख पूर्व मन्त्रों में हो चुका है। वस्तुतः मादकता, उष्णता, आनन्द, पराक्रम, वाक्शक्ति, सत्यवादिता आदि गुप्त शक्तियाँ ही सोम के गुप्तचर हैं। इन की सहायता से सोम सबके विषय में जानता है। जो व्यक्ति यज्ञ यागादि नहीं करते, नियमों का पालन नहीं करते, सोम उन्हें नीचे गर्त में धकेल देता है। नियमों का पालन न करने वाले दुराचारी का अवनति के गर्त में गिरना स्वाभाविक एवं औचित्यपूर्ण है। प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए व्यवस्थित, अनुशासित व नियमित रहना परमावश्यक है।

आध्यात्मिक पक्ष में अभिप्राय यह है कि जो धीर मनुष्य दिव्यानन्द में लीन होते हैं वे प्रखर प्रतिभासम्पन्न होते हैं। कोई भी उन्हें धोखा नही दे सकता। अग्निवायुसूर्य के स्वरूप को प्राप्त वह अग्नि से ज्ञानविकास, वायु से कार्य प्रसार तथा सूर्य से आत्मप्रकाश के गुणों को आत्मसात् करके सर्वभूतहितरत दिव्यानन्द प्राप्त करता है।

टिप्पणियाँ

1. **त्री पवित्रा**— यहाँ त्रीणि पवित्राणि रूप होना चाहिए था। दोनों ही प्रथमा द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, नपुसंकलिङ्ग के रूप हैं परन्तु '**शेश्छन्दसि बहुलम्**' (6.1.70) से 'शि' का लोप हो गया।

सायण, वेंकटमाधव तथा **सातवलेकर** ने इसका अर्थ तीन पवित्र शक्तियाँ— अग्नि, वायु व सूर्य किया है।

योगी जी और **ग्रिफिथ** ने 'तीन पवित्र' यह अर्थ किया परन्तु 'ये तीन पवित्र क्या हैं यह स्पष्ट नहीं किया।

कुछ विद्वानों ने अर्थ किया— 'जिन्होंने तीनों वेदों को आत्मसात कर लिया है।'

2. **दभाय**— यह √ दम्भ्-दम्भे, संघाते, क्षेपे से निष्पन्न है। यहाँ '**छन्दसि शायजपि**' (3.1.84) सूत्र से 'श्ना' विकरण के स्थान पर 'शायच्' आ गया।

3. **सुक्रतुः**— **सायण** ने इस का अर्थ 'शोभनकर्मा' किया है जबकि अन्य **विद्वानों** ने 'अत्यन्त प्रज्ञाशाली' यह अर्थ किया है।

4. **विश्वा भुवना**— यहाँ 'विश्वानि भुवनानि' रूप होना चाहिए था परन्तु '**शेश्छन्दसि बहुलम्**' (6.1.70) से 'शि' का लोप हो गया।

5. **अवविध्यति**— अव् + √ व्यध्-ताडने, लट्लकार प्रथम पुरुष, एकवचन।

'व्यवहिताश्च' सूत्र से उपसर्ग और धातु के मध्य व्यवधान है।

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चित्तत्समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमव पदात्यप्रभुः।। 9।।

ऋतस्य। तन्तुः। विऽततः। पवित्रे।
आ। जिह्वायाः। अग्रे। वरुणस्य। मायया।
धीराः। चित्। तत्। सम्ऽइनक्षन्तः।
आशत। अत्र। कर्तम्। अव। पदाति। अप्रऽभुः।।

अन्वय— ऋतस्य तन्तुः पवित्रे वरुणस्य मायया जिह्वायाः अग्रे आ विततः। इनक्षन्तः धीराः तत् सम् आशत् अप्रभुः अत्र कर्तम् एव पदाति।

सरलार्थ— ऋत का (ऋतस्य) तन्तु (तन्तुः) छाननी में (पवित्रे) वरुण

की (वरुणस्य) माया से (मायया) जिह्वा के (जिह्वायाः) अग्र भाग पर (अग्रे) व्याप्त है (आ विततः)। (उसे) प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए (इनक्षन्तः) धीर (धीराः) उसे (तत्) प्राप्त कर लेते हैं (सम् आशत) (परन्तु) असमर्थ (अप्रभुः) यहाँ (अत्र) गर्त में (कर्तम्) ही (एव) गिरता है (पदाति)।

सायण भाष्यः— ऋतस्य सत्यभूतस्य यज्ञस्य तन्तुस्तनिता पवित्रेऽविवालमये दशापवित्रे विततो विस्तृतः। यद्वा। पवित्रेऽन्तरिक्षे विस्तृतः सोमो वरुणस्य जिह्वाया अग्रे मायया कर्मणा आ। आस्थिता। वरुणजिह्वाग्र आपस्तिष्ठन्ति। तासु सोमो वसतीति वसतीवर्याद्युदकेषु स्थित इत्यर्थः। ततो धीराश्चित् कर्मणि प्राज्ञा एव तद्वरुणजिह्वाग्रस्थानं समिनक्षन्तः। इनक्षतिर्गतिकर्मा। संव्याप्नुवन्तः सन्त आशत। स्तुतिभिर्हविर्भिर्वा प्राप्नुवन्। यः पुनः कर्तम्।। कालाध्वनोरिति द्वितीया।। कर्मण्यप्रभुः समर्थो न भवति सोऽयमत्रास्मिन्नेव लोकेऽवपदाति। अवस्तान्नरके पतति। नोपरि गच्छति। पद गतौ। लेट्याडागम।। तस्मात्सर्वैरग्निष्टोमादिकर्म कर्तव्यमित्येषोऽर्थोभिहितो भवति।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि ऋत का तन्तु अर्थात् यज्ञ का आधार सोम रस है जो छानने के लिए और शुद्ध करने के लिए 'पवित्र' में रखा हुआ है। 'पवित्र' सोम रस को छानने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला ऊनी वस्त्र है। पवित्र किए गए इस सोम को यज्ञ में हविरूप में अर्पित किया जाता है। अतः दूसरे शब्दों में सोम ही यज्ञ का मूलभूत कारण बन जाता है। 'वरुण की माया से यह जिह्वा के अग्रभाग पर स्थित होता है। इसका अभिप्राय सम्भवतः यह हो सकता है कि वरुण नैतिकता का देवता है। जो मनुष्य नैतिकता से मर्यादित होकर सोम रस का विवेकयुक्त होकर सीमित मात्रा में प्रयोग करता है तो वह सोम के मधुर रस का भक्षण करता है **'सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत'** अथवा सोम रस वाणी को भी स्फूर्ति प्रदान करता है। सोम का जिह्वा के अग्रभाग पर स्थित होने का तात्पर्य सम्भवतः इसके द्वारा वाक् शक्ति को बढ़ाए जाने की तरफ सङ्केत है—**'अयं मे पीत उदियर्ति वाचम्'** (ऋग्वेद 6.47.3) तथा **'पतिं वाचः'** (ऋग्वेद 9.26.4)। सोम प्राप्ति के इच्छुक अर्थात् सोम के गुणों को पहचानने वाले इसका सदुपयोग कर इससे लाभान्वित होते हैं। इसके विपरीत अनुचित मात्रा में इसका प्रयोग करने वाले दुराचारी अवनति के गर्त में गिरते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि दिव्यानन्द में लीन धीर व्यक्ति वरुण को हृदय में धारण करता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि वरुण नैतिकता का देवता है। धीर मनुष्य नियमों का पालन कर नैतिकतापूर्ण

आचरण करता हुआ जीवन के आनन्द का अनुभव करता है परन्तु दुराचारी कभी भी सुख को प्राप्त न करता हुआ अवनति के गर्त में ही गिरता है।

टिप्पणियाँ

1. **ऋतस्य तन्तुः— सायण और वेंकटमाधव—** 'सत्यभूत यज्ञ को सम्पन्न कराने वाला सोम'।

सातवलेकर— 'यज्ञ का विस्तार करने वाला'।

ग्रिफिथ— 'यज्ञ का सूत्र'।

योगी जी— ''नियमों का पालक'।

2. पवित्रे—सोम को छानने का साधन 'पवित्र' कहलाता है। सायण ने इसके छलनी और अन्तरिक्ष ये दो अर्थ किए। अन्य सब विद्वानों ने 'छलनी' अर्थ किया है।

3. **विततः आ—** वि + √ तनु-विस्तारे + क्त प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति एक पुरुष, पुल्लिङ्ग। **'छन्दसि परेऽपि'** (1.4.81) सूत्र से उपसर्ग धातु के बाद आया।

4. **इनक्षन्तः— सोनियर विलियम्स** के अनुसार यह √ नश् धातु का सनन्त रूप है जिससे 'इनक्ष' रूप बना। इनक्ष + शतृ प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति बहुवचन, पुल्लिङ्ग में 'इनक्षन्तः' रूप बना।

5. **अव पदाति—** अव + √ पद्-गतौ, लेट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। **'लेटोऽडाटौ'** (3.4.94) सूत्र से आट् का आगम हुआ।

6. **अत्रा— 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्'** (6.3.133) सूत्र से अन्तिम 'अ' दीर्घ हो गया।

7. **सम् आशत— 'व्यवहिताश्च'** (1.4.82) सूत्र से उपसर्ग और धातु के मध्य व्यवधान है।

8. **मायया—** दृष्टव्य इन्द्र सूक्त मन्त्र 4।

卐 卐 卐

ज्ञानम् (ऋग्वेद 10.71)

ज्ञानम् सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 71 वाँ सूक्त है। **इसका देवता परम ज्ञान** है। इसमें ज्ञान की महिमा वर्णित है। **बृहद्देवता** में भी कहा गया है **'तज्ज्ञानमभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पतिः'** अर्थात इस सूक्त से बृहस्पति ने ज्ञान की स्तुति की है। **इस सूक्त का ऋषि बृहस्पति आङ्गिरस है।**

ज्ञान की महिमा अवर्णनीय है। वेदों में सर्वविध ज्ञान का देवता बृहस्पति है। बृहस्पति सूक्तों में भी ज्ञान का गौरव उद्घोषित किया गया है। सरस्वती ज्ञान की देवी है तथा उस ज्ञान को प्रकट करने का माध्यम वाणी है। सरस्वती' वाक् और वागाम्भृणी के लिए समर्पित सूक्तों में भी ज्ञान की उत्कृष्टता प्रतिपादित की गई है। वेद तो स्वयं ही ज्ञानमय हैं 'सर्वज्ञानमयो हि सः'। प्रसिद्ध गायत्री सूक्त में बुद्धि को प्रेरित करने के लिए प्रार्थना है **'धियो यो नः प्रचोदयात्'**। निरुक्त के इस अंश में भी ज्ञानस्तुति है **'यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति'** (निरुक्त 1.16)। उपनिषदों में तो ज्ञान को ही ब्रह्म बतलाया गया है **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**। गीता में भी ज्ञान को पवित्रतम कहा गया है **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**। शङ्कराचार्य ने भी कहा है कि ज्ञान के बिना गति नहीं है-

कुरुते गंगासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।

ज्ञानविहीनः सर्वमतेन मुक्तिं भजति न जन्मशतेन।।

विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है **'विद्वान्सर्वत्र पूज्यते'**।

ज्ञान स्तुति परक ज्ञानम् सूक्त में एक तरफ वाणी (भाषा) की उत्पत्ति, उसके विकास तथा उसके महत्त्व का वर्णन है तो दूसरी तरफ यज्ञानुष्ठान में उसकी अप्रतिम उपादेयता वर्णित है। वाणी के बिना न तो जीवनयात्रा चलती है और न ही यज्ञ सम्पादित किया जा सकता है। **शतपथ ब्राह्मण** के 'अग्निहोत्रावयवो पासना प्रकार' में वाणी को ही अग्निहोत्र का अग्निहोत्री बतलाया गया है **'वाग्घ वा एतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री'** (शतपथब्राह्मण 11.3.1)। आधिभौतिक दृष्टि से किए गए अग्निहोत्र में वाणी की परमावश्यकता है क्योंकि मन्त्रों के उच्चारण के

बिना यज्ञ अपूर्ण है। दूसरी तरफ आध्यात्मिक दृष्टि से जीवनरुपी यात्रा का सुचारु रुप से निर्वाह करना ही अग्निहोत्र है। वाणी के बिना विचारों का आदान प्रदान, भावाभिव्यक्ति, मानसिक व बौद्धिक विकास कैसे सम्भव हो सकता है। शुद्ध, परिष्कृत, परिमार्जित वाणी ही ज्ञान है। अतः ज्ञान की महिमा अद्भुत, अनुपम और अपार है, यही 'ज्ञानसूक्त' का केन्द्रबिन्दु है।

वाणी सर्वप्रथम ऋषियों के मन में प्रकट हुई। उन्होंने विभिन्न वस्तुओं का जो नामकरण किया, वही वाणी का मूल और प्रथम रुप था **ब्रह्मणस्ते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः'** (ऋग्वेद 10.71.1)। तत्पश्चात् ऋषियों ने उस वाणी को प्रयोगात्मक समीक्षण द्वारा पवित्र किया। यहाँ वाणी का तात्पर्य वेदों में प्रयुक्त उस देव वाणी से है जिसके द्वारा देवताओं का आह्वान किया गया है, साधारण भाषा से नहीं।

वैदिक युग में संस्कृत जनसाधारण की भाषा थी अतः सबने देवताओं की स्तुति अपने अपने ढंग से करनी प्रारम्भ की होगी परन्तु कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की वाणी का अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली, रसमयी, आरोह अवरोह युक्त तथा श्रुतिमधुर होना स्वाभाविक है। ऐसे मनीषियों ने इन स्तुतियों का बार बार भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चारण करके परीक्षण किया होगा। साथ ही साथ विभिन्न प्रकार की आहुतियाँ अर्पित करके यज्ञ भी किया होगा। इस प्रकार प्रयोगात्मक ईक्षण, वीक्षण, समीक्षण और परीक्षण द्वारा इन वाणियों की शक्ति का मनीषियों ने स्वयं अनुभव किया होगा। तत्पश्चात् इन्हें जनसाधारण के सम्मुख रखा होगा। ये कथन ही ऋचा, मन्त्र, स्तुति स्तोम कहलाए और इनकी शक्ति का अनुभव करने वाले ऋषि कहलाए। इसी कारण वैदिक ऋषि मन्त्रों के दृष्टा कहलाए स्रष्टा नहीं **'ऋषयो मन्त्रदृष्टारः न स्रष्टारः'**। कात्यायन ने भी अपनी सर्वानुक्रमणी में ऋषि की परिभाषा दी, **यस्य वाक्यं स ऋषिः'** अर्थात् जिसकी वाणी है, वह ऋषि है।

इस प्रकार परीक्षण किए शब्दों का प्रयोग ही भाषा को परिष्कृत करना था तथा यही भाषा का विकास था।

'ज्ञानम्' सूक्त के अनुसार भी बाणी ने स्वयं को सर्वप्रथम ऋषियों के सम्मुख प्रकट किया। अन्य विद्वानों ने ऋषियों में प्रकट इस वाणी को प्राप्त किया **'तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्'** (ऋग्वेद, 10.71.3) और उसका प्रचार प्रसार करने के लिए अपने शिष्यों को दे दिया। इन ऋषियों की वाणी का एक एक

शब्द मर्त्यलोक तथा स्वर्गलोक दोनों में कामधेनु के समान सर्वफलदायक था- **'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके य कामधुग् भवति'**

ज्ञान सूक्त में पुनः कहा गया है कि भाषा (वाणी) में प्रवीणता प्रत्येक मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता। उसका यथार्थ व वास्तविक अर्थ कुछ विरले ही समझ पाते हैं। परन्तु साथ ही इस बात पर भी बल दिया गया है कि वास्तविक अर्थ को समझे बिना वाणी का प्रयोग दूध न देने वाली गाय और फल फूलों से रहित वृक्ष के समान निरर्थक एवं निष्प्रयोजन है। भाषा में पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए, उसके निहित व गूढ़ अर्थ को समझने के लिए परस्पर सौहार्द व सखीत्व होना अनिवार्य है क्योंकि अपने मित्रों व इष्ट जनों से विचार विनिमय, वाद विवाद, प्रतियोगिताएँ इत्यादि करके ही मानसिक और बौद्धिक विकास हो सकता है। इस सूक्त से यह भी स्पष्ट है कि उस समय गोष्ठियाँ, प्रतिस्पर्धाएँ, प्रतियोगिताएँ आदि जीवन का अभिन्न अङ्ग थीं।

इस प्रकार मनुष्य जीवन से सम्बद्ध ज्ञानसूक्त वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ज्ञानम् (10.71)

ज्ञान सूक्त का देवता परमज्ञान है, ऋषि बृहस्पति आङ्गिरस है। बृहस्पति का अर्थ है 'बृहतां पाता पालयिता वा' अर्थात् बहुतों का रक्षक अथवा पालक। आङ्गिरस के लिए दृष्टव्य इन्द्र सूक्त। नवें मन्त्र के अतिरिक्त सब मन्त्रों में त्रिष्टुप् छन्द है। नवें में जगती छन्द है।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।।1।।

बृहस्पते। प्रथमम्। वाचः। अग्रम्। यत्। प्र। ऐरत। नामऽधेयम्। दधानाः।
यत्। एषाम्। श्रेष्ठम्। यत्। अरिप्रम्। आसीत्। प्रेणा। तत्। एषाम्। निऽहितम्। गुहा। आविः।

अन्वय— बृहस्पते वाचः प्रथमम् अग्रम यत् नामधेयं दधानाः प्रैरत। प्रेणा एषाम् गुहा यत् निहितम् तत् अरिप्रम् आविः।

सरलार्थ— हे बृहस्पति (बृहस्पते) (वह) वाणी का (वाचः) प्रथम (प्रथमम्) आरम्भ था (अग्रम्) जब (यत्) (वस्तुओं का) नामकरण (नामधेयं) करते हुए (दधानाः) वे (बालक) प्रेरित हुए (प्रैरत)। अपने प्रेम के कारण

(प्रेणा) इनके (एषाम्) अन्दर (गुहा) जो कुछ (यत्) छिपा हुआ था (निहितम्) वह (तत्) श्रेष्ठ और निर्दोष (अरिप्रम्) प्रकट हो गया (आविः)।

सायण भाष्य— बृहस्पत इत्येकादशर्च तृतीयं सूक्तम्। आङ्गिरसस्य बृहस्पतेरार्षं नवमी जगती शिष्टा दश त्रिष्टुभः। अनेन सूक्तेनर्षिः परमपुरुषार्थसाधनं परब्रह्मज्ञानं स्तुतवान्। अतस्तद्देवत्यमिदम्। उक्तं हि बृहद्देवतायाम्। सुज्योतिः परमं ब्रह्म यद्योगात्समुपाश्नुते। तज्ज्ञानमभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पति। बृ. 7.1084। इति। अनुक्रान्तं च। बृहस्पते बृहस्पतिर्ज्ञानं तुष्टाव नवमी जगती। सूक्तविनियोगो गतः देवसुवां हविःषु ब्रहस्पतिर्वाचस्पतिरित्यस्य प्रथमानुवाक्या। सूत्रितं च। बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिः। आ. 4.11। इति।

बृहस्पतिरनेन सूक्तेन विदितवेदार्थान्बालानदृष्ट्वा स्मयमानः स्वात्मानं सम्बोध्याह। हे बृहस्पतेऽन्तरात्मन् प्रथममुत्पत्त्यनन्तरमितरवागुच्चारणात्प्रागेव नामधेयं दधानाः पदार्थेषु निदाधाना बाला यत्प्रैरत प्रेरितवन्तः तद्वाचोऽग्रं भवति। यत्तत तातेत्यादिकं वाक्यं पूर्वमभिधाय पश्चादन्या वाचो वदिष्यन्ति खलु तद्वाचोऽग्रम्। अस्यां दशायामवस्थितान्बालान्पश्य। तथेदानीमेषां श्रेष्ठं प्रशस्यतमं यद्यच्चारिप्रं पापरहितं वेदार्थज्ञानमासीत् एषां तज्ज्ञानं गुहा गुहायां निहितं गोप्यं तत्प्रेणा। मकारलोपश्छान्दसः प्रेम्णाविर्भवति। वेदाभ्यासकाले सरस्वती स्वार्थमेभ्यः प्रकाशयतीत्यर्थः। एवं विस्मये बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रमित्यादिकमारण्यकमनुसन्धेयम्। ऐ. आ.1.3.5।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वाणी का प्रथम रुप बतलाया गया है। सायणाचार्य के अनुसार बृहस्पति इस सूक्त से वेदार्थ में निष्णात बालकों को देखकर स्वयं विस्मित होते हुए कह रहे हैं कि सृष्टि के पश्चात् अन्य कोई वाणी बोलने से पूर्व पदार्थों का नामकरण करते हुए बालकों ने जो कुछ भी बोला, वही वाणी का प्रथम रूप था। परन्तु तत्पश्चात् जो कुछ भी श्रेष्ठ और निर्दोष ज्ञान उनके हृदय रूपी गुहा में छिपा हुआ था उस समस्त ज्ञान को वाणी की देवी सरस्वती ने प्रेम के वशीभूत होकर उनके लिए प्रकाशित कर दिया। बृहस्पति इस बात से आश्चर्यान्वित हैं कि जो पहले अल्प ज्ञानी बालक थे वहीं अब वेद निष्णात कैसे हो गए।

सबके अन्दर ज्ञान विद्यमान तो होता है परन्तु उसे उजागर करने के लिए या तो भगवत्कृपा हो, या प्रतिभा हो या फिर परिश्रम किया जाए। इन बालकों पर सरस्वती देवी ने कृपा की और अपने निगूढ़ अर्थ को उनके लिए पूर्ण रुप

से प्रकाशित कर दिया। 'बालक, अल्प ज्ञानी का बोधक है।

प्रस्तुत मन्त्र में तैतरीय आरण्यक द्वारा प्रतिपादित मत की, कि वेदज्ञान इनके पास स्वयं आया अतः वे ऋषि कहलाए, पुष्टि की जा रही है **'तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभयानर्षत्त ऋषयोऽभंस्तुदृद्वषीणामृषित्वम्'** (तैतरीय आरण्यक 2.19)

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अभिप्राय है कि मनीषी, ज्ञानी सर्वजनहित के लिए ज्ञान का प्रचार प्रसार करते हैं। ज्ञानदान सर्वश्रेष्ठ कहा गया है **'सर्वेषामेष दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते'** (मनुस्मृति) इनके पास ज्ञान प्राप्ति के लिए जाना चाहिए **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'** (कठोपनिषद्)। जो मनुष्य वास्तव में श्रेष्ठ है, यथार्थ में मनुष्य नामधेय है वह प्रेमपूर्वक सर्वजनहित श्रेष्ठ ज्ञान जिज्ञासु शिष्य को अवश्य देता है।

टिप्पणियाँ

1. **बृहस्पते . . . . दधानाः**— प्रथम दो चरणों का अर्थ **सभी विद्वानों** ने यही किया है कि 'वाणी का प्रथम रुप वही था जब वस्तुओं का नामकरण करते हुए वे प्रेरित हुए'। 'वे' का अभिप्राय अल्पमति बालक तथा मनुष्य दोनों ही किया गया है।

परन्तु केवल प्रो. सत्यभूषण योगी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है 'हे बृहस्पति जब विशिष्ट नामधेय (नाम,यश) को धारण करने वाले (मनीषियों) ने वाणी के मुख्य (प्रथमम्) तथा उत्कृष्ट (अग्रम्) (रुप को) प्रेरित किया।

2. **प्रैरत**— प्र + √ ईर्, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन, आत्मनेपद।

3. **अरिप्रम्**— अ + रिप्र, द्वितीया विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग। 'रिप्र' का अर्थ है 'मलिनता, अपवित्रता'। यह √ रिप्-गतौ-लेपे से निष्पन्न है। इस प्रकार 'अरिप्र' का अर्थ निर्मल, निर्दोष, एवं पवित्र है।

4. **प्रेणा**— प्रियस्य भावः प्रियः। प्रिय + इमनिच् प्रत्यय, तृतीया विभक्ति एकवचन। वेद में यह प्रेम्णा का पर्याय है।

5. **प्रियः**— √ प्रीङ्-प्रीतौ अथवा प्रीञ्-तर्पणे कान्तौ वा। यहाँ प्री + क प्रत्यय, इयङ् आदेश होकर प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग मे यह रुप बना।

6. **आविः**— आ + √ अव्-रक्षणे + इस्-आविः। कुछ विद्वानों ने इसे

अव्यय माना है जिसका अर्थ है 'आँखों के सामने'।

7. **निहितम्**— नि + √धा + क्त प्रत्यय, प्रथमा, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग। **'दधातेर्हिः'** (7.4.42) से 'धा' को 'हि' आदेश हुआ।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।। 2।।

सक्तुम। इव। तितउना। पुनन्तः। यत्र। धीराः। मनसा। वाचम्। अक्रत।
अत्र। सखायः। सख्यानि। जानते। भद्रा। एषाम्। लक्ष्मीः। निःऽहिता। अधि। वाचि।

अन्वय— इव तितउना सक्तुम पुनन्तः अकृत धीराः यत्र मनसा वाचम्। अत्रा सखायः सख्यानि जानते एषाम् वाचि अधिभद्रा लक्ष्मीः निहिता।

सरलार्थ— जिस प्रकार (इव) छलनी से (तितउना) सत्तू को (सक्तुम्) शुद्ध करते हुए (पुनन्तः) प्रयोग करते हैं (अकृत) (उसी प्रकार) धीर (धीराः) जहाँ (यत्र) मनरूपी छलनी से (मनसा) वाणी को (वाचम्) (पवित्र करते हुए प्रयोग करते हैं)। वहाँ (अत्रा) सखा (सखायः) सख्यभाव को (सख्यानि) जानते हैं (जानते) इनकी (एषाम्) वाणी को (वाचम्) आधार बना कर (अधि) भद्र (भद्रा) लक्ष्मी (लक्ष्मीः) विद्यमान होती है (निहिता)।

सायण भाष्य— तितउना परिपूयतेऽनेनेति। यद्वा तता विस्तृता वसुयवा अत्रेतिम तितउना। तनोतेर्डउः सन्वच्च। उ. 3.52। इति ड उ प्रत्ययः सन्वद्भावादित्वम्। उक्तनिर्वचनेन सूर्पेण सक्तुमिव तथा कश्चित्सक्तुं दुर्धावं पुनाति तद्वत् प्रकृतितः प्रत्ययतश्च शब्दानुत्पुननतो धीरा धीमन्तो विद्वांसो यत्र यस्मिन्काले विद्वत्सङ्घे वा मनसा प्रज्ञायुक्तेन वाचमक्रत अकृषत कुर्वन्ति। करोतेर्लुङि रुपम्। अत्र तत्र काले सखयः समानख्यानाः शास्त्रादिविषयज्ञानास्ते सख्यानि तेषु भवानि ज्ञानानि जानते। जानन्ति। यद्वा सखायो वाचा बद्धसख्यास्ते तस्यास्तस्या वाचः सख्यानि जानन्ति। वाक्ययुक्तानभ्युदयाँल्लभन्त इत्यर्थः। तस्मादेषां वाचि भद्रा कल्याणी निहिता लक्ष्मीर्भवति। अधि सप्तम्यर्थद्योतकः। अर्थज्ञानं वाचि पश्याम इत्यर्थः। तितउ परिवनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा तिलमात्रतुन्नमिति वा सक्तुमिव तितउनेत्यादि निरुक्तमनुसन्धेयम्। नि. 4.10।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में पवित्र और मधुर वाणी का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सत्तू को छलनी से छान कर साफ किया जाता है और उसके बाद ही उसका प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार विद्वान् अपनी

मन रुपी छलनी से वाणी को परिष्कृत और परिमार्जित कर उसका प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि विद्वान् पहले अपने मन में भली भाँति सोच विचार करते हैं और उसके पश्चात् ही बोलते हैं। वस्तुतः मन और वाणी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि ये दोनों पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं मन इन्द्रियों का राजा है तो वाणी कर्मेन्द्रिय है तथापि मन के द्वारा सोची गई बात ही वाणी के द्वारा प्रकट की जाती है। उनका सम्बन्ध गाय और उसके नवजात बछड़े के समान है। शारीरिक दृष्टि से भिन्नता होते हुए भी उनमें मानसिक व आत्मिक तादात्म्य रहता है। तुलनीय

'मन एव वत्सस्तदिम्मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव तस्मात्समान्या रज्जवा वत्सञ्च मातरञ्चाभिदधति (शतपथब्राह्मण 11.3.1) अर्थात् मन ही उसका बछड़ा है। तो ये मन और वाणी समान ही होते हुए भिन्न से हैं। अतः बछड़े और उसकी माता को एक समान रस्सी से बांधते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् मे भी कहा गया है **'पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते'**। जो 'पहले तोलो फिर बोलो' में विश्वास करते हैं, सभी उसके मित्र बन जाते हैं। वह सबका प्रिय हो जाता है। सब उससे मित्रता करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति की वाणी में भी लक्ष्मी का निवास होता है। भर्तृहरि ने भी कहा है **'वाण्येका समलंकरोति पुरुषम्'** तथा **'सततं वाग्भूषणं भूषणम्'**। ऐसा कहा जाता है कि मूर्ख का मन वाणी में होता है तथा बुद्धिमान् की वाणी मन में होती है अर्थात मूर्ख पहले बोलता है फिर सोचता है और बुद्धिमान पहले सोचता है फिर बोलता है। लक्ष्मी के निवास का तात्पर्य है कि उसकी वाणी में अर्थज्ञान होता है।

आध्यात्मिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ है कि आत्मसंयम से आत्मिक विकास होता है और संगतिकरण से सर्वजनहितकारी कार्य किए जाते हैं। सब परस्पर मिल जुल कर 'परस्परं भावयन्तः' की भावना से युक्त हो कर कार्य करें तथा परम श्रेय को प्राप्त करें।

टिप्पणियाँ

1. **सक्तुम**- √ सच्-समवाये + तुन् प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन दुर्गाचार्य ने 'सक्तु की व्याख्या करते हुए कहा है **'सक्तुः' सचतेः 'स हि सूक्ष्मत्वात् सचति संश्लिष्यत्यङ्गे**। ततो दुर्धावो भवति इत्युपपत्तिः अर्थात सूक्ष्म (बारीक) होने के कारण सत्तू शरीर से चिपक जाता है और फिर कठिनाई से

धोया जाता है

2. तितउना— तनु-विस्तारे यहाँ उणादि सूत्र (संख्या 733) तनोतेर्डउः सन्वच्च' से 'उ' प्रत्यय आया तथा इसमें सन्वत् व्यवहार होने के कारण धातु का द्वित्व हो गया। यह तृतीया विभक्ति, एकचवन, पुल्लिङ्ग का रुप है।

दुर्गाचार्य ने इसकी निम्न व्युत्पत्तियाँ दी हैं।

(1) ततेन चर्मणा नद्धम्— जो चर्म से युक्त है।

(2) तुन्नैर्वा छिद्रैस्तद्वत्— जो छिद्रों से युक्त है।

(3) तिलमात्राणि वा तुन्नानि तस्मिन्निति— जिसमें तिल के बराबर छोटे छोटे छेद हैं। (निरुक्त 4.9)

3. अक्रत— √ कृ, आत्मनेपद, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन यहाँ वचनव्यत्यय होकर बहुवचन के स्थान पर एक वचन आया है। तथा गण्व्यत्यय होकर स्वादिगण की जगह अदादिगण का प्रयोग है।

4. जानते— √ ज्ञा, आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, बहुवचन, लट् लकार।

5. निहिता— नि + √ धा + क्त + टाप् (स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय) प्रथमा विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिंङ्ग। 'दधातेर्हिः' (7.4.42) से 'धा' के स्थान पर 'हि' आदेश हुआ।

लक्ष्मी— यह √ लष्-इच्छा करना, लग्.चिपकना अथवा √ लज्ज् प्रशंसा करना से निष्पन्न है। इसमें 'मि' प्रत्यय तथा स्त्रीलिंङ्ग का ङीप् प्रत्यय है। यह प्रथमा विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिंङ्ग का रुप है। यास्काचार्य ने इसे लाभात्, लक्षणात्, लप्स्यमानात्' वाञ्छनात् से व्युत्पन्न माना है (निरुक्त 4.10)

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते।। 3।।

यज्ञेन। वाचः। पदऽवीयम्। आयन्। ताम्। अनु। अविन्दन्। ऋषिषु। प्रऽविष्टाम्। ताम्। आऽभृत्य। वि। अदधुः। पुरुऽत्रा। ताम्। सप्तरेभाः। अभि। सम्। नवन्ते।

अन्वय— यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ताम् अनु अविन्दन्। ताम् आभृत्या पुरुत्रा व्यदधुः सप्त रेभा ताम् अभि संनवन्ते।

सरलार्थ— (धीर लोगों ने) यज्ञ के द्वारा (यज्ञेन) वाणी के (वाचः) स्थान

को (पदवीयम्) प्राप्त किया (आयन्) और ऋषियों में (ऋषिषु) प्रविष्ट (प्रविष्टाम्) उसे (ताम्) लाकर (आभृत्या) बहुत से स्थानों पर (पुरुत्रा) स्थपित किया (व्यदधुः) सात गायक (सप्त रेभा) उसकी तरफ अभिमुख होकर (ताम् अभि) उसकी स्तुति करते हैं (संनवन्ते)।

सायण भाष्य– वाग्देवत्यपशोर्वपापुरोडाशयोर्यज्ञेन वाच इत्यादिके द्वे क्रमेण याज्ये। सूत्रितं च। यज्ञेन वाचः। पदवीयमायन्निति द्वे देवीं वाचमजनयन्त देवाः। आ. 3.8। इति।

विदितार्था धीराः पदवीयम्। वेतेरचो यत्। सञ्ज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद गुणाभावः। पदेन यातव्यः पन्थाः पदवीयः। तं वाचो मार्गं यज्ञेनायन्। प्राप्तवन्तः। ऋषिष्वतीन्द्रियार्थदर्शिषु प्रविष्टां तां वाचमविन्दन। अलभन्त। अनन्तरं तां वाचमाभृत्याहृत्य पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुः। व्यकार्षुः। सर्वान्मनुष्यानध्यापयामासुरित्यर्थः। एतादृशीं वाचं रेभाः शब्दायमानाः पक्षिणः पक्षिरुपाणि गायत्र्यादीनि सप्तच्छन्दांस्यकभि सं नवन्ते। अभितः सङ्गच्छन्ते।

स्पष्टीकरण– प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि यज्ञ द्वारा ही वाणी को प्राप्त किया जा सकता है। आत्मसंयम से आत्मिक विकास और संगतिकरण से जो सर्वजन हितकारी कार्य किए जाते है वह सब यज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्रात्मक यज्ञ भी सर्वजनहित के लिए ही होता है अतः बुद्धिमानों ने आत्मसंयम और परहित के द्वारा वाणी को प्राप्त किया। उन्होंने वाणी को ऋषियों में प्रविष्ट हुई प्राप्त किया क्योंकि ऋषि ही वेदमन्त्रों के दृष्टा थे। ऋषि की व्युत्पत्ति देते हुए यास्काचार्य ने कहा है कि ऋषि √ ऋष्–गतौ अथवा √ ऋष्–दर्शने से निष्पन्न है क्योंकि वेद ज्ञान या तो स्वयं इनके पास आया अथवा इन्होंने वेद मन्त्रों का दर्शन किया **'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः'**। **ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः**। **दुर्गाचार्य** ने भी इस की पुष्टि करते हुए कहा है **'पश्यत्यसौ सूक्ष्मानप्यर्थान्' 'स्तोमान् ददर्श'**। **दुर्गाचार्य** ने पुनः कहा कि तपस्या करने वाले इनके पास ऋग्यजुसाम नामक वेद स्वयं आए। अध्ययन किए बिना भी तपोबल से उन्होंने तत्त्वतः इन्हें देखा **'यद् यस्मादेनांस्तपस्यमानांस्तप्यमानान् ब्रह्मऋग्यजुः सामाख्यं स्वयंभु अकृतकम् आगच्छत्। अनधीतमेव तत्त्वतो ददृशुस्तपो विशेषेण'**।

उन ऋषियों से वेदमन्त्रों को लाकर बुद्धिमान् मनुष्यों ने उन्हें बहुत से जिज्ञासुओं को पढ़ाया ताकि ऋषियों से प्राप्त इस यथार्थ ज्ञान का प्रचार प्रसार हो सके। सात गायकों ने उस वाणी की स्तुति की। इसके निम्न अर्थ हो सकते

है-

(1) वेद में सात छन्द है। इन सात छन्दों में ही समस्त वैदिक मन्त्रों की रचना हुई है।

(2) संगीत के सात स्वर हैं और वैदिक मन्त्र भी संगीतमय हैं।

(3) मनुष्य शरीर में सात ऋषि-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं जिनके द्वारा हमारी जीवन रुपी यात्रा सम्पन्न होती है।

सायण ने अन्तिम चरण का अर्थ किया है कि शब्द करते हुए पक्षी रुप गायत्री आदि छन्द इस वाणी को सब ओर ले जाते हैं अथवा गायत्री आदि छन्द इस वाणी में समाहित हैं जबकि **सातवलेकर** ने अर्थ किया 'उस वाणी को उन्होंनें गायत्र्यादि छन्दों में स्तुति रुप किया'।

टिप्पणियाँ

1. **आभृत्या**— आ + √ हृ+ल्यप्। यहाँ **'हृग्रहोर्भश्छन्दसि'** वार्तिक से हृ के स्थान पर भ् आदेश हो गया तथा वेद में ल्यप् का अन्तिम 'अ' दीर्घ हो गया।

2. **पदवीयम्**— **'पदेन यातव्य पन्थाः पदवीयः'**। पैर द्वारा जाया जाने योग्य मार्ग पदवीयम् है पद् + √ वा-गतिसन्धौ + 'छ' प्रत्यय से 'ईय' आदेश हुआ। यह द्वितीया विभक्ति, एक वचन, नपुसंकलिङ् का रुप है।

3. **सं नवन्ते**— सम् + √ नु-स्तुतौ, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।। 4।।

उत। त्वः। पश्यन्। न। ददर्श। वाचम्। उत। त्वः। शृण्वन्। न। शृणोति। एनाम्। उतो इति। त्वस्मै। तन्वम्। वि। सस्रे। जायाऽइव। पत्ये। उशती। सुऽवासाः।

अन्वय— त्वः वाचम् पश्यन् न ददर्श उत त्वः शृण्वन् एनाम् न शृणोति। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे इव उशती सुवासाः जाया पत्ये।

सरलार्थ— एक व्यक्ति (त्वः) वाणी को (वाचम्) देखता हुआ (पश्यन्) (भी) नहीं (न) देखता (ददर्श) और (उत) एक व्यक्ति (त्वः) सुनता हुआ (शृण्वन्) (भी) इसे (एनाम्) नहीं (न) सुनता (शृणोति)। और (उतो) किसी अन्य व्यक्ति के लिए (त्वस्मै) (अपने) शरीर को (तन्वम्) प्रकाशित कर देती

है (विसस्त्रे) जिस प्रकार (इव) सम्भोग की इच्छुक (उशती) सुन्दर वस्त्रों से युक्त (सुवासाः) पत्नी (जाया) पति के लिए (पत्ये) (अपने शरीर को विवृत कर देती है)

सायण भाष्य— त्वशब्द एकवाची। एकः। उतशब्दोऽप्यर्थे। पश्यन्नपि मनसा पर्यालोचयन्नपि वाचं न ददर्श। दर्शनफलाभावान्न पश्यति। त्व एकः शृण्वन्नप्येनां वाचं न शृणोति श्रवणफलाभावात्। इत्यनेनार्धेनाविद्वानभिहितः। तृतीयपादेन विदितवेदार्थमाह। त्वस्मा एकस्मा अपि तन्वमात्मीयं शरीरं वि सस्त्रे। स्वयं वाग्विविधं गमयति। आत्मानं विवृणुते प्रकाशयतीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। जायेव यथोशती सम्भोगं कामयमाना सुवासाः शोभनवसना जाया पत्ये भर्त्रे ऋतुकाले सम्भोगार्थं स्वयमात्मानं विवृणुते। तद्वदेनां पश्यति शृणोति चेति विदितवेदार्थस्य प्रशंसा। अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमित्यादि निरुक्तमत्र द्रष्टव्यम्। नि. 1.19।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि कोई मनुष्य मन से सोच विचार करने पर भी वाणी को नहीं देखता क्योंकि वह उसके दर्शन रुप फल अर्थात् अर्थ को नहीं समझ पाता। जब तक वाणी का वास्तविक अर्थ न समझा जाए तब तक वाणी देखी जाने पर भी न देखी जाने के समान है। इसी प्रकार एक दूसरा व्यक्ति वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुन पाता क्योंकि वह नितान्त मूढ़ है। इस प्रकार प्रथम दो चरणों में अविद्वान् का वर्णन किया गया है। परन्तु तीसरे में अर्थज्ञ की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वाणी के गूढार्थ को समझ लेता है उसके लिए वाणी स्वयं ही स्वयं को पूरी तरह से प्रकट कर देती है। शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि वाणी और अर्थ दोनों परस्पराश्रित, अन्योन्याश्रित व एक दूसरे के पूरक हैं। अर्थ के बिना वाणी निरर्थक है और वाणी के बिना अर्थ अर्थहीन है। इसी निहित गूढ़ार्थ को समझकार **कालिदास** ने जगत के माता पिता शिव और पार्वती को वाक् और अर्थ के समान संपृक्त बतलाया है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। रधुवंश 1.1)

इसी कारण एक शब्द का सम्यक् प्रयोग दोनों लोकों में कामधेनु के समान बतलाया गया है। **वृत्रासुर का नाश एक छोटे से स्वरभ्रष्ट वेदपाठ के कारण इष्ट के स्थान पर अनिष्ट हो जाने का ज्वलन्त उदाहरण है।** इस कारण वाणी का अर्थ जानना परमावश्यक है।

टिप्पणियाँ

त्वः— 'त्वः' का अर्थ है 'एक'। यह केवल वेद में ही प्राप्त होता है। सायण ने अपने भाष्य में कहा है 'त्वशब्द एकवाची'। वेद में प्राप्त होने वाले अन्य रुप त्वं 'त्वेन' त्वस्मै आदि हैं। 'त्वः' में प्रथम विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग है।

ददर्श— √ दृश्— दर्शने, लिट् लकार, प्रथम, पुरुष, एकवचन।

यहाँ 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' से लट् लकार के अर्थ में लिट् का प्रयोग है।

विसस्रे— वि + √ सृ— गतौ, लिट् लकार, आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, एक वचन। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' से लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार का प्रयोग हुआ है।

उशती— √ वश्— कान्तौ + शतृ प्रत्यय + ङीप्। सम्प्रसारण होकर 'उशती' रुप बना। यह प्रथमा विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिङ्ग का रुप है।

उ॒त त्वं॑ स॒ख्ये स्थि॒रपी॑तमाहु॒र्नैनं॑ हिन्व॒न्त्यपि॒ वाजि॑नेषु।
अधे॑न्वा चरति मा॒यया॒ैष वाचं॑ शुश्रु॒वाँ अ॑फ॒लाम॑पु॒ष्पाम्॥ 5॥

उ॒त। त्वम्। स॒ख्ये। स्थि॒रऽपी॑तम्। आ॒हुः। न। ए॒न॒म्। हि॒न्व॒न्ति॒। अपि। वाजि॑नेषु। अधे॑न्वा। च॒र॒ति॒। मा॒यया॑। ए॒षः। वाच॑म्। शु॒श्रु॒ऽवान्। अ॒फ॒लाम्। अ॒पु॒ष्पाम्॥

सरलार्थ— और (उत) एक को (त्वम्) जो विद्वानों की सभा में (सख्ये) स्थिरपीत है (स्थिरपीतम्) ऐसा कहा जाता है (आहुः) (कि) वाक्प्रतिस्पर्धाओं में (वाजिनेषु) भी (अपि) उस तक (एनम्) (अन्य) नहीं (न) पहुँचते (हिन्वन्ति)। (प्रयोजन को सिद्ध न करने वाली वाणी का प्रयोग करने वाला) यह (एषः) दूध न देने वाली गाय के समान (अधेन्वा) माया से युक्त हुआ (मायया) फल और फूलों से रहित (अफलामपुष्पाम्) वाणी को (वाचम्) सुनता हुआ (शुश्रुवान्) घूमता रहता है (चरति)।

सायण भाष्य— त्वमुतैकमपि सख्ये विदुषां संसदि। या सत्कथा सा सखिकर्मत्वात् सख्यमित्युच्यते। सा च वाचा क्रियते। अतो वाक्यसम्बन्धद्वाक्ये स्थिरपीतं मधु यस्य हृदये स्थितं भवति। यद्वा। स्थिरपीतं स्थिरप्राप्तिमाहुः। यद्वा। तस्मिञ्ज्ञातार्थमाहुः। लोके यथा ज्ञातार्थं पुरुषं पीतार्थमिति वदन्ति। किञ्चैनं

विज्ञातार्थं पुरुषं वाजिनेषु। वगिनेश्वरा येषां ते वाजिना अर्थ वाच आयत्ताः खलु। वाग्ज्ञेयेष्वर्थेषु नापि हिन्वन्ति। अपिशब्दोऽन्यर्थे। केचिदपि नानुगच्छन्ति। अयमेवातिशयेन विद्वानित्यर्थः। यद्वा। वाजिनेषु सारभूतेषु निरूपणीयेष्वर्थेष्वेनं न हिन्वन्ति। न बहिःकुर्वन्ति। एनं पुरस्कृत्यैव सर्वं वेदार्थं विचारयन्तीत्यर्थः। इत्यर्थज्ञः प्रशस्तः। अनन्तरमुत्तरार्धेन केवलपाठको निन्द्यते। एषोऽविज्ञातार्थः पुरुषोऽधेन्वा धेनुत्वविवर्जितया कामानामदोग्धया देवमनुष्यस्थानेषु वाक्प्रतिरूपया मायया चरति। किं कुर्वन्। अफलामपुष्पाम्। वाचोऽर्थः पुष्पफलम्।। अर्थवर्जिताम्। यद्वा वाचोऽर्थोयाज्ञदैवते। यज्ञे भवं ज्ञानं याज्ञंदेवतासु भवं ज्ञानं याज्ञं देवतासु भवं ज्ञानं दैवतम्। तद्वर्जितां कर्मादिविषयज्ञानवर्जितां वाचं शुश्रुवाञ्श्रुतवान्। केवलं पाठमात्रेणैव श्रुतवान्स चरति। यथा बन्ध्या पीना गौः किं द्रोणमात्रं क्षीरं दोग्धीति मायामुत्पादयन्ती चरति यथा बन्ध्यो वृक्षोऽकाले पल्लवादियुक्तः सन्पुष्पयति फलतीति भ्रान्तिमुत्पादयंस्तिष्ठति तथा पाठं प्रब्रुवाणश्चरतीत्यर्थः। अप्येक वाक्सख्यं स्थिरपीतमित्यादि निरुक्तमनुसंधेयम्। नि. 1.20।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वाणी के अर्थ को जानने वाले की भूरि भूरि प्रशंसा है तो उत्तरार्द्ध में वाणी के अर्थ को न जानने वाले की दुर्गति और दुर्दशा का वर्णन है। जो विद्वान् वाणी के निगूढ और वास्तविक अर्थ को समझकर उसे अपने हृदय में स्थिरतापूर्वक स्थिर कर लेता है तो अन्य कोई भी विद्वान उस का सामना नहीं कर पाता। वाक् प्रतियोगिताओं में भी उसके सामने कोई टिक नहीं पाता। प्रत्येक क्षेत्र में अप्रतिम योद्धा के समान विजयश्री प्राप्त करता है।

परन्तु इसके विपरीत जो वाणी का अर्थ नहीं जानता उसकी वाणी पूर्ण रुप से निरर्थक व निष्प्रयोजन होती है। फल फूलों से रहित ऐसी वाणी का प्रयोग करता हुआ, माया से भ्रमित अर्थात् अज्ञान से वशीभूत वह दूध न देने वाली गाय के समान इधर उधर भटकता रहता है। सायण ने कर्मादिविषयज्ञानरहित वाणी को माया कहा है। ऐसा वृक्ष जो फल फूल से रहित है और ऐसी गाय जो दूध देने में असमर्थ है ये दोनों होने पर भी न होने के समान हैं। इसी प्रकार अर्थ न जानने वाला परन्तु वाणी का प्रयोग करने वाला किसी भी प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता।

।।6।।

किसी भी विद्या की सार्थकता चार बातों पर निर्भर करती है— अधीती, बोध, प्रयोग और प्रचार। सर्वप्रथम उसे पढ़ा जाए, फिर समझा जाए फिर उस का

प्रयोग किया जाए अर्थात् वह हमारे मस्तिष्क में इस प्रकार स्थित हो जाए कि भविष्य में आवश्यकतानुसार उस का प्रयोग किया जा सके। और अन्त में दूसरों को उसका उपदेश देकर उसका प्रचार प्रसार किया जाए। किसी एक गुण का भी अभाव होने पर वह विद्या गधे द्वारा भार वहन करने के समान भारस्वरुप ही हो जाती है। **यह तभी सम्भव है जब पढ़ी हुई विद्या का अर्थ दर्पण पर प्रतिबिम्ब के समान एकदम स्पष्ट हो।**

विद्या धन ही ऐसा धन है जो देने से उत्तरोत्तर बढ़ता ही है। अर्थ को सम्यक् समझने वाला व्यक्ति वाद विवादों, वार्तालापों, शास्त्रार्थों आदि में कहीं भी पराजित नहीं होता।

टिप्पणियाँ

1. **स्थिरपीतम्— स्थिरं सम्यक्तया पीतं ज्ञातम् अर्थं येन सः तम्'** अर्थात जिसके द्वारा ज्ञान सम्यक् रुप से प्राप्त कर लिया गया है। यहाँ स्थित + √पा— पाने + क्त प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग का रुप है।

सायणाचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं (1) **मधु यस्य हृदये स्थिरं भवति'** अर्थात ज्ञान रुपी मधु जिसके हृदय में विद्यमान है (2) **तस्मिन् ज्ञातार्थम् आहुः**— अर्थात् जिसे पूर्ण ज्ञान है ऐसे ज्ञाता को कोई भी पीछे नहीं कर सकता क्योंकि यही अतिशय विद्वान् होता है और इसे ही आगे करके वेदार्थ का विचार करते हैं।

वाजिनेषु— सायण ने इसका अर्थ **वाग्प्रतिस्पर्धा** किया है— 'वागिनेश्वरा येषां ते वाजिना अर्था वाच आयत्ता खलु। वाग्ज्ञेयेष्वर्थेषु नापि हिन्वन्ति।

सातवलेकर ने अर्थ किया है— **'वाणी का सामर्थ्य प्रकट करने में'** मोनियर **विलियम्स** ने इसका अर्थ दौड़, प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा किया है।

मैक्समूलर ने वाज का सम्बन्ध 'वेजिओ' 'विजिओर' और 'विजिल' से माना है जिनका अर्थ है 'घुडदौड़ से प्राप्त धन' परन्तु बाद में हर प्रकार का धन 'वाज' कहा जाने लगा।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।। 6।।

यः। तित्याज। सचिऽविदम्। सखायम्। न। तस्य। वाचि। अपि। भागः। अस्ति।

यत्। ईम्। शृणोति। अलकम्। शृणोति। न। हि। प्रऽवेद। सुऽकृतस्य। पन्थाम्।

अन्वय— यः सचिविदं सखायम् तित्याज तस्य वाचि अपि भागः न अस्ति। यत् ईम शृणोति अलकं शृणोति हि सुकृतस्य पन्थां न प्रवेद।

सरलार्थ— जो (यः) घनिष्ठता को जानने वाले (सचिविदम्) सखा को (सखायम्) छोड़ देता है (तित्याज) उसकी (तस्य) वाणी में (वाचि) भी (अपि) कोई भाग (भागः) नहीं (न) होता (अस्ति)। जो कुछ भी (यत् ईम्) (यह) सुनता है (शृणोति) झूठ (अलकम्) सुनता है (शृणोति) क्योंकि (हि) सुकृत के (सुकृतस्य) मार्ग को (पन्थाम्) नहीं (न) जानता (प्रवेद)।

सायण भाष्य— सचिविदं। सचिशब्दः सखिवाची सखिविदम्। योऽध्येता स वेदस्य सखा सम्प्रदायोच्छेदनिवारकत्वेन वेदंप्रत्युपकारित्वात्। तादृशमुपकारिणम ध्येतारं वेत्तीति सचिवित्। तमभिज्ञं सखायमध्येतृणां पुरुषाणां स्वार्थ बोधनेनोपकारित्वात्सखिभूतं वेद यः पुमांस्तित्याज परार्थविनियोगेन परित्यजति। त्यजतेर्लिट्यपस्पृधेथामानृचुरित्यादिना निपातितः तस्य पुरुषस्य वाचि सर्वस्यां लौकिकायां शास्त्रीयायां वाच्यपि भागो भजनीयः कश्चिदर्थो नास्ति। ईमयं पुरुषो यद्वेदव्यतिरिक्तं शृणोति तदलकमलीकं व्यर्थमेव शृणेति। हि यस्मात्कारणत्सुकृतस्य पन्थां पन्थानं न प्रवेद श्रद्धाराहित्यादनुष्ठानमार्गं न जानाति। तस्मात्तदीयश्रवणमपि निष्फलमित्यर्थः। द्वितीयचतुर्थपादयोरभिप्राय आरण्यके दर्शितो न तस्यानूक्तं भागोऽस्तीत्यादिना। ऐ. आ. 3.2.4। तथा तंसोऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता। तै.आ. 2.15.5। इत्यध्वर्युभिश्च।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मंत्र में मनुष्य का हित इसी में बतलाया गया है कि उसका कोई अन्तरंग घनिष्ठ मित्र हो अन्यथा वह लौकिक व्यवहारों को और सृष्टि के निगूढ़ अर्थों को नहीं समझ पाएगा। ताप्तर्य यह है कि मनुष्य अपने घनिष्ठ मित्रों से ही विविध विषयों पर बातचीत करता है, उनकी अच्छाइयों और बुराईयों का विवेचन करता है, अपना सुख दुःख उनसे बाँटता है, विचारों का आदान प्रदान करता है। परिणामस्वरुप उसे बहुविध ज्ञान हो जाता है। कितने ही उन विषयों की भी पूर्ण जानकारी हो जाती है जिनके विषय में उसे कुछ पता ही नहीं था। सखा का अर्थ ही है— **समानं ख्यानं ज्ञानम् यस्य इति** अर्थात जिनका समान ज्ञान है। मित्रों की सङ्गति में ही मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। अतः सबके लिए मित्र का होना परमावश्यक है। उनके बिना तो धन का आनन्द भी मनुष्य प्राप्त नहीं कर पाता—

सन्तापे तारेशानां गेहोत्सवे सुखायमानानाम्।
हृदयस्थितानां मित्राणां विरहे विभवा दूनयन्ति।। (मुद्राराक्षस)

अर्थात् दुःख में चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करने वाले, घर के उत्सवों में सुख देने वाले, हृदय में स्थित मित्रों के विरह में धन भी दुःखी करते हैं।

यह ठीक उसी प्रकार है कि आपके पास सौ का नोट तो है परन्तु साथ में कैन्टीन जाने के लिए कोई मित्र नहीं है तो साधन होने पर भी आप सुख से, आनन्द से वञ्चित रह गए। अतः मित्र का होना परम आवश्यक है।

जो मनुष्य अपने घनिष्ठ मित्र को छोड़ देता है उसकी वाणी में भी ग्रहणीय अथवा भजनीय कोई भी अर्थ नही रह जाता। इसके दो अभिप्राय हो सकते है

(1) मित्र का अर्थ व महत्त्व भली प्रकार समझते बूझते हुए भी यदि वह अपने मित्र को छोड़ देता है तो उसकी कथनी और करनी में विरोध हो जाता है और ऐसा होने पर कोई भी उसकी बात का विश्वास नहीं करता।

(2) जब उसने मित्र को ही छोड़ दिया तो उसका अपना ज्ञान क्षेत्र सीमित हो जाता है। उसकी तर्क वितर्क, वाद विवाद अच्छे बुरे का विवेचन आदि करने की सब शक्तियों का क्रमशः ह्रास हो जाता है। उसकी वाणी में कोई वैशिष्ट्य नहीं रह जाता।

ऐसे व्यक्ति द्वारा कही गई बात तो प्रयोजन रहित और अर्थहीन होती ही है बल्कि वह जो कुछ सुनता है वह भी उसके लिए व्यर्थ होता है क्योंकि वह तो पहले ही सुकृत के मार्ग से विमुख हो गया है तो अब उसे समझ कहाँ आएगी।

प्रो. योगी ने इस बात को स्वीकार किया है कि ज्ञानी मित्रों का सङ्ग करना चाहिए, उनके साथ घनिष्ठता भी स्थापित करनी चाहिए परन्तु ज्ञान की दृष्टि से वेद सर्वाधिक अन्तरङ्ग मित्र हैं क्योंकि वे सर्वज्ञानमय हैं। वेद का स्वाध्याय करने वाला सदा ही महाज्ञानी मित्र के साथ रहता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि या तो ज्ञानी घनिष्ठ मित्रों का साथ करना चाहिए अन्यथा स्वयं को स्वाध्याय में व्यस्त रखना चाहिए।

टिप्पणियाँ

1. **तित्याज**— √ त्यज्— त्यागे, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन यहाँ 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' से लट् लकार के अर्थ में लिट् का प्रयोग है।

2. **भागः**— √ भज्— सेवायाम् + घञ् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन

पुल्लिङ्ग।

3. **अलकम्**— सायण, वेंकट माधव तथा सातवलेकर ने इसका अर्थ 'अलीकम' अर्थात व्यर्थ ही किया है जबकि उद्गीथ ने इसका अर्थ 'कुत्सित' भी किया है।

4. **सचिविदम्**— √ षच्— समवाये, सेवने। ष् का स् होकर सच् + इ + विद् + अ— सचिविद, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

5. **सुकृतस्य**— सु + √ कृ + क्त, षष्ठी विभक्ति एकवचन, नपुसंकलिङ्ग।

6. **सखायः**— समानं ख्यानं ज्ञानं येषामिति सखायः।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदध्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे॥ 7॥

अक्षण्ऽवन्तः। कर्णऽवन्तः। सखायः। मनःऽजवेषु। असमाः। बभूवुः।
आदध्नासः। उपऽकक्षासः। ऊँ इति। त्वे। ह्रदाःऽइव। स्नात्वा। ऊँ इति। त्वे। ददृशे।

अन्वय— अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः मनोजवेषु असमाः बभूवुः। उत्वे आदध्नासः त्वे उपकक्षासः ह्रदा स्नात्वा इव ददृशे।

सरलार्थ— (समान) आँखों (अक्षण्वन्तः) (और) कानों से युक्त (कर्णवन्तः) मित्र (सखायः) मन की गतियों में (मनोजवेषु) एक जैसे नहीं (असमाः) होते (बभूवुः)। कुछ (त्वे) मुख तक जल वाले (आदध्नासः) और (उत) कुछ (त्वे) कमर तक जल वाले (उपकक्षासः) सरोवरों के (ह्रदाः) समान (इव) स्नान किए जाने योग्य (स्नात्वा) दिखाई देते हैं (ददृशे)।

सायण भाष्य— अक्षण्वन्तोऽक्षिमन्तः छन्दस्यपि दृश्यत इत्यक्षिशब्दादनङ्। अनो नुडिति नुट्। अक्षेन दृश्यते सर्वमित्यक्षि। यद्वा। तैजसत्वादन्येभ्योऽङ्गेभ्यो व्यक्ततरं तथा च श्रूयते। तस्मादेते व्यक्ततरे इवेति। तादृशाक्षियुक्ताः कर्णवन्तः। कर्णौ निकृत्तद्वारः। गर्भावस्थायामेव केनापि निर्मितविल इत्यर्थः। यद्वा। शरीरस्य शिरसो वोर्ध्वं गते उच्चैः स्थिते। कर्णविलक्षणाकाशवन्तः। तथा चाम्नायते। ऋच्छन्ती इव खे उदगन्तामिति। तादृशाः सखायः। समानं ख्यानं ज्ञानं येषामिति सखयः। तेषु वाक्येषु बाह्येष्विन्द्रियेषु समानज्ञाना इत्यर्थः। ते मनोजवेषु। मनसा गम्यन्ते ज्ञायन्त इति मनोजवाः प्रज्ञाद्याः। तेष्वसमा अतुल्या बभूवुः। भवन्ति। तेषु मध्ये केचिदा-दध्नासः। आस्यशब्दस्य पृषोदरादित्वादाकारादेशः। आस्यदध्ना आस्यप्रमाणोदका ह्रदा इव। अल्पोदका इत्यर्थः। अनेनाल्पप्रज्ञानाह। तथा त्व एके स्नात्वाः। स्नातेः

कृत्यार्थे त्वन्प्रत्ययः। पा.3.4.14। स चार्हे कृत्यतृचश्च। पा.3.3.169। इत्यर्हार्थे च भवति। स्नानार्हा अक्षोभ्योदका ह्रदा इव ददृश्रे। दृश्यन्ते। अनेन महाप्रज्ञानाह। उः पूरणः। अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायोऽक्षिचष्टेरित्यादिकं निरुक्तमत्र द्रष्टव्यम्। नि. 1.9।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि यद्यपि सभी व्यक्ति वाह्य इन्द्रियों आँख, कान इत्यादि में समान होते हैं तथापि मन की गति अर्थात् प्रज्ञा और बुद्धि में समान नहीं होते। वाणी के निगूढार्थ को समझने वालों की मन की गति तेज हो जाती है अर्थात् वे कुशाग्र बुद्धि हो जाते हैं परन्तु वाणी के निहित और वास्तविक अर्थ को न समझ पाने वाले अल्पबुद्धि हो जाते हैं।

कुछ व्यक्ति उन सरोवरों के समान होते हैं जिन का जल मुख तक तो आता है परन्तु उनमें डुबकी नहीं लगाई जा सकती। ऐसे व्यक्ति मध्यम अर्थात् सामान्य ज्ञान वाले होते हैं। कुछ दूसरे ऐसे सरोवरों के समान होते हैं जिनमें बहुत कम जल होता है। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त अल्पज्ञ होते हैं। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति उन सरोवरों के समान होते हैं जिनमें पर्याप्त जल होता है और जिनमें डुबकी लगा कर स्नान किया जा सकता है। ऐसे व्यक्ति महाज्ञानी होते हैं। सावधानीपूर्वक गवेषणा ओर परीक्षा करके महाज्ञानियों के पास ही जाना चहिए।

यहाँ सामान्य ज्ञान वाले व्यक्तियों की समानता मुख तक जल वाले सरोवरों से की गई है जिनमें डुबकी लगा कर स्नान करना सम्भव नहीं है। सम्भवतः इसका तात्पर्य यह हो कि सामान्य ज्ञान वाले ही अपना ज्ञान प्रदर्शन करने की इच्छा से अत्यधिक बढ़ चढ़ कर बोलते हैं। इसके विपरीत ज्ञानियों का तो लक्षण ही **'ज्ञाने मौनं'** है।

टिप्पणियाँ

अक्षण्वन्तः— अक्षि + मतुप्। यहाँ **'छन्दस्यपि दृश्यते'** से अक्षि को अनङ् आदेश हुआ तथा **'मादुपधयाश्च'** (8.2.9) से 'म' को 'व्' आदेश हुआ। अक्षण्वन्तः प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग है।

सायण ने अक्षि की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी है—

(1) अनेन दृश्यते सर्वमित्यक्षि इसके द्वारा सब कुछ देखा जाता है।

(2) तैजसत्वादन्येभ्योऽङ्गेभ्यो व्यक्ततरम् तथा च श्रूयते तस्मादेते व्यक्ततरे अथवा तेज के कारण अन्य अङ्गो से अधिक व्यक्त हैं।

कर्णवन्तः— कर्ण + मतुप्, प्रथमा विभिक्त, बहुवचन, पुल्लिङ्ग 'मादुपधायाश्च' (8.2.9) सूत्र से 'म्' के स्थान पर 'व्' आदेश हुआ।

असमाः— नञ् + सम् + अच्, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन पुल्लिङ्ग।

आध्नासः— **आस्यदध्नासः अर्थात् आस्यप्रमाणोदकाः** 'मुँह तक जल वाले, पृषोदरादि होने के कारण आस्य का 'आकार' आदेश हो गया। पुनः आदध्नाः रुप होना चाहिए था परन्तु **'आज्जसेरसुक्'** से असुक् आदेश हो गया।

उपकक्षासः— **सायण ने अर्थ किया है 'कक्षप्रमाणोदकाः'** प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ **'उपकक्षाः'** रुप होना चाहिए था परन्तु **'आज्जसेरसुक्** से असुक् का आगम हो गया।

स्नात्वाः— स्ना में **'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः**,(3.4.14) से 'त्वन्' प्रत्यय अहार्थ अर्थात् समर्थ होना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ

बभूवुः, ददृशे— यहाँ क्रमशः √भू और √दृश् धातुएँ है। लिट् लकार प्रथम पुरुष, बहुवन है दोनों में 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' से लट् के अर्थ में लिट् का प्रयोग हुआ है।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे।। 8।।

हृदा। तष्टेषु। मनसः। जवेषु। यत्। ब्राह्मणाः। समऽयजन्ते। सखायः।
अत्र। अह। त्वम्। वि। जहुः। वेद्याभिः। ओहऽब्रह्माणः। वि। चरन्ति। ऊँ इति। त्वे।

अन्वय— हृदा तष्टेषु मनसः जवेषु यद् सखायः ब्राह्मणाः संयजन्ते। अत्र त्वम् वेद्याभिः विजहुः त्वे ओहब्रह्माणः उ विचरन्ति।

सरलार्थ— हृदय द्वारा (हृदा) परिकल्पित (तष्टेषु) मन की (मनसः) गतियों में (जवेषु) जब (यद्) समान ज्ञान वाले (सखायः) ब्राह्मण (ब्राह्मणाः) यज्ञ करते हैं (संयजन्ते) (तब) यहाँ (अत्र) अर्थात् ब्राह्मण समूह में एक को (त्वम्) वेदितव्य विद्याओं द्वारा (वेद्याभिः) पीछे छोड़ देते हैं (विजहुः) कुछ ऐसे होते हैं (त्वे) (जो) ब्रह्मविषयक तर्क वितर्क कर सकते हैं (ओहब्रह्माणः) (वे) निस्सन्देह (उ)विशेष गति से युक्त होते है। (विचरन्ति)

सायण भाष्य— सखायः समानख्याना ब्राह्मणा हृदा बुद्धिमतां हृदयेन तष्टेषु निश्चितेषु परिकल्पितेषु मनसो जवेषु गन्तव्येषु वेदार्थेषु गुणदोषनिरूपणा यद्यदा

संयजन्ते सङ्गच्छन्ते। यजिरत्र सङ्गतिकरणवाची। अत्रास्मिन्ब्राह्मणसङ्घे त्वमविज्ञातार्थमेकं पुरुषं वेद्याभिर्वेदितव्याभिर्विद्याभिः प्रवृत्तिभिर्वा वि जहुः। विशेषेण परित्यजन्ति। अहेति विनिश्चते। ओहब्रह्माणः। उह्यमान ब्रह्मविद्याश्रुतिमतिबुद्धिलक्षणे येषां ते तथोक्ताः। तादृशास्त एके विद्वांसो वि चरन्ति। यथाकामं वेदार्थेषु विनिश्चयार्थं प्रवर्तन्ते। उः प्रसिद्धौ। हृदा तष्टेषु मनसा प्रजवेष्वित्यादिकं निरुक्तं द्रष्टव्यम्।। नि. 13.13।।

स्पष्टीकरण— इससे पूर्व मन्त्र में इस बात पर बल दिया गया था कि बाह्य इन्द्रियों से समान होने पर भी सभी ब्राह्मण अर्थात् विद्वान् ज्ञान के स्तर पर समान नहीं होते। उसी शृंखला को आगे बढ़ाते हुए प्रस्तुत मंत्र में कहा गया है कि हृदय से सूक्ष्म आध्यात्मिक विषयों पर दृढ़ निश्चय कर, मन से सोच विचार कर सभी ब्राह्मण यज्ञ करने में प्रवृत होते हैं। **यज्ञ का अर्थ यहाँ समस्त कर्म काण्ड और ज्ञान काण्ड से है।** परन्तु उनमें से एक ब्राह्मण उन सब से बहुत पीछे रह जाता है क्योंकि उसका ज्ञान स्तर अन्य की अपेक्षा कम है जबकि दूसरा ब्राह्मण अन्य सबसे आगे निकल जाता है क्योंकि उसके ज्ञान का स्तर अन्य सबसे अधिक है। ज्ञान का स्तर कम अथवा अधिक होना वाणी के वास्तविक गूढ अर्थ को समझने पर निर्भर करता है।

हृदय का कार्य है अनुभूति जब कि मन का कार्य है मनन। मनन तभी वेगवान् होता है जब वह अनुभूति से युक्त हो। तुलनीय ऋग्वेद—

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हि हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा (10.129.4)

अर्थात् हृदय में जिज्ञासा कर मनीषियों ने अपने चिन्तन से सत् का सम्बन्ध असत् में ढूँढ लिया। इससे स्पष्ट है कि किसी भी कार्य के लिए विशेष रुप से ज्ञानयुक्त कार्य के लिए हृदय और मन दोनों की ही आवश्यकता होती है। मनन और अनुभूति से युक्त ब्रह्मवेत्ता सब कार्यों को भली भाँति करते हैं। उनका ज्ञान भी गम्भीर होता है। ऐसे विद्वान **'ओहब्राह्मण'** कहे जाते हैं। इनकी तर्क वितर्क करने की शक्ति भी तीव्र होती है। **तर्क वितर्क युक्त ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है** क्योंकि इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं रहता। इसी कारण मनु ने भी कहा है— **'यस्तर्केणानुसन्धते स धर्मं वेद नेतरः।** तर्क वही व्यक्ति कर सकता है जो वाणी के सच्चे' वास्तविक और गूढ अर्थ को समझ लेता है, हृदय में स्थिर कर लेता है और उपयुक्त अवसर पर इसका प्रयोग कर अन्य विद्वानों से अधिक श्रेष्ठ भी हो जाता है।

टिप्पणियाँ

तष्टेषु— √ तक्ष्— तनूकरणे + क्तप्रत्यय, सप्तमी विभक्ति बहुवचन, पुल्लिङ्ग। सायण, वेंकट माधव, उद्गीथ ने अर्थ किया 'हृदय के द्वारा निश्चित'। सातवलेकर ने अर्थ किया 'हृदय से अच्छी प्रकार वेदार्थ के गुण दोष के निरूपण परीक्षण के लिए।' दुर्गाचार्य ने अर्थ किया 'सूक्ष्मतामापादितेषु अचिन्त्याध्यात्मादिषु अर्थात सूक्ष्मता को प्राप्त अचिन्त्य अध्यात्म आदि विषयों पर'

संयजन्ते— सम् + यज्,लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विजहुः— वि + √ ओहाक्— त्यागे, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। यहाँ 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' से लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार का प्रयोग हुआ।

वेद्याभिः— 'वेदितव्याभिः विद्याभिः' जानने योग्य विद्याओं द्वारा। विद्— ज्ञाने यत् प्रत्यय + टाप् तृतीया विभक्ति, बहुवचन, स्त्रीलिङ्ग।

अहोब्रह्माणः— सायण ने इसका अर्थ किया है 'उह्यमान ब्रह्म+विद्याश्रुतिमतिबुद्धिलक्षणे येषां ते'— जो ब्रह्मविद्या श्रुति, मति और बुद्धि में बढ़े हुए हैं।

वेंकट माधव ने अर्थ किया— 'उह्यमानं येषां ब्रह्म' जिसका वेद ज्ञान बढ़ा हुआ है।

उद्गीथ ने अर्थ किया 'उह्यमाना ब्रह्मपराविद्या यैस्ते ऊहापोह समर्था इत्यर्थः अर्थात् जिनका पराविद्याविषयक ज्ञान बढ़ा हुआ है जो तर्क वितर्क करने में समर्थ हैं।

दुर्गाचार्य ने अर्थ किया 'ऊहब्रह्म येषामस्ति और ब्रह्म का अर्थ यास्क ने 'परिवृढं सर्वतः' किया है अर्थात् जो ज्ञान में सब तरफ से बढ़ा हुआ है।

यह दो प्रकार से निष्पन्न है (1) ब्रह्मन् + अण् प्रत्यय अथवा (2) √ बृंह + मनिन्। यह प्रथमा विभक्ति, बहुवचन पुल्लिङ्ग का रुप है।

सखायः— सायण ने अर्थ किया है— 'समानं ख्यानं ज्ञानं येषाम् इति सखायः अर्थात् जिनका ज्ञान एक जैसा है वे सखा हैं। इसमें— स + √ ख्या + यत् प्रत्यय है, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग का रूप है।

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।। 9।।

इमे। ये। न। अर्वाक्। न। परः। चरन्ति। न। ब्राह्मणासः। न। सुतेकरासः। ते। एते। वाचम्। अभिपद्य। पापया। सिरीः। तन्त्रम्। तन्वते। अप्रऽजज्ञयः।

अन्वय— ये न अर्वाक न परः चरन्ति इमे न ब्राह्मणासः न सुतेकरासः। ते एते अप्रजज्ञयः पापया वाचम् अभिपद्य सिरीः तन्त्रम् तन्वते।

सरलार्थ— जो (ये) न तो (न) इस ओर (अर्वाक्) (और) न ही (न) उस ओर (परः) चलते हैं (चरन्ति) ये (इमे) न तो (न) ब्राह्मण (ब्रह्मणासः) (और) न ही (न) सोमनिष्पादक (सुतेकरासः) (बनते हैं)। वे (ते) मूर्ख (अप्रजज्ञयः) पापकारिणी (पापया) वाणी से (वाचम्) युक्त होकर (अभिपद्य) जुलाहे के (सिरीः) (समान) ताना बाना (तन्त्रम्) बुनते रहते हैं (तन्वते)।

सायण भाष्य— अनयावेदार्थानभिज्ञा निन्द्यन्ते। इमे येऽविद्वांसोऽर्वागर्वाचीनं अधोभाविन्यस्मिँल्लोके ब्राह्मणैः सह न चरन्ति ये परः परस्ताद्देवैः सह न चरन्ति ते ब्राह्मणासो ब्रह्मणा वेदार्थतत्परा न भवन्ति। तथा सुतेकरासः। सोमं सुतमभिषुतं कुर्वन्तीति सुतेकरा ऋत्विजः। तेऽपि न भवन्ति। अप्रजज्ञयः। जानातेराद्दृगमहन इति किप्रत्ययः। अविद्वांसस्त एते मनुष्या वाचं लौकिकीमभिपद्य प्राप्य तथा पापया पापकारिण्या वाचा युक्तास्ते सिरीः। छन्दसीवनिपाविवितीप्रत्ययः। सुपां सु लुगिति जसः सुः। सीरिणो भूत्वा तन्त्रं कृषिलक्षणं तन्वते। विस्तारयन्ति। कुर्वन्तीत्यर्थः। सर्वथा वेदार्थो ज्ञेय इत्यभिप्रायः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वेदार्थ को न जानने वालों की निन्दा की गई है। जो अज्ञानी इस संसार में न तो ब्राह्मणों अर्थात् ज्ञानियों के साथ रहते हैं और न ही देवताओं के साथ रहते हैं अर्थात् यज्ञादि करते हैं, वे न तो ब्राह्मण बन पाते हैं और न ही सोमनिष्पादक। ब्राह्मण बनने के लिए वेदों का ज्ञान आवश्यक है जो उनके पास नहीं है। इस कारण वे ब्राह्मण नहीं बन पाते। सोमनिष्पादक बनने के लिए यज्ञादि कर्मकाण्ड का ज्ञान आवश्यक है, वह भी उनके पास नहीं है। इस संसार में दो प्रकार के ज्ञानी होते हैं प्रथम तो वे जिन्हें वेद वेदाङ्गों का पूर्ण ज्ञान है और वे शास्त्रार्थादि कर सकते है और दूसरे वे होते हैं जिन्हें कर्म काण्डविषयक ज्ञान है। ये यज्ञ इत्यादि की व्यवस्था करते हैं, उनका सम्पादन करते हैं व सोमनिष्पादन आदि कार्य करते हैं। मनुष्य ब्राह्मण बने अथवा सोमनिष्पादक दोनों के लिए वेदों का अर्थ समझना नितान्त आवश्यक है। ब्राह्मण बनने के लिए केवल सैद्धान्तिक ज्ञान पर्याप्त है तो सोमनिष्पादक बनने

के लिए सैद्धान्तिक व व्यवहारिक दोनों ही ज्ञान परमावश्यक हैं।

कुछ विद्वानों ने प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ किया है कि ज्ञान दो प्रकार का है—सांसारिक और आध्यात्मिक।

संसार की तरफ प्रवृत्त करवाने वाला ज्ञान अविद्या है तो अध्यात्म की तरफ प्रेरित करवाने वाल ज्ञान विद्या है। संतुलित जीवन के लिए दोनों ही ज्ञान आवश्यक हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभ्यं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। (ईशोपनिषद्)

परन्तु वे मनुष्य दयनीय हैं जिन्हें एक का भी ज्ञान नहीं है।

अन्तिम दो पादों में पूर्वमन्त्रों की भावना ही अभिव्यक्त की गई है। किसी भी प्रकार की ज्ञान प्राप्ति के लिए चाहें वह वेदविषयक हो अथवा यज्ञविषयक, संसारविषयक हो अथवा अध्यात्म विषयक, वाणी का अथवा भाषा का वास्तविक निहित अर्थ समझना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य निरर्थक, निष्प्रयोजन, पापमयी वाणी का प्रयोग करते हुए अपना जीवन उसी प्रकार व्यर्थ कर देता है जिस प्रकार जुलाहा कपड़े बुन बुन कर ही सारा जीवन व्यतीत कर देता है।

टिप्पणियाँ

अप्रजज्ञय:— नञ् + प्र+ √ज्ञा + कि प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन पुल्लिङ्ग। यहाँ **'आदृगमजनहनजन: कि किनौ लिट् च'** (3.2.171) से 'कि' प्रत्यय आया तथा इसमें लिट्वत व्यवहार होने से धातु का द्वित्व हुआ। अ+प्र+ज+ज्ञ+इ+अस् होने पर 'अप्रजज्ञय:' रुप बना।

सुतेकरास:— सोमं सुतमभिषुतं कुर्वन्तीति सुतेकरा: प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ **'सुतेकरा:'** रूप होना चाहिए था परन्तु **'आज्जसेरसुक'** से असुक् का आगम हो गया।

ब्राह्मणास:— यहाँ **'ब्राह्मणा:'** रुप होना चहिए था परन्तु **'आज्जसेरसुक्'** से असुक् का आगम हो गया। प्रथम विभक्ति, बहुवचन , पुल्लिङ्ग।

अभिपद्य— अभि + √पद्–गतौ + ल्यप्

सिरी— यहाँ **सिरय:** रुप होना चाहिए था। परन्तु **'वा छन्दसि'** सूत्र से पूर्व सवर्ण दीर्घ हो गया सिरी + जस्–सिरी + अस्=सिरी:

यह प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, स्त्रीलिङ्ग है।

तन्वते— √ तनु-विस्तारे, लट् लकार, आत्मनेपद, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय।। 10।।

सर्वे। नन्दन्ति। यशसा। आऽगतेन। सभाऽसाहेन। सख्या। सखायः।
किल्बिषऽस्पृत्। पितुःऽसनिः। हि। एषाम्। अरम्। हितः। भवति। वाजिनाय।

अन्वय— यशसा आगतेन सभासाहेन सख्या सखायः नन्दन्ति। एषां किल्बिषस्पृत् पितुषणिः अरम् वाजिनाय हितः भवति।

सरलार्थ— यश के साथ (यशसा) आए हुए (आगतेन) सभा में विजयी (सभासहेन) सखा के साथ (सख्या) सभी मित्र (सखायः) आनन्दित होते हैं (नन्दन्ति) 1 (वह वाग्वित्) पाप को नष्ट करने वाला (किल्बिषस्पृत) अन्न को देने वाला (पितुषणिः) अत्यन्त समर्थ (अरम्) (तथा) वीरतापूर्ण कार्य करने में (वाजिनाय) समर्थ (हितः) होता है (भवति)।

सायण भाष्य— सखायः समानख्यानाः समानज्ञानाः सर्वे सभ्या मनुष्याः सभासाहेन सभां सोढुं शक्नुवता सख्यर्त्विजां प्रतिभूतेन यज्ञं प्रत्यागतेन यशसा यशस्विना सोमेन हेतुना नन्दन्ति। दृष्टा भवन्ति। स हि स एव सोम एषां जनानां किल्बिषस्पृत्। यः स्वस्मादन्यः पुरुषः श्रेष्ठतामश्नुते स किल्बिषं भवति बाल्यत्वेन। यथा पापं सदाचारैर्बाधितव्यं भवति तद्वत्। पापरूपस्य शत्रोर्बाधकः। यद्वा। यज्ञे साध्वनुप्रवचनाकरणेन यत्किल्बिषं येषां सञ्जायते तद्यो बाधते स किल्बिषस्पृत्। तथा त्वं पितुषणिः। पितुरित्यन्ननाम दक्षिणा वा। तमनेन सनोति यजमानः सम्भजते इति तादृशः। तेषामन्नदक्षिणादातेत्यर्थः। किञ्च हितः पात्रेषु निहितः सोमो वाजिनाय। इन्द्रियं वीर्यं वाजिनम्। तेषां वीर्याय तत्कर्तुमरमलं पर्याप्तः समर्थो भवति। सर्वे नन्दन्ति यशसागतेनेत्यन्वाह यशो वै सोमो राजेत्यादिकमिन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनमाजरसं हास्मै वाजिनं नापच्छिद्यत इत्यन्तं ब्राह्मणमत्रानुसन्धेयम्। ऐ. ब्रा. 1.13।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि जो व्यक्ति वाणी की साधना करता है, उसके गूढार्थ को समझता है व प्रभूत ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह उसे विद्वानों की सभा में अभिव्यक्त भी कर पाता है। मनोगत भावों को वाणी के द्वारा प्रकट करना भी एक कला है। भारवि ने कहा है— 'ते धन्यतमा विपश्चितो मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये'।

परिणामस्वरूप उसे विद्वत्सभा में विजय प्राप्त होती है, वह यशस्वी होता है और मित्र समाज में भी सब उससे प्रसन्न रहते हैं क्योंकि ऐसा विदग्ध व पण्डित मित्र पाकर वे भी स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। ज्ञानयुक्त होने के कारण ही वह अपने अन्दर कर्म वैगुण्य से जनित पाप को तुरन्त नष्ट कर देता है। सांसारिक सुखों को प्राप्त करने वाला, सभी कार्यों को करने में समर्थ प्रतिस्पर्धाओं मे भी विजयी होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है—**'यः श्रेष्ठतामश्नुते स किल्बिषं भवति'** (ऐतरेय ब्राह्मण, 1.13) इस प्रकार ज्ञानयुक्त वाणी ही सब सुखों की आधारशिला है।

यहाँ 'अरम्' का अर्थ 'अलम्' (समर्थ होना) है क्योंकि संस्कृत में 'र्' और 'ल्' में अभेद है 'रलयोरभेदः'।

सायण ने प्रस्तुत मन्त्र वाग्वित् को लक्ष्य न करके सोम को लक्ष्य किया है। उनके अनुसार सभी सभ्य जन सोम के कारण प्रसन्न होते हैं। सोम ही इन के पाप नष्ट करने वाला है अर्थात् पापरूप शत्रु का बाधक है, उनको अन्नादि दक्षिणा का प्रदाता है। पात्रों में निहित सोम उनके पराक्रमों के लिए भी पर्याप्त समर्थ होता है। **सातवलेकर ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।**

परन्तु ज्ञान सूक्त में सोम की स्तुति किया जाना कुछ प्रसङ्गानुकूल प्रतीत नहीं होता। आध्यात्मिक पक्ष में भी सोम का अर्थ आनन्द है, ज्ञान नहीं। यद्यपि ज्ञान ओर आनन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है तथापि यहाँ सोम स्तुति में किसी भी प्रकार का औचित्य व प्रसांङ्गिकता दिखाई नहीं देती।

सभासहेन का अर्थ है 'जो सभा में श्रेष्ठ है'।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः।। 11।।

ऋचाम्। त्वः। पोषम्। आस्ते। पुपुष्वान्। गायत्रम्। त्वः। गायति। शक्वरीषु। ब्रह्मा। त्वः। वदति। जातऽविद्याम्। यज्ञस्य। मात्राम्। वि। मिमीते। ऊँ इति। त्वः।।

अन्वय— त्वः ऋचाम् पुपुष्वान् आस्ते त्वः शक्वरीषु गायत्रम् गायति। त्वः ब्रह्मा जातविद्याम् वदति उप त्वः यज्ञस्य मात्राम् विमिमीते।

सरलार्थ— एक (त्वः) ऋचाओं की (ऋचाम्) पुष्टि को (पोषम्) पोषित करता हुआ (पुपुष्वान्) स्थित होता है (आस्ते) (तो) एक (त्वः) शक्वरियों द्वारा (शक्वरीषु) साम (गायत्रम्) गाता है (गायति)। (तो) ब्रह्मा

नामक (ब्रह्मा) एक (त्वः) (ऋत्विक्) सब विद्याओं को (जातविद्याम्) बतलाता है (वदति) और (उत) एक (त्वः) यज्ञ की (यज्ञस्य) मात्रा को (मात्राम्) निर्धारित करता है (विमिमीते)।

सायण भाष्य— अनया होत्राद्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। त्व एको होतर्चां पोषं यथाविधि कर्माणि प्रयोगं पुपुष्वान्। एको धातुरनुवादार्थः। बह्वीर्ऋचः पुष्यञ्शंसन्नास्ते। त्व एक उद्गाता शक्वरीषु। शक्वर्य ऋचाः। आभिर्ऋग्भिर्वृत्रं हन्तुमिन्द्रः समर्थोऽभूदिति शक्वर्यः। तासु गायत्रं साम गायति। त्व एको ब्रह्मा च जातविद्यां जाते जाते कर्त्तव्ये प्रायश्चित्तादौ वेदयन्तीं वाचं वदति। ब्रह्मा हि सर्वं वेदितुं योग्यो भवति खलु। चादिलोपे विभाषेति न निघातः। त्व एकाऽध्वर्युश्च यज्ञस्य मात्रां यज्ञो यथा मीयतेऽभिषवग्रहणादिकया क्रियया तां मात्रां यज्ञशरीरं विमिमीते। प्रत्यर्थं निर्मिमीते। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी? नि. 1.8। इत्यादिनिरुक्तानुसारेणार्थोऽभ्यधायि। एवं बृहस्पतिर्विदितवेदार्थं तुष्टाव।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु के कार्यों का वर्णन किया गया है। होता ऋचाओं द्वारा देवताओं का आह्वान करता है। **ऋग्वेद के पुरोहित को होता कहते हैं।** ऋग्वेद का अर्थ ही **'ऋच्यते स्तूयते वानया इति ऋक्'** अर्थात स्तुतिपरक परक मन्त्रों द्वारा देवताओं का आह्वान करना है। यह कार्य 'होता' का है। 'होता' शब्द √ ह्वै-आह्वाने से निष्पन्न है। नाम के अनुरुप ही होता का कार्य भी है।

'उद्गाता' सामवेद का पुरोहित है। इसका कार्य है 'संगीतपरक वाणी द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करना।' शक्वरी उन ऋचाओं को कहते है जिनके द्वारा इन्द्र वृत्र को मारने में समर्थ हुआ। दृष्टव्य सायण भाष्य **'शक्वर्य ऋचः। आभिर्ऋग्भिर्वृत्रं हन्तुमिन्द्रः समर्थोऽभूदिति'**। सामवेद के संगीत परक होने के कारण ही 'गायत्रम्' पद का प्रयोग किया गया है। गायत्रम् √ गै-गाने से ही निष्पन्न है।

'ब्रह्मा समस्त विद्याओं का ज्ञाता होने के कारण सर्वविद् है। वैसे 'ब्रह्मा' अथर्ववेद का पुरोहित है। परन्तु यहाँ इसका प्रयोग अथर्ववेद के पुरोहित के अर्थ में नहीं हुआ। किसी भाष्यकार ने भी 'ब्रह्मा' का अर्थ अथर्ववेद का पुरोहित नहीं किया अपितु उसे सर्वविद् ऋत्विक् माना है जो प्रायश्चित के विषय में जानता है। उद्गीथ, सायण, सातवलेकर आदि सभी ने यही अर्थ किया है **च एको ब्रह्मा च जातविद्यां जाते जाते कर्त्तव्य प्रायश्चितादौ वेदयन्तीं वाचं वदति। ब्रह्मा हि सर्वं वेदितुं योग्यो भवति खलु** (सायण भाष्य)।

अध्वर्यु यजुर्वेद का पुरोहित है। जैसा कि इसकी व्युत्पत्ति **'अध्वरं युनक्ति'** अथवा **'अध्वरस्य नेता'** से ही स्पष्ट है, यह यज्ञ का संयोजक एवं सम्पादक होता है। यह यज्ञसम्बन्धी व यज्ञवेदी निर्माण सम्बन्धी समस्त विद्याओं को जानता है।

मात्रा का निर्धारण करने का अर्थ सम्भवतः वेदी का निर्धारण करना है। अध्वर्यु को ही यह निश्चित करना होता है किस यज्ञ के लिए किस आकार की किस नाप की वेदी चाहिए।

आध्यात्मिक पक्ष में भी मनुष्य को जीवन रुपी यज्ञ का निर्वाह करने के लिए चार गुणों की आवश्यकता होती है (1) ऋचा की पुष्टि अर्थात् सर्वविधज्ञान प्राप्ति (2) संगीत-संगीत,नृत्य, काव्यादि ललित कलाएँ (3) संसार के रहस्य की गवेषणा तथा (4) जीवन रुपी यज्ञ के कार्यो का सम्यक् संचालन। प्रथम तीन सिद्धान्त पक्ष को पुष्ट करते हैं तो चतुर्थ व्यवहार पक्ष को। किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उसके सैद्धान्तिक व व्यवहारिक दोनों ही पक्षों की जानकारी आवश्यक है। इन चारों से जीवन यज्ञ की पूर्णता होती है।

टिप्पणियाँ

पुपुष्वान्— √ पुष्-पुष्टौ + क्वसु प्रत्यय। क्वसु में लिट्वत् व्यवहार होने के कारण धातु का द्वित्व हुआ। यह प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग का रुप है।

पोषम्— √ पुष् + घञ्, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

वि मिमीते— वि + √ माङ्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। जुहोत्यादिगण की धातु होने के कारण धातु का द्वित्व हो गया।

卐 卐 卐

पुरुष सूक्त (ऋग्वेद 10.90)

एकेश्वरवाद को प्रतिपादित करने वाला **'पुरुष सूक्त'** ऋग्वेद के 12 दार्शनिक सूक्तों में से एक महत्त्वपूर्ण सूक्त हैं। ऋग्वेद के इन्हीं सूक्तों में प्रथम बार 'इस संसार की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका अधिष्ठाता देव कौन है, संसार का चक्र किस प्रकार चलता है' आदि प्रश्नों पर दृष्टिपात किया गया है। ऋग्वेद की प्रारम्भिक अवस्था में बहुदेवतावाद में विश्वास किया जाता था परन्तु वैदिक ऋषि इससे सन्तुष्ट न हो पाए। उनकी असंतुष्टि के मुख्य दो कारण थे (1) दैविक शक्तियों के प्रति उनके मन में सन्देह उत्पन्न होने लगे थे कि वे हैं भी अथवा नहीं और (2) उन्होंने सोचा कि संसार में सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए इसका संचालन एक ही शक्ति द्वारा किया जाना चाहिए। इन दो कारणों से वैदिक ऋषियों ने समान गुण, रूप और व्यक्तित्व वाले देवताओं का सामूहिक रूप से आह्वान करना प्रारम्भ कर दिया। यह बहुदेवतावाद से एकदेवतावाद की ओर अग्रसर होने का पहला कदम था।

सृष्टि की उत्पत्ति विषयक समस्या का समाधान करने वाले सूक्तों की शृङ्खला में **पुरुष सूक्त प्रथम** है। इस दिशा में अन्य दो और महत्त्वपूर्ण सूक्त **'हिरण्यगर्भ (10.121)** तथा **भाववृत्तम् अथवा** नासदीय (10.129) सूक्त हैं।

पुरुष सूक्त में पुरुष की हवि से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। इसके अनुसार पुरुष का शरीर ही मूल सामग्री है। यही संसार का उपादान कराण है। देवता केवल सहायक उपकरण हैं। सृष्टि उत्पन्न करने का कार्य एक यज्ञ है जिसमें पुरुष की बलि दी जाती है **'देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्'** पुरुष सूक्त) वह पुरुष असीमित शक्ति से युक्त है जिसका थोड़ा सा ही अंश प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में दृष्टिगोचर होता है। इस सूक्त में पुरुष को ही सर्वस्व बतलाने में **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** अद्वैत वेदान्त की उस मूल भावना का बीज दिखाई पड़ता है जिसके अनुसार ब्रह्म ही सब कुछ है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**। पुरुष सूक्त का यही विचार कि पुरुष ही जगत् है, उपनिषदों में अपने विकसित रूप को प्राप्त हुआ। **यही पुरुष सांख्य दर्शन में परमात्मा कहलाया** जो प्रकृति से पृथक् है

और अक्रिय है। पुरुष सूक्त में यह सक्रिय पुरुष बन जाता है जो संसार का संहारक और उत्पादक है। संसार का ही दूसरा नाम '**विराज**' भी है क्योंकि यह विविध प्रकार से सुशोभित होता है '**विविधं राजते इति**' तथा '**तस्माद्विराडजायत**'।

यह ध्यातव्य है कि यहाँ पुरुष का अर्थ मनुष्य नहीं है अपितु इसका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है। इसकी व्युत्पत्तियाँ ही इस की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता को इङ्गित करती हैं।

(1) **पुरि शेते अथवा पुरि शयनात् इति पुरुषः**— जो शरीर रूपी नगरी में रहता है। जड़ और अचेतन शरीर को क्रियाशील और चेतन रखने वाला पुरुष है।

(2) **पूर्यतेऽनेनेति पुरुषः**— जिसके द्वारा सभी कुछ व्याप्त किया जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार पुरुष आदिम दैत्य था जिसकी बलि यज्ञ में दी गई व इसके विभिन्न अङ्गों से ही विश्व की विभिन्न वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। इस विषय में **मैक्डानल महोदय का मत दृष्टव्य है** 'The gods are the agents of creation while the matter out of which world is made is the body of a primeval giant named 'Purusha'. The act of creation is treated here as a sacrifice in which 'Purusha' is the victim, the parts when cut up becoming portions of the universe'. अर्थात् देवता सृष्टि के कर्त्ता हैं। विश्व निर्माण का उपादान पुरुष नाम किसी आदिम दैत्य का शरीर है। सृष्टि सृजन का कार्य यहाँ यज्ञरूप में कल्पित किया गया है जिसमें पुरुष बलि का पशु है। इस पुरुष रूप बलि पशु के काटे हुए अङ्ग ही विश्व के विभिन्न भाग बन गए।

इसी के आधार पर वालिस इत्यादि विद्वानों ने कहा कि पुरुष सूक्त में पुरुष बलि के सङ्केत प्राप्त होते हैं परन्तु ग्रिफिथ के अनुसार पुरुष शरीरधारी आत्मा है जिसकी विश्व के मूल स्रोत के रूप में कल्पना की गई है जबकि **विल्सन महोदय के अनुसार परम आत्मा ने ही विश्व को प्राण सम्पन्न किया और वह स्वयं ही मनुष्य रूप में स्थित हुआ।**

परन्तु प्रो. योगी ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही मतों को प्रमाण के अभाव में स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'पुरुष' शब्द कुल 16 बार प्रयुक्त हुआ है और सभी जगह मनुष्य का ही अर्थ है। उन्होंने **पुरुष का**

अर्थ दिव्य गुण सम्पन्न मनुष्य ही माना है और प्रत्येक मन्त्र का अर्थ मनुष्य के सन्दर्भ में ही किया है।

परन्तु सूक्त में वर्णित दार्शनिक तथ्यों को देखते हुए पुरुष का अर्थ व्यापक अर्थ में ही करना अधिक उपयुक्त एवं प्रासङ्गिक है। यही पुरुष उपनिषदों का 'ब्रह्म' कहलाया।

पुरुष सूक्त (ऋग्वेद 10.90)

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 90वाँ सूक्त है। इसका देवता अव्यक्त महदादि लक्षणों से युक्त पुरुष है। ऋषि नारायण है। इसमें 1-15 मन्त्रों तक अनुष्टुब् छन्द है व 16वें मन्त्र में त्रिष्टुब् छन्द है। **मनुस्मृति** में नारायण की व्याख्या इस प्रकार की गई—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।

(1) नरायण के पुत्र नारायण है— **नरायणस्यापत्यं पुमान् इति नारायणः।**

(2) अथवा **नराणां समूहो नारः, नारस्यायनं नारायणम्** अर्थात् मनुष्यों का समूह नार है और नार का निवास नारायण है।

(3) **नारमयनं यस्य सः नारायणः** अर्थात् 'मनुष्यों का समूह जिसका घर है, वह नारायण है। इस व्युत्पत्ति में सम्भवतः उस आत्मतत्त्व की तरफ सङ्केत है जो मनुष्यों के शरीर में निवास करता है और जिसके चले जाने पर मनुष्य जड़ अचेतन हो जाता है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।। 1।।

सहस्रऽशीर्षा। पुरुषः। सहस्रऽअक्षः। सहस्रऽपात्।
सः। भूमिम्। विश्वतः। वृत्वा। अति। अतिष्ठत्। दशऽअङ्गुलम्।

अन्वय— पुरुषः सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्। सः भूमिं विश्वतः वृत्वा दशाङ्गुलम् अति अतिष्ठत्।

सरलार्थ— पुरुष (पुरुषः) सहस्रशीर्ष (सहस्रशीर्षा) सहस्राक्ष (सहस्राक्षः) और सहस्रापाद (सहस्रपात्) (है)। वह (सः) भूमि को (भूमिम्) सब ओर से

(विश्वतः) व्याप्त करके (वृत्वा) दस अङ्गुल परिमाण (दशाङ्गुलम्) अतिक्रान्त करके (अति) स्थित है (अतिष्ठत्)।

सायण भाष्य— सहस्रशीर्षेति षोडशर्चं षष्ठं सूक्तम् नारायणो नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः। अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः। वेदा. 1.4.1। पुरुषान्न परं किञ्चित् क.उ. 3.11। इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता। तथा चानुक्रान्तम्। सहस्रशीर्षा षोडश नारायणः पौरुषमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं त्विति। गतो विनियोगः। सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा। सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः। यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात्तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च। स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतो वृत्त्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशमत्यतिष्ठत्। अतिक्रम्य व्यवस्थितः। दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्यवस्थित इत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में पुरुष को हजार सिर, हजार आँख और हजार पैर वाला कहा गया है। यह हज़ार असीमित, अनन्त का उपलक्षण मात्र है। इसका तात्पर्य यह है कि वह पुरुष अनन्त सिरों, अनन्त आँखों और अनन्त पैरों वाला है क्योंकि इसी परमात्मा (पुरुष) का अंश सभी प्राणियों में जीवात्मा के रूप में विद्यमान है। **पुरुष का अर्थ है**—

(1) **पुरि शेते अथवा पुरि शयनात्**— जो शरीर रूपी नगरी में निवास करता है तथा (2) **पूर्यते अनेनेति**— जिसके द्वारा सभी कुछ व्याप्त किया जाता है। वस्तुतः पुरुष सूक्त का यही पुरुष उपनिषदों का ब्रह्म है। कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है— **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः मध्य आत्मनि तिष्ठति'**। जिस प्रकार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है **'ईशावस्यमिदं जगत्सर्वम्'** उसी प्रकार यह पुरुष भी सर्वत्र व्याप्त है **'पुरुष एवेदं सर्वम्'**।

'पुरुष सिर, आँख और पैर से युक्त है' इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि हमारी इन्द्रियों को कार्य करने की क्षमता वही प्रदान करता है। जड़ व अचेतन होने के कारण हमारी इन्द्रियाँ स्वयं तो कार्य करने में असमर्थ हैं। प्राणरूप आत्मतत्त्व (पुरुष) की प्रेरणा से ही ये अपना कार्य करने में प्रवृत्त होती हैं। केनोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है— **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुः** . . . (केनोपनिषद् 1.2)

वह कान का कान, मन का मन, वाणी का वाणी, प्राण का प्राण तथा

चक्षु का चक्षु है। तात्पर्य यह है कि कान को सुनने की, मन को मनन करने की, वाणी को बोलने की, प्राण को सांस लेने की व आँख को देखने की शक्ति उसी सर्वप्रेरक से प्राप्त होती है। परन्तु समस्त संसार को व्याप्त करने के पश्चात् भी उसकी शक्ति समाप्त नहीं होती। तब भी वह दस अङ्गुल शेष है। यहाँ भी दश उपलक्षण है। इसका तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्माण्ड से बाहर भी विद्यमान है–

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

महीधर के अनुसार 'शिर' सब अवयवों का, अक्षि सब ज्ञानेन्द्रियों का तथा पैर सब कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है।

माध्यन्दिन् शतपथ में कहा गया है 'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति स एवं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत् तमाहरत् तेनायजत तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत् (माध्यन्दिन् शतपथ 13.6.1.1) अर्थात् पुरुष ने नारायण से इच्छा की कि मैं सब प्राणियों पर शासन करूँ। मैं ही सब कुछ हो जाऊँ। नारायण ने इस पुरुष मेध को पाँच रात तक यज्ञकार्य के लिए देखा, उसको ले आया, उससे यज्ञ किया। उससे यज्ञ करके वह सब प्राणियों का शासक हो गया और वही सर्वस्व हो गया।

'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठोपनिषद 1.3.11)

प्रो. योगी जी ने पुरुष का अर्थ मनुष्य करते हुए कहा है कि एक सिर वाला होने पर भी वह हजारों सिर वाला है क्योंकि उसके मस्तिष्क में महती शक्ति है। वह इस शक्ति के द्वारा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में सब कुछ करने में समर्थ है। इस भूमिलोक को जीतने में तो वह समर्थ है ही परन्तु अनेक शक्तियाँ उसके अन्दर सुप्तावस्था में विद्यमान हैं। यदि वे शक्तियाँ भी प्रबुद्ध हो जाए तो वह सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

टिप्पणियाँ

1. दशाङ्गुलम्— महीधर के अनुसार 'दशाङ्गुलम्' के दो अर्थ हैं :

(1) जो ब्रह्माण्ड लोक को व्याप्त किए हुए है।

(2) जो नाभि से दश अङ्गुल की दूरी पर हृदय में विद्यमान है।

उब्बट के अनुसार 'दशाङ्गुलम्' दस इन्द्रियों का वाचक है अथवा दशाङ्गुलपर्यन्त हृदय स्थान है।

2. सहस्त्रशीर्षा— 'सहस्त्रसंख्यानि शीर्षाणि शिरांसि यस्य सः'।

यहाँ 'शीर्षंच्छन्दसि' से वेद में 'शिरस् के स्थान् पर शीर्षन् आदेश हो गया। प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सहस्त्रपात्— सहस्त्रं पादा यस्य सः। यहाँ **'संख्यासुपूर्वस्य'** (5.4.140) से 'पाद' के 'अ' का लोप हो गया। प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।। 2।।

पुरुषः। एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भव्यम्।

उत। अमृतऽत्वस्य। ईशानः। यत्। अन्नेन। अतिऽरोहति।

अन्वय— यद् भूतम् च यत् भव्यम् इदं सर्वम् पुरुष एव। उत अमृतत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अति रोहति।

सरलार्थ— जो (यत्) भूत है (भूतम्) और (च) जो (यत्) भव्य है (भव्यम्) यह (इदं) सब (सर्वम्) पुरुष (पुरुषः) ही है (एव)। और (उत) (वह) अमृतत्व का (अमृतत्वस्य) स्वामी है (ईशानः) जो (यत्) अन्न से (अन्नेन) बढ़ता है (अतिरोहति)।

सायण भाष्य— यदिदं वर्तमानं जगत् तत्सर्वं पुरुष एव। यच्च भूतमतीतं जगद्यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव। यथास्मिन्कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः उतापि चामृतत्वस्य देवत्वस्यायमीशानः स्वामी। यद्यस्मात्कारणादन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेनातिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात्प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वाकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में एकेश्वरवाद को प्रतिपादित किया गया है। जो कुछ वर्तमान में हो रहा है, जो भूतकाल में हो चुका है और जो भविष्यत् काल में होगा, वह सब पुरुष ही है। तात्पर्य यह है कि वह पुरुष अजर, अमर, शाश्वत और सनातन है अतः जो जगत अब विद्यमान है, जो पहले भूतकाल में हो चुका और जो अब भविष्यत् काल में होने वाला है, उसका कारण वह पुरुष ही है **'ईशानं भूतभव्यस्य (कठोपनिषद्)'** वह देवताओं (अमृतत्व) का भी स्वामी है

'यस्य प्रशिषं विश्व उपासते देवाः' (ऋग्वेद 10.121)। जो संसार अन्न से वृद्धि को प्राप्त होता है उसका तो स्वामी वह है ही क्योंकि जब श्रेष्ठ देवताअें का भी वही शासक है तो अन्य प्राणियों का शासक होना तो स्वाभाविक ही है। अनाज से वृद्धि को प्राप्त होने वाले संसार में समस्त प्राणी जगत् का समावेश हो जाता है।

सायण के अनुसार प्रथम पंक्ति का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार इस कल्प में स्थित सभी प्राणीदेह उस विराट् पुरुष के अङ्ग हैं उसी प्रकार भूतकाल में भी तथा भविष्य में भी रहेंगे।

अमृतत्वस्य . . . अतिरोहति— इस चरण का अर्थ **सायण** ने इस प्रकार किया है 'यह अमृतत्व अर्थात् देवत्व का स्वामी है। परन्तु प्राणियों के भोग्य कर्मफल के लिए (निमित्त) वह अपनी कारण अवस्था को छोड़ कर कार्यरूप जगदवस्था को प्राप्त कर लेता है। तब भी यह उसका वास्तविक रूप नहीं है। उसका वास्तविक स्वरूप तो अमृतत्व का ही है। (**दृष्टव्य सायण भाष्य**)

महीधर ने अर्थ किया है 'वह मुक्ति (अमृतत्वस्य) का स्वामी है ओर उन भूतों का भी जो अन्न से बढ़ते हैं।'

पीटर्सन ने अर्थ किया 'अमरता पर शासन करते हुए वह वह सब है जो अन्न से बढ़ता है।'

ग्रासमैन— 'वह अमरों के समूह का स्वामी है जो हमारे यज्ञों द्वारा वृद्धि को प्राप्त करते हैं।'

उब्बट— 'वह अमृतत्व अर्थात् मोक्ष का भी शासक है।'

वेलंकर— यज्ञ में हविमार्ग द्वारा जो अमर्त्य देवों का समुदाय उस पार स्वर्ग लोक में आरोहण करता है, उस पर भी पुरुष का अधिकार है **'इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति'**। संक्षेप में जो देवों का स्वामी है और जो प्राणियों का भी स्वामी है जो अन्न से बढ़ते हैं।

योगी जी ने पुरुष का अर्थ मनुष्य करते हुए कहा है कि जगत् में भूत और भविष्य सब मनुष्य के द्वारा है। संसार की उन्नति का इतिहास अतीत है और भविष्य भी मनुष्य को अधिकृत करके ही होगा। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप यह है कि वह अमृतत्व का स्वामी है शरीर धारण कर यह जीवात्मा शरीर का अधिष्ठाता है जो शरीर अन्न से वृद्धि को प्राप्त करता है।

टिप्पणी

ईशानः— √ ईश्–ऐश्वर्ये + शानच् + प्रथम पुरुष एकवचन, पुल्लिङ्ग।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। 3।।

एतावान्। अस्य। महिमा। अतः। ज्यायान्। च। पुरुषः।
पादः। अस्य। विश्वा। भूतानि। त्रिऽपात्। अस्य। अमृतम्। दिवि।

अन्वय— एतावान् अस्य महिमा अतः ज्यायान् पुरुषः विश्वा भूतानि अस्य पादः अमृतम् अस्य त्रिपात् दिवि।

सरलार्थ— इतनी (एतावान्) इसकी (अस्य) महिमा है (महिमा) और (च) इससे भी (अतः) महान् (ज्यायान्) पुरुष है (पुरुषः)। समस्त (विश्वा) प्राणी (भूतानि) इसके (अस्य) चतुर्थांश हैं। (पादः) (और) अविनाशी (अमृतम्) इसके (अस्य) तीन अंश (त्रिपात्) द्युलोक में हैं (दिवि)।

सायण भाष्य— अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान्सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा। स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवस्वरूपम्। वास्त्षस्तु पुरुषोऽतो महिम्नोऽपि ज्यायान्। अतिशयेनाधिकः। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः। चतुर्थोंऽशः अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूपममृतं विनाशरहितं सद्दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्याह सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै. आ. 8. 1 उ. 2.1। इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात्पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में पुरुष की अतुलित महिमा का वर्णन किया गया है। वर्तमान, भूत और भविष्यत् रूप जो भी जगत् है वह सब तो इसकी महिमा से है ही परन्तु इसकी महिमा इससे भी कहीं अधिक है। यह अतीत, अनागत और वर्तमान रूप समस्त जगत् तो उसका चतुर्थांश ही है अर्थात् उसकी महिमा का बहुत थोड़ा सा ही अंश है। इसके तीन अविनाशी अंश तो अपने प्रकाशरूप में विद्यमान हैं अर्थात् वे असीमित शक्ति से युक्त हैं, अनश्वर और शाश्वत हैं जैसा कि तैतरीयारण्यक में कहा गया है— 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (8.1)।

यद्यपि पुरुष 'इयत्ताभाव' (यह इतना है) के कारण चार पैरों द्वारा निरूपित नहीं किया जा सकता तथापि दृश्यमान यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म की शक्ति की तुलना में बहुत अल्प है, यह बतलाने के लिए पैर (पाद) का उदाहरण दिया गया है। क़ारण रूप ब्रह्म कार्यावस्था रूप जगत् को अपनी थोड़ी सी सामर्थ्य से ही व्याप्त कर लेता है।

वेलंकर के अनुसार इसका अभिप्राय यह है कि अन्य सब प्राणी इसके तुरीयांश अर्थात् चतुर्थ भाग हैं। तुरीय पाद जननमरणयुक्त है जबकि स्वर्ग के शेष तीन पाद अमर्त्य हैं।

सातवलेकर ने अर्थ किया है 'इसके तीन चरण दिव्यलोक में अमृतरूप हैं। इस सब से पुरुष की व्यापकता और असीमितता वर्णित है।'

योगी जी ने मनुष्य पक्ष में इसका अर्थ करते हुए कहा है कि मनुष्य की जिस महिमा का वर्णन उपरोक्त दो मन्त्रों में किया गया है, मनुष्य उससे भी महान् है क्योंकि उन्नति करने के कारण वह भौतिक जगत का तो राजा है ही परन्तु वह उन्नति तो इसकी शक्ति के चतुर्थ भाग से ही हो जाती है। बाकी तीन भागों से मनुष्य (जीवात्मा) आध्यात्मिक, अमृत ओर प्रकाशमय संसार में रहता है। तात्पर्य यह है कि दोनों लोक मनुष्य के आधीन हैं।

टिप्पणियाँ

विश्वा— यहा **'विश्वानि'** रूप होना चाहिए था क्योंकि यह प्रथमा, द्वितीया विभक्ति, नपुसंकलिङ्ग का बहुवचन है परन्तु **'शेश्छन्दसि बहुलम्'** से 'शि' का लोप हो गया।

त्रिपात्— यहाँ **'संख्या सुपूर्वस्य'** (5.4.140) से 'पाद' के 'अ' का लोप हो गया।

त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।। 4।।

त्रिऽपात्। ऊर्ध्वम्। उत्। ऐत्। पुरुषः। पादः। अस्य। इह। अभवत्। पुनरिति। ततः। विष्वङ्। वि। अक्रामत्। साशनानशने इति। अभि।

अन्वय— त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्वम् उत् ऐत् अस्य पादः इह पुनः अभवत्। ततः साशनानशने अभि सर्वत्र वि अक्रामत्।

सरलार्थ— तीन पाद वाला (त्रिपात्) पुरुष (पुरुषः) ऊपर (ऊर्ध्वम्) चला गया (उत् ऐत्) इसका (अस्य) एक पैर (पादः) यहाँ पर (इह) बार बार (पुनः) हुआ (अभवत्)। वहाँ से (ततः) भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले (साशनानशने) सब को लक्ष्य करके (अभि) सर्वत्र (विष्वङ्) व्याप्त हुआ (वि अक्रामत्)।

सायण भाष्य— योऽयं त्रिपात्पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयमूर्ध्वउदैत्। अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्यास्य सोऽयं पादो लेशः सोऽयमिह मायायां पुनरभवत्। सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलशत्वं भगवताप्युक्तम्। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। भ.गी. 10.42। इति। ततो मायायामागत्यनन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत्। व्याप्तवान्। किं कृत्वा। साशनानशने अभिलक्ष्य। साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातं अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्। तदुभ्यं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि यह तीन पाद वाला पुरुष जो ब्रह्मस्वरूप है, ऊपर चला गया। तात्पर्य यह है कि यद्यपि वह अज्ञानयुक्त इस कार्य रूप संसार को व्याप्त करता है तथापि इसके गुण दोषों से रहित होकर निर्विकार रूप में ऊपर अर्थात् निर्लिप्त रहता है। कठोपनिषद् में इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य समस्त लोक का चक्षु होते हुए भी चक्षुसम्बन्धी दोषों से प्रभावित नहीं होता इसी प्रकार वह सब प्राणियों की अन्तरात्मा होते हुए भी उनके सुख दुःख से परे रहता है-

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।

(कठोपनिषद् 2.2.11)

परन्तु इसका एक अंश माया (अज्ञान) से युक्त होकर जन्म मृत्यु के चक्कर में पड़ा रहता है **'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः'** (कठोपनिषद्)। उपनिषदों में अज्ञान से युक्त चैतन्य को ही जीव कहा गया है. **'अज्ञानोपहितं चैतन्यं जीवः'**। गीता में श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गीता 10.42)

अज्ञान से युक्त यह जीवात्मा अपने अपने कर्मों के अनुरूप देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, नदी, पर्वत, स्थाणु इत्यादि विविध शरीर धारण कर भटकता रहता है—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।। (कठोपनिषद्)

वस्तुतः पुरुष (परमात्मा) का अंश होने के कारण विभिन्न चेतन अथवा अचेतन प्राणियों में स्थित जीवात्मा भी नित्य, शुद्ध, अजर, अमर, निर्विकार, गुण दोष, सुख दुःख से रहित है परन्तु मनुष्य अपने अज्ञान के कारण उसे इन उपाधियों से युक्त मान लेता है। ये सब शरीर के धर्म हैं। शरीर के धर्मों को आत्मा के धर्म समझ लेना ही मनुष्य का अज्ञान है। जब मनुष्य का यह अज्ञान दूर हो जाता है तो वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। इसी कारण 'ब्रह्मैव जीवो नापरः' तथा 'अहं ब्रह्मस्मि' इत्यादि महावाक्यों के बीज प्रस्तुत मन्त्र में हैं।

'पादोऽस्येहाभवत्पुनः' में वैदिक ऋषि की पुनर्जन्म की भावना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है।

'भोजन करने वालों से' चेतन प्राणी जगत और भोजन न करने वालों से अचेतन पर्वत, नदी, स्थाणु इत्यादि अभिप्रेत हैं। **शंकराचार्य ने कहा है कि एक ही परमेश्वर जो कि कूटस्थ नित्य तथा विज्ञानधातु है, मायाके कारण अनेक प्रकार से कल्पित कर लिया जाता है** 'एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विनाधातुविद्याया मायया मायाविदनेकधा विभाव्यते (ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य 1.3.19)

वेलंकर ने इसका अर्थ किया है कि तीन अंशात्मक यह पुरुष ऊर्ध्वगामी होकर ऊपर स्वर्ग में देवरूप में रहा और एक अंशात्मक भाग भूत, वर्तमान तथा भविष्य में परिवर्तन होने के लिए यहीं रह गया।

उब्बट ने **'साशनम्'** का अर्थ **'स्वर्गलोक'** किया है और **'अनशनम्'** का अर्थ **'मोक्ष'** किया है। तदनुसार अर्थ हुआ कि स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त करने वाला समस्त संसार उसी से उत्पन्न हुआ है 'साशनं स्वर्गम् अनशनं मोक्षं सर्वं जगत्स्वर्गं प्रति मोक्षं प्रति च तस्मादेवोत्पन्नमित्यर्थः'।

योगी जी ने पुरुष का अर्थ मनुष्य करते हुए कहा है कि मनुष्य की शक्तियों का तीन भाग आध्यात्मिक जीवन में ही लीन रहे। और एकांश सांसारिक जीवन के लिए समर्पित होना चाहिए। जिसका आध्यात्मिक विकास होता है वह

सांसारिक कार्य भी सफलतापूर्वक अल्प समय में ही कर लेता है। उनके अनुसार आध्यात्मिक और भौतिक जीवन में $\frac{3}{4} : \frac{1}{4}$ का अनुपात होना चाहिए। वैसे भी गृहस्थाश्रम $\frac{1}{4}$ भाग है और शेष तीन आश्रम $\frac{3}{4}$ भाग हैं।

टिप्पणियाँ

त्रिपात्— 'संख्यासुपूर्वस्य' (5.4.140) से पाद के 'अ' का लोप हो गया।

व्यक्रामत्— वि + √ क्रम् + लङ् लकार प्रथम पुरुष एक वचन।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।। 5।।

तस्मात्। विऽराट्। अजायत। विऽराजः। अधि। पुरुषः।
सः। जातः। अति। अरिच्यत। पश्चात्। भूमिम्। अथो इति। पुरः।

अन्वय— तस्मात् विराट् अजायत पुरुषः विराजः अधि। जातः सः भूमिम् पश्चात् अथ पुरः अत्यरिच्यत्।

सरलार्थ— उस (पुरुष से) (तस्मात्) विराट् (विराट्) उत्पन्न हुआ (अजायत) वह पुरुष (पुरुषः) (जो) विराट् का (विराजः) अधिष्ठाता है (अधि)। उत्पन्न हुआ (जातः) वह (सः) (विराट्) पृथ्वी के (भूमिम्) पीछे (पश्चात्) और (अथ) आगे (पुरः) व्याप्त हुआ (अत्यरिच्यत्)।

सायण भाष्य— विष्वङ्व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते। तस्मादादिपुरुषाद्विराड्ब्रह्माण्डदेहोऽजायत। उत्पन्नः। विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषस्तद्देहाभिमानी कश्चित्पुमानजायत। सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति। स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव। नृ. ता. 2.1.9। स जातो विराट् पुरुषोऽत्यरिच्यत। अतिरिक्तोऽभूत्। विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चाद्देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज। पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। उस पुरुष अर्थात् परमात्मा से विराट् अर्थात् संसार उत्पन्न हुआ। संसार को विराट् कहा गया है क्योंकि यह विविध प्रकार से सुशोभित होता है 'विविधं राजत इति विराट्'। विविध प्रकार से सुशोभित होने वाले संसार का एकमात्र अधिष्ठाता देव वह आदि पुरुष ही था। फिर वह विराट् भूमि के पीछे आगे सर्वत्र व्याप्त हो गया। इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से अद्वैत वाद का प्रतिपादन किया जा रहा है। उसी पुरुष से संसार उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह हुआ कि संसार उससे भिन्न नहीं है—**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तैतरीयोपनिषद् 2.6) वही इस संससार का मूलभूत कारण है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें उसकी सत्ता न हो **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** वह पृथ्वी के पीछे और आगे है' इसका अभिप्राय यह है कि संसार के कोने कोने में सर्वत्र वही व्याप्त है।

परन्तु सायण ने इसमें द्वैतवाद माना है। उनके अनुसार आदि पुरुष से ब्रह्माण्ड देह (विराट्) उत्पन्न हुआ और उस विराट् अथवा ब्रह्माण्ड देह से उत्पन्न होने वाले पुरुष को **'देहाभिमानी पुमान्'** कहा गया है। वह सर्ववेदान्त वेद्य परमात्मा स्वयं ही अपनी माया से ब्रह्माण्ड रूप विराट् देह रचकर, उसमें जीव रूप में प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव हो गया 'सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्'।

वेलंकर, ग्रिफिथ, गेल्डनर इत्यादि ने 'विराज्' स्त्रीतत्त्व माना है। आदि पुरुष से विराज् अर्थात् स्त्रीतत्त्व की उत्पत्ति हुई। उस स्त्रीतत्त्व से यज्ञीय पुरुष हुआ। इसी यज्ञीय पुरुष की यज्ञ में बलि दी गई जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई। **सर्वात्मक मूल पुरुष व यज्ञीय पुरुष के मध्य का तत्त्व 'विराज्' है। प्रो. लूई** ने विराट् को सृजनात्मक शक्ति कहा है।

इस प्रकार कुछ विद्वानों के अनुसार पुरुष सूक्त में तीन पुरुषों का वर्णन है, आदि पुरुष, विराट् पुरुष तथा उससे उत्पन्न पुरुष जिसे **'देहाभिमानी पुमान्'** कहा गया। **डॉ फतह सिंह** के अनुसार पुरुष सूक्त में वर्णित पहला पुरुष शुद्ध अथवा निष्क्रिय है। विराज् प्रकृति पुरुष है और विराज् से उत्पन्न होने वाला पुरुष प्रकृति से आवृत्त पुरुष है जिसका यज्ञ में बलिदान हो जाने पर सारे विश्व की सृष्टि होती है। (वैदिक दर्शन पृष्ठ 206)

प्रो. योगी के अनुसोर पुरुष तप साधना के द्वारा शक्ति वीर्यादि उत्पन्न करता है और फिर सबको अपने वशीभूत करके जीवन यात्रा करता है। शक्ति का संग्रह करके उसका रक्षण और सदुपयोग करना चाहिए। इस प्रकार दीप्ति तेज से युक्त पुरुष महान् होता है तथा समस्त पृथ्वी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है।

विराळ— वेद में दो स्वरों के बीच आने वाले ड् ळ् में और द् ळह् में परिवर्तित हो जाता है—

अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बहवृचा जगुः।
अज्मध्यस्थ ढकारस्य ळह्कारं वै यथाक्रमम्।।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।। 6।।

यत्। पुरुषेण। हविषा। देवाः। यज्ञम्। अतन्वत।

वसन्तः। अस्य। आसीत्। आज्यम्। ग्रीष्मः। इध्मः। शरत्। हविः।।

अन्वय— यत् पुरुषेण हविषा देवाः यज्ञम् अतन्वन् वसन्तः अस्य आज्यम् ग्रीष्मः इध्मः शरत् हविः आसीत्।

सरलार्थ— जब पुरुष रूप (पुरुषेण) हवि से (हविषा) देवों ने (देवाः) यज्ञ का (यज्ञम्) विस्तार किया (अतन्वन्) (तब) वसन्त (वसन्तः) इसका (अस्य) घी (आज्यम्) ग्रीष्म (ग्रीष्मः) ईंधन (इध्मः) (और) शरद् (शरत्) हवि (हविः) थी (आसीत्)।

सायण भाष्य— यद्यदा पूर्वोक्त क्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात्पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्येन सङ्कल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञमतन्वत अन्वतिष्ठन् तदानीमस्य यज्ञस्य वसन्तो वसन्ततुरिवाज्यमासीत्। अभूत्। तमेवाज्यत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्म आसीत्। तमेवेध्मत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। तथा शरद्धविरासीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। पूर्व पुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन सङ्कल्प इति द्रष्टव्यम्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन यज्ञ के रूपक द्वारा किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष का शरीर ही मूल सामग्री

है। वही उपादान कारण है जिससे जगत् की उत्पत्ति हुई। देवता केवल निमित्त कारण हैं। सृष्टि उत्पन्न करने का कार्य एक यज्ञ है जिसमें पुरुष की बलि दी गई **'देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।'** यह पुरुष सांख्य दर्शन में परमात्मा कहलाया जो अक्रिय है और पृथ्वी से पृथक् है परन्तु पुरुष सूक्त में यह सक्रिय पुरुष है जो इस संसार का उत्पादक है। यहाँ वेदान्त दर्शन के बीज दृष्टिगोचर होते हैं।

यज्ञ से सृष्टि की उत्पत्ति होने के दो अभिप्राय हो सकते हैं (1) सायण के अनुसार पुरुष से विराट् और विराट् से देवतात्मा जीव के उत्पन्न हो जाने पर देवताओं ने उत्तर सृष्टि करने के लिए मानस यज्ञ किया क्योंकि बाह्य हविद्रव्य उत्पन्न नहीं हुए थे। बाह्य हविद्रव्यों के उत्पन्न न होने के कारण पुरुष को ही हवि रूप में कल्पित करके मानस यज्ञ किया गया।

उस यज्ञ में मन में ही वसन्त को घी, ग्रीष्म को ईंधन तथा शरद् को हवि रूप में संकल्पित किया गया। यह यज्ञ वास्तव में नही किया गया था केवल मन से ही इसकी कल्पना कर ली गई थी।

(2) इस की दूसरी व्याख्या यह भी हो सकती है कि वेदों में यज्ञ का विशेष महत्त्व है। यज्ञ को भुवन की 'नाभि' अर्थात् केन्द्रस्थान कहा गया है**'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'** (ऋग्वेद 1.164.35) यज्ञ की एकरूपता सृष्टि के शाश्वत नियम, ऋत और कर्म के साथ ही स्थापित की गई है। सम्भवतः यज्ञ की इस त्रिस्वरूपता के कारण ही वैदिक ऋषियों ने सर्ग का प्रभव भी यज्ञ में ही खोज लिया था (ऋग्वेद के दार्शनिक तत्त्व, डॉ गणेश दत्त शर्मा, पृष्ठ 47)

उब्बट के अनुसार हविषा पुरुषेण का अर्थ है कि दीप्तात्मा योगियों ने दीप्त आत्मा के द्वारा आत्मयज्ञ किया जिसमें वसन्त अर्थात् सत्त्व गुण, ग्रीष्म अर्थात् रजोगुण और शरद् अर्थात् तमो गुण सबका त्याग कर दिया।

वेंकटमाधव के अनुसार वह पुरुष अश्व था। जब उस अश्व रूपी हवि से देवताओं ने यज्ञ किया तो रसों का उत्पादक वसन्त अपनी महिमा से आज्य थी, सबकी शोषक ग्रीष्म ईंधन थी तथा अन्न को उत्पन्न करने वाली शरत् हवि थी।

स्वामी दयानन्द ने वसन्त को पूर्वाह्न, ग्रीष्म को मध्याह्न तथा शरत् को अर्धरात्र माना है।

कुछ विद्वानों के अनुसार विभिन्न ऋतुएँ विभिन्न यज्ञ सामग्री हैं जो काल का प्रतीक हैं। पुरुष संवत्सर अथवा प्रजापति है। अतः अभिप्राय यह है कि देवों ने जो जगत् सृष्टि रूप यज्ञ संपादित किया उसमें सृष्टि का मूल उपादान कारण पुरुष था और विभिन्न ऋतुएँ उस सृष्टि का प्रधान उपकरण थीं। अतः पुरुष ही इस सृष्टि का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण है। उसे संसार की उत्पत्ति के लिए बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं है। और यह संसार उस पुरुष से पृथक् नहीं है, उसी का अंश है।

योगी जी के अनुसार इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य दिव्यशक्तियों के सम्मुख स्वयं को हविरूप में स्थापित करता है तो संसार यज्ञ सफल होता है। आसुरी सम्पद् का त्याग कर दैवी सम्पद् का आश्रय लेना चाहिए।

योगी जी के अनुसार **'वसन्त'**, वसन्तर्तु, प्रभातकाल, शैशव ब्रह्मचर्याश्रम, ब्राह्मण तथा सात्विक गुण है।

'ग्रीष्म' गीष्मर्तु, मध्याह्न, यौवन, गृहस्थाश्रम, क्षत्रिय और रजस् गुण है।

'शरद्' शरदर्तु, सांयकाल, वार्द्धक्य, वानप्रस्थाश्रम, वैश्य तथा तमोगुण है।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।। 7।।

तम्। यज्ञम्। बर्हिषि। प्र। औक्षन्। पुरुषम्। जातम्। अग्रतः।

तेन। देवाः। अयजन्त। साध्याः। ऋषयः। च। ये।

अन्वय— अग्रतः जातम् यज्ञम् तम् पुरुषम् बर्हिषि प्रौक्षन्। तेन साध्याः देवाः च ऋषयः अयजन्त।

सरलार्थ— सबसे पहले (अग्रतः) उत्पन्न (जातम्) यज्ञ साधन रूप (यज्ञम्) उस (तम्) पुरुषम् (पुरुष को) मानस यज्ञ में (बर्हिषि) जल छिड़क कर पवित्र किया (प्रौक्षन्)। उस पुरुष रूप पशु के द्वारा (तेन) सृष्टिसाधनयोग्य (साध्याः) देवताओं ने (देवाः) और (च) ऋषियों ने (ऋषयः) यज्ञ किया (अयजन्त)।

सायण भाष्य— यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन्। प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह। अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तं तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुष इति। तेन

पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त। मानसयागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये सन्ति। ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— तात्पर्य यह है कि सबसे पहले पुरुष अर्थात् आदि पुरुष परमात्मा हुआ जिसकी बलि पशुरूप में देवताओं ने सृष्टि रूपी मानस यज्ञ करने के लिए दे दी। बलि देने से पूर्व जल इत्यादि छिड़क कर उसे पवित्र किया। तत्पश्चात् सृष्टि की रचना करने में समर्थ देवताओं और ऋषियों ने उत्तर सृष्टि की रचना करने के लिए मानस यज्ञ किया। इसका संप्रेषित भाव यह है कि वह आदि पुरुष ही इस संसार का उपादान कारण है। सृष्टि याग करने वालों को मन्त्र में 'साध्याः' कहा गया है जिसका अर्थ सायण ने 'सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः' किया है। इस प्रकार सृष्टि की साधना में लगे हुए पुरोहितों, देवों और ऋषियों द्वारा सम्पन्न इस मानस यज्ञ से सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

उब्बट ने अर्थ किया है कि 'प्राणायाम से दीप्त (बर्हिषा) उस आत्मयज्ञ में पुरुष अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे इन्द्रादि देवताओं और साध्य ऋषियों ने यज्ञ किया। साध्य ऋषि का तात्पर्य है कि प्रणव अधिष्ठित पुरुष के द्वारा ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक ऋषियों ने आत्मयज्ञ किया।

संक्षेप में प्रस्तुत मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सबसे पहले उत्पन्न हुए उस 'आदि पुरुष' को सृष्टि यज्ञ करने के लिए देवताओं तथा साधक ऋषियों ने पवित्र करके यज्ञ में बलिरूप में अर्पित कर दिया जिससे विराट् अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति हुई। और फिर वही आदिपुरुष' सृष्टि का अधिष्ठाता देव भी बन गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी के कारण जीवित रहते हैं व उसी में विलीन हो जाते हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।। (तैतरीयोपनिषद्)

योगी जी ने पुरुष का अर्थ मनुष्य करते हुए कहा है कि तेजशक्तिवीर्यादि गुणों से युक्त मनुष्य ही यज्ञरूप होता है। दिव्य शक्तियाँ इन्हीं व्यक्तियों के त्याग, बलिदान, लोक कल्याण आदि से संसार चक्र चलाती हैं। इनका जीवन 'बर्हि' के समान पवित्र होता है। देवता और ऋषि भी इन्हीं की सहायता से लोककल्याण करते हैं। ऐसे मनुष्य सामान्य लोगों के लिए जीवन में लक्ष्य रूप एवं साध्य रूप होते हैं।

टिप्पणियाँ

प्रौक्षन्— प्र + √ उक्ष्-सेचने, लुङ्लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

बर्हिषि— √ बर्ह्-परिभाषणहिंसादानेषु। बर्ह् + इस् बर्हिस् सप्तमी विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।

पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये।। 8।।

तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। सम्ऽभृतम्। पृषत्ऽआज्यम्।

पशून्। तान्। चक्रे। वायव्यान्। आरण्यान्। ग्राम्याः। च। ये।

अन्वय— सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यम् संभृतम् च ये वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्यान् तान् पशून् चक्रे।

सरलार्थ— सर्वहुत (सर्वहुतः) उस (तस्मात्) यज्ञ से (यज्ञात्) पृषदाज्य (पृषदाज्यम्) संपादित किया गया (संभृतम्) तथा (च) जो (ये) वायव्य (वायव्यान्) आरण्य (आरण्यान्) (तथा) ग्राम्य थे (ग्राम्याः) उन (तान्) पशुओं को (पशून्) बनाया (चक्रे)।

सायण भाष्य— सर्वहुतः। सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन्यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्। तादृशात्तस्मात् पूर्वोक्तान्मानसाद्यज्ञात्पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं सम्भृतम्। सम्पादितम्। दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्व सम्पादितमित्यर्थः। तथा वायव्यान्वायुदेवताकाँल्लोक-प्रसिद्धानारण्यान्पंशूश्चक्रे। उत्पादितवान्। आरण्या हरिणादयः। तथा ये च ग्राम्या गवाश्वादयः तानपि चक्रे। पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते। वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्तरिक्षदेवत्याः खलुर्वै पशवः। वायव एवैनान्परिददाति। तै.ब्रा. 3.2.1.3। इति।

स्पष्टीकरण— वह यज्ञ जो सर्वात्मक पुरुष की आहुति डाले जाने के कारण सर्वहुत था, उससे पृषदाज्य अर्थात् दही घी इत्यादि सभी भोज्य पदार्थ उत्पन्न हुए। दही, घी प्राणियों के पोषक तत्त्व तथा भोज्य पदार्थों का उपलक्षण है। उसी यज्ञ से 'वायु' अरण्य तथा ग्राम में रहने वाले पशु उत्पन्न हुए। व्यवहारिक दृष्टि से वायु में रहने वाले पक्षी कहलाते हैं, पशु नहीं परन्तु तैतरीय ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से कहा गया है 'अन्तरिक्षदेवत्याः खलुर्वै पशवः। वायव एवैनान्परिददाति' (तैतरीय ब्राह्मण 3.2.1.3)

प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि उस यज्ञ से जिसमें पुरुष की बलि दी गई थी, सभी भोज्य पदार्थ व पशु उत्पन्न हुए। इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्म ही समस्त सृष्टि का उपादान कारण है। वही सबका कर्ता, धर्ता व संहर्ता है। उपनिषदों में उसे '**तज्जलन्**', 'तज्ज', 'तदन्' और तल्ल' कहा गया है अर्थात् सब उससे उत्पन्न होता है, उसी में विद्यमान रहता है व उसी में विलीन हो जाता है।

तीन प्रकार के पशु उससे उत्पन्न हुए अर्थात् समस्त पशु सृष्टि उसी से उत्पन्न हुई।

योगी जी ने पुरुष का अर्थ मनुष्य करते हुए कहा है कि ऐसा यज्ञ करने से जिसमें मनुष्य आत्म त्याग कर देता है, सब प्रकार की सांसारिकी, आध्यात्मिकी और वैज्ञानिकी प्रगति होती है। सर्वजनहितरत ऐसा व्यक्ति अभ्युदय और निःश्रेयस् में सामञ्जस्य स्थापित करता है। मनुष्यों की तो बात ही क्या वह पशुओं के लिए भी सुखसाधन जुटाता है। मनुष्य जीवन की पूर्णता पशु पक्षियों के साथ ही है। ऐसा मनुष्य सर्वत्र एकात्मदर्शन करता है।

टिप्पणियाँ

सर्वहुतः— सर्व + √ हु + क्त, पञ्चमी षष्ठी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थ दिए हैं—

सायण— जिसमें सर्वात्मक पुरुष की आहुति दी गई है।

वेलंकर— सभी हविद्रव्यों के साथ-साथ हवन किए गए यज्ञीय पशुरूप हवि से।

वेंकटमाधव— आश्वमेधिक अश्व अर्थात् पुरुष रूप अश्व जिसकी बलि यज्ञ में दी गई।

स्वामी दयानन्द— सबके द्वारा पूजनीय पुरुष से

उब्बट— सर्वहुत आत्मयज्ञ से उत्पन्न तेज से योगी सब पशुओं और प्राणियों को करतलवत् देखते हैं।

अरण्यान्— '**अरण्ये भवाः**' इति अरण्य + अण् प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

वायव्यान्— **वायौ भवा इति**। वायु + ण्यत्, द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

सम्भृतम्— सम् + √ हृ + क्त, प्रथमा द्वितीया विभक्ति, नपुसंकलिङ्ग '**हृग्रहोर्भश्छन्दसि**' से हृ के स्थान पर भ् आदेश हो गया।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद यजुस्तस्मादजायत।। 9।।
तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। ऋचः। सामानि। जज्ञिरे।
छन्दांसि। जज्ञिरे। तस्मात्। यजुः। तस्मात्। अजायत।

अन्वय– तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे। तस्मात् छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुः अजायत।

सरलार्थ– उस (तस्मात्) सर्वहुत (सर्वहुतः) यज्ञ से (यज्ञात्) ऋचाएँ (ऋचः) (तथा) साम (सामानि) उत्पन्न हुए (जज्ञिरे)। उससे (तस्मात्) छन्द (छन्दांसि) उत्पन्न हुए (जज्ञिरे) (और) उससे (तस्मात्) यजु (यजुः) उत्पन्न हुए (अजायत)।

सायण भाष्य– सर्वहुतस्तस्मात्पूर्वोक्ताद्यज्ञादृचः सामानि जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्माद्यज्ञाच्छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्माद्यज्ञाद्यजुरप्यजायत।

स्पष्टीकरण– उस सर्वहुत यज्ञ से जिसमें सर्वात्मक पुरुष की हवि डाली गई सब की उत्पत्ति बतलाते हुए प्रस्तुत मन्त्र में ऋक्, साम और यजु इन तीनों वेदों की तथा छन्दों की उत्पत्ति भी उसी से बतलाई गई है। ऋक्, साम और यजु समस्त ज्ञान के प्रतीक हैं। सर्वज्ञानमय वेद भी उसी से उत्पन्न हुए। गायत्री, जगती, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुब्, अनुष्टुब् तथा उष्णिक् ये सात वैदिक छन्द हैं जिनमें समस्त वैदिक साहित्य निबद्ध है

'छन्द' का अर्थ प्रायः सभी विद्वानों ने सात छन्द किया है परन्तु पीटर्सन ने इसका अर्थ 'अथर्ववेद' किया है जबकि **ग्रासमैन ने इसका अर्थ** Spells and Charms किया है। इससे उनके मन में भी अथर्ववेद की कल्पना ही निश्चित होती है क्योंकि अथर्ववेद ही मुख्य रुप से जादू टोने का वेद है। **स्वामी दयानन्द ने भी इसका अर्थ 'अथर्ववेद' ही किया है।**

यदि हम इन विद्वानों का मत स्वीकार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल की रचना होने तक अथर्ववेद की रचना हो चुकी होगी परन्तु इसके विपरीत जो विद्वान अथर्ववेद को 'वेदत्रयी' में सम्मिलित नहीं करते अथवा इसे परवर्तीकाल की रचना मानते हैं, उनका मत भी इस मन्त्र से पुष्ट होता है क्योंकि इसमें ऋक्, साम और यजु का उल्लेख तो है परन्तु अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है।

अथर्ववेद का उल्लेख न होने से उन विद्वानों का मत भी प्रमाणित होता है जो वेदों को 'अपौरुषेय' मानते हैं और तीन ही वेद स्वीकार करते हैं। वे वेदत्रयी को ही अपौरुषेय मानते हैं क्योंकि अथर्ववेद को तो वे वेद में शामिल ही नहीं करते। इस प्रकार यह मन्त्र वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है।

परन्तु यह निश्चित सा ही प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में छन्द का अर्थ' अथर्ववेद नहीं हो सकता क्योंकि उसकी उत्पत्ति यजु से पहले बतलाई गई है और यजु से पूर्व अथर्ववेद की उत्पत्ति का निर्देश तो आजतक किसी भी विद्वान् द्वारा नहीं किया गया है। अतः 'छन्द' का अर्थ 'छन्द' करना ही अधिक उपयुक्त और प्रसङ्गानुकूल है।

ऋचः का अर्थ है 'ऋच्यते स्तूयते वानया इति ऋक्।

साम का अर्थ है **'समयति सन्तोषयति देवान् अनेनेति'** अर्थात् जो सस्वर मन्त्रों द्वारा अथवा सङ्गीतपरक वाणी द्वारा देवताओं को प्रसन्न करता है

यजुः का अर्थ है **'शेषे यजुः'**। इसमें यज्ञ को सम्पादित करने की विधि है।

ये तीनों वेद परस्पराश्रित हैं तथा एक दूसरे के पूरक हैं। प्रस्तुत मन्त्र में 'यजुः' पृथक् निर्दिष्ट है, ऋक् और साम के साथ नहीं। सम्भवतः इसका कारण यह हो कि ऋक् और साम पद्य में हैं जबकि यजुर्वेद गद्य में है **'गद्यात्मको यजुः'**।

उब्बट ने अर्थ किया है 'इस प्रकार आत्मयज्ञ में उत्पन्न ज्ञान से मनुष्य स्वयं ही ज्ञानाधिष्ठित हो जाता है।

योगी जी ने ऋचः का अर्थ शास्त्रीय ज्ञान, साम का अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान, छन्द का अर्थ काव्य तथा यजु का अर्थ लौकिक कर्म जातकर्मकाण्ड इत्यादि किया है। उनके अनुसार सर्वविधज्ञान का आविर्भाव महापुरुषों के हृदय में ही हो जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के हृदय में विभिन्न ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। प्रत्येक युग में महापुरुष उत्पन्न होते हैं और उनकी वाणी विश्वमार्गप्रदर्शिका होती है।

जज्ञिरे— √ ज्ञा-अववोधने, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सर्वहुतः— दृष्टव्य मंत्र 8।

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः।
गावो॑ ह जज्ञि॒रे तस्मा॒त तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑।। 10।।

तस्मात्। अश्वाः। अजायन्त। ये। के। च उभयादतः।
गावः। ह। जज्ञिरे। तस्मात्। जाताः। अजावयः।

अन्वय— तस्मात् अश्वा अजायन्त च ये के उभयादतः तस्मात् ह गावः जज्ञिरे तस्मात् अजावयः जाताः।

सरलार्थ— उससे (तस्मात्) (अर्थात् सर्वहुत यज्ञ से) घोड़े (अश्वाः) उत्पन्न हुए (अजायन्त) तथा (च) जिनके (ये के) ऊपर और नीचे दोनों में दाँतों की पंक्तियाँ हैं (उभयादतः) (वे भी उत्पन्न हुए) उससे (तस्मात्) गाएँ (गावः) उत्पन्न हुईं (जज्ञिरे) उससे (तस्मात्) बकरी और भेड़ (अजावयः) उत्पन्न हुए (जाताः)।

सायण भाष्य—तस्मात्पूर्वोक्ताद्यज्ञादशवा अजायन्त। उत्पन्नाः तथा ये के चाश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्चोभयादत ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्माद्यज्ञाद् गावश्च जज्ञिरे। किञ्च तस्माद्यज्ञादजावयश्च जाताः।

स्पष्टीकरण—सर्वहुत यज्ञ से उत्पन्न होने वाले पदार्थों की शृखंला को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि उससे सभी प्रकार के पशु उत्पन्न हुए। तेज गति से दौड़ने वाले, सवारी के काम आने वाले पशु तथा जिनके दाँतों की ऊपर नीचे दो पंक्तियाँ हैं, ऐसे अश्वादि भी उससे उत्पन्न हुए। गाय इत्यादि घरेलू पशु भी उससे उत्पन्न हुए और अन्य भेड़ बकरियाँ भी उसी से उत्पन्न हुईं। संक्षेप में समस्त पशुजगत् का भी एकमात्र कारण वही पुरुष है **'पुरुष एवेदं सर्वम्'**।

योगी जी ने पुरुष का अर्थ मनुष्य करते हुए कहा है कि वीर्यतेजत्याग से युक्त तथा सर्वहितरत मनुष्य के कारण ही ये सब पशु जन्म लेते हैं क्योंकि ऐसा मनुष्य ही उनकी सुख सुविधाओं के साधन जुटाता है। अथवा उसी मनुष्य का जन्म सफल है जिसके घर में गाय अश्वादि पशु होते हैं जो उनके भरण पोषण की समुचित व्यवस्था करता है। इन गृह पशुओं के बिना मनुष्य का विकास नहीं होता।

टिप्पणियाँ

अजावयः— अजाश्च अवयश्च अजावयः। द्वन्द्व समास प्रथमा विभक्ति बहुवचन।

उभयादतः— इसे दो प्रकार से व्युत्पन्न किया जा सकता है **'उभयोः दन्ताः येषां ते'** अथवा 'उभयतः अदन्ति ये ते'। बहुव्रीहि समास होने के कारण 'दन्त्' को 'दत्' आदेश हो गया। प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।

मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते।। 11।।

यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः। कतिधा। वि। अकल्पयन्।

मुखम्। किम्। अस्य। कौ। बाहू इति। कौ। ऊरू इति। पादा। उच्येते इति।

अन्वय— यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। अस्य मुखम् किम् बाहू कौ ऊरू पादौ कौ उच्येते।

सरलार्थ— जब (यत्) (देवताओं ने) पुरुष को (पुरुषम्) सङ्कल्प से उत्पन्न किया (व्यदधुः) (तो) कितने प्रकार से (कतिधा) कल्पना की (वि अकल्पयत्)। इसका (अस्य) मुख (मुखम्) क्या है (किम्) भुजाएँ (बाहू) क्या हैं (कौ) जाँघें (ऊरु) (और) पैर (पादौ) किन्हें (कौ) कहा जाता है (उच्येते)।

सायण भाष्य— प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यद्यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः सङ्कल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैर्व्यकल्पयन्। विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत्। कौ बाहु अभूताम्। का ऊरू। कौ च पादावुच्येते। प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चान्मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में प्रश्न किया गया है कि जब देवताओं ने मानस यज्ञ करके सङ्कल्प से पुरुष को उत्पन्न किया तो कितने प्रकार से उन्होंने उसके अवयवों की कल्पना की। उसके विभिन्न अङ्ग क्या थे।

योगी जी के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में यह जिज्ञासा प्रकट की गई है कि मनुष्य के शरीर में विभिन्न अङ्गों की क्या स्थिति है, क्या गुण हैं और क्या कार्य हैं। किस अङ्ग से क्या कार्य करके मनुष्य यथार्थ में मनुष्य कहलाता है।

टिप्पणियाँ

व्यदधुः— वि + $\sqrt{}$ धा + लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

व्यकल्पयन्— वि + $\sqrt{}$ क्लृप्-सामर्थ्ये, लङ्लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। 12।।

ब्राह्मणः। अस्य। मुखम्। आसीद्। बाहू इति। राजन्यः। कृतः।
ऊरू इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्यः। पत्ऽभ्याम्। शूद्रः। अजायत।

अन्वय— ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत् बाहू राजन्यः कृतः। यत् वैश्यः तत् अस्य ऊरू पद्भ्याम् शूद्रः अजायत।

सरलार्थ— ब्राह्मण (ब्राह्मणः) इसका (अस्य) मुख (मुखम्) था (आसीत्) दो भुजाएँ (बाहू) क्षत्रिय (राजन्यः) बना दी गईं (कृतः)। जो (यत्) वैश्य हैं (वैश्यः) वह (तत्) इसकी (अस्य) जाँघे हैं (ऊरू) (और) दोनों पैरों से (पद्भ्याम्) शूद्र (शूद्रः) उत्पन्न हुआ (अजायत)।

सायण भाष्य— इदानी पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति। अस्य प्रजापतेर्ब्राह्मणो ब्रह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषो मुखमासीत्। मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान्पुरुषः स बाहूकृतः। बाहुत्वेन निष्पादितः। बाहूभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यदूरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः। ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान्पुरुषोऽजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्रह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे च मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत। तै.सं. 7.1.14। इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में पूर्व मन्त्र में किए गए प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। पूर्वोक्त मन्त्र में प्रश्न किया गया था कि उस पुरुष का मुख, भुजाएँ, जाघें और पैर क्या थे। यहाँ उत्तर दिया गया है कि ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय उसके दो हाथ, वैश्य दो जाँघे तथा शूद्र पैर थे। वस्तुतः यहाँ मानव समाज को पुरुष रूप में चित्रित किया गया है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर में सभी अङ्गों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार कर्मों व गुणों के अनुरूप बनाए गए चार वर्णों का भी समाज में अपना-अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ध्यातव्य है कि वैदिक युग में यह वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं अपितु कर्म व गुण से निर्धारित होती थी।

जो भी यजन याजन, अध्ययन अध्यापन का कार्य करता था, ब्राह्मण कहलाता था और उसकी उत्पत्ति मुख से मानी गई क्योंकि इन कार्यों को करने

के लिए मुख सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। क्षत्रियों का कार्य राष्ट्र की रक्षा करना था जिसमें बाहुबल की सर्वाधिक आवश्यकता थी अतः क्षत्रियों को भुजाओं से उत्पन्न मान लिया गया। वैश्य का कार्य व्यापार करना था जिसमें चलना पड़ता था अतः उन्हें 'ऊरू' से उत्पन्न माना गया। और जिस प्रकार समस्त शरीर का आधार पैर हैं, वे ही सबसे अधिक परिश्रम करते हैं उसी प्रकार समाज का आधार अन्य जाति थे। रस्सी बुनना, बढ़ई, नाविक, लोहार, कृषक, स्वर्णकार, चर्मकार, रथकार, जैसे लघु उद्योग धन्धों द्वारा वे समाज की दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करते थे।

व्यवसाय परिवर्तन से वर्ण परिवर्तन भी हो जाता था। यजन याजन पठन पाठन में व्यापृत्त अन्य जाति को भी ब्राह्मण कहा जाता था तो लघु उद्योग धन्धे करने वाला ब्राह्मण भी अन्य जाति कहा जाता था। गीता में भी स्पष्ट कहा गया है—

'चातुवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'।

यदि गुणकर्मानुसार वाली वर्ण व्यवस्था आज भी प्रचलित होती और यदि वर्णनिर्धारण जन्म से न होकर गुण और व्यवसाय से होता तो आज जातिभेद को लेकर उत्पन्न होने वाली सैंकड़ों समस्याएँ उत्पन्न ही नहीं होती। जिस प्रकार शरीर के अङ्गों में कोई श्रेष्ठता अथवा न्यूनता नहीं है उसी प्रकार इन चारों वर्णों में कोई श्रेष्ठता अथवा न्यूनता नहीं है। समाज में चारों का ही बराबर महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ऋग्वेद में प्रथम बार इस मन्त्र में चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है।

योगी जी के अनुसार मानव शरीर भी समाज रूपी शरीर के समान चार भागों से युक्त है। मनुष्य शरीर में यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्य जाति इन चारों के गुण हैं तभी वह पूर्ण मनुष्य होता है। विचार शक्ति और त्याग ब्राह्मण के, आर्तों की रक्षा क्षत्रियों का, भौतिक सुख समृद्धि का उपार्जन वैश्यों का तथा घोर परिश्रम अन्य जाति के गुण हैं। मनुष्य का इन चारों से युक्त होना अनिवार्य है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।। 13।।

चन्द्रमाः। मनसः। जातः। चक्षोः। सूर्यः। अजायत।
मुखात्। इन्द्रः। च। अग्निः। च। प्राणात्। वायुः। अजायत।

अन्वय— चन्द्रमा मनसः जातः सूर्यः चक्षोः अजायत। इन्द्रः च अग्निः। च मुखात्। च वायुः प्राणात् अजायत।

सरलार्थ— चन्द्रमा (चन्द्रमाः) मन से (मनसः) उत्पन्न हुआ (जातः) सूर्य (सूर्यः) चक्षु से (चक्षुषोः) उत्पन्न हुआ (अजायत) इन्द्र (इन्द्रः) और (च) अग्नि (अग्निः) मुख से (मुखात्) और (च) वायु (वायुः) प्राण से (प्राणात्) उत्पन्न हुआ (अजायत)।

सायण भाष्य— ~~स्था~~-दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह। प्रजापतेर्मनसः सकाशच्चन्द्रमा जातः। चक्षोश्च चक्षुषः सूर्योऽप्यजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ। अस्य प्राणाद्वायुरजायत।।

स्पष्टीकरण— उस आदि पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। मन और चन्द्रमा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पागल व्यक्ति को Lunatic कहा जाता है तो चन्द्रमा से सम्बन्धित वस्तुओं को Lunar यह विश्वास किया जाता है कि चन्द्रमा के घटने बढ़ने के साथ-साथ पागलपन भी घटता बढ़ता है। यही कारण है कि पूर्णमासी के दिन किसी भी पागल का पागलपन चरम सीमा पर होता है। इसके अतिरिक्त इसका यह अभिप्राय भी है कि मनन सामर्थ्य से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ।

चक्षु से सूर्य का सम्बन्ध स्पष्ट है। सूर्य को संसार का चक्षु कहा गया है **'सविता देवो याति भुवनानि पश्यन्'** तथा **'सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षुः'** इत्यादि। 'सूर्य के प्रकाश के सेवन से आँखों की ज्योति बढ़ती है' ऐसा प्राकृतिक चिकित्सकों व आयुर्वेदिक वैद्यों का कहना है। 'चक्षु सूर्य के समाज तेजोमय हो' यह प्रार्थना पौनः पुन्येन की गई है। अतः चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति मानी गई है।

इन्द्र और अग्नि की उत्पत्ति मुख से हुई। अग्नि वर्चस्विता, तेजस्विता, वनों की भक्षणता आदि गुणों से युक्त है। ये मुख के गुण हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि का सम्बन्ध वाणी से है। वाणी के लिए अग्नि के समाज तेजोमयी व समुज्ज्वल होने की प्रार्थना की गई है। वाणी का सम्बन्ध मुख से है अतः अग्नि की उत्पत्ति मख से मानना सर्वथा उचित है।

परन्तु इन्द्र वेदों में वर्षा अथवा तूफान का या युद्ध का देवता माना गया

है अथवा यह सूर्य का वाचक भी है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र 'मन' है। इसकी उत्पत्ति मुख से क्यों मानी गई, यह अधिक स्पष्ट नहीं है। हाँ यह सम्भव हो सकता है कि युद्ध करते समय योद्धा चिल्लाते हैं, एक दूसरे को ललकारते हैं और यह सब वाणी से होता है, वाणी का सम्बन्ध मुख से है अतः इन्द्र की उत्पत्ति भी मुख से मान ली गई हो।

आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र 'मन' है और वाणी तथा मन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन द्वारा सोचे गए विचारों को प्रकट करने का माध्यम वाणी ही है और चूंकि वाणी जिह्वा से बोली जाती है और जिह्वा मुख में रहती है। इस कारण इन्द्र को मुख से उत्पन्न हुआ मान लिया गया हो।

प्राण से वायु की उत्पत्ति सर्वथा उचित है। शरीर में प्राणतत्त्व वायु ही है। प्राणवायु के द्वारा ही मनुष्य प्राण धारण करता है।

संक्षेप में प्रस्तुत मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वह पुरुष केवल मनुष्य, पशु-पक्षी, देवलोक इत्यादि का ही निर्माता नहीं है अपितु प्राकृतिक वस्तुएँ सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि इत्यादि भी उसी के द्वारा अनुप्राणित हैं। कठोपनिषद् में भी कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। (कठ. 2.2.15)

योगी जी के अनुसार इस मन्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य अपनी विभिन्न शक्तियों का विकास कैसे करे। मन चन्द्रमा के समान शीतल व प्रसन्नता प्रदान करने वाला हो। चक्षु सूर्य के समान तेजोमयी हो। प्रकाश ज्ञान का भी प्रतीक है अतः चक्षु ज्ञानमय हो। मनुष्य की वाणी अग्नि के समान तेजोमयी व अज्ञान का नाश करने वाली हो। और मनुष्य के प्राण इस प्रकार सशक्त हों कि वह सर्वत्र जाकर दूर-दूर से भी गुण रूपी सुगन्ध को अपने अन्दर स्थापित कर ले।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्।। 14।।

नाभ्याः। आसीत्। अन्तरिक्षम्। शीर्ष्णः। द्यौः। सम्। अवर्तत।
पत्ऽभ्याम्। भूमिः। दिशः। श्रोत्रात्। तथा। लोकान्। अकल्पयन्।

अन्वय— नाभ्याः अन्तरिक्षम् आसीत् शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत। पद्भ्याम्

भूमिः श्रोत्रात् दिशः तथा लोकान् अकल्पयन्।

सरलार्थ— नाभि से (नाभ्याः) अन्तरिक्ष (अन्तरिक्षम्) बना (आसीत्) सिर से (शीर्ष्णः) द्युलोक (द्यौः) प्रकट हुआ (समवर्तत)। पैरों से (पद्भ्याम्) भूमि (भूमिः) (तथा) कान से (श्रोत्रात्) दिशाएँ (दिशः) बनीं। इस प्रकार (तथा) लोकों की (लोकान्) रचना की (अकल्पयन्)।

सायण भाष्य— यथा चन्द्रादीन्प्रजापतेर्मनः प्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथान्तरिक्षादीँल्लोकान्प्रजापतेर्नाभ्यादिभ्यो देवा अकल्पयन्। सम्पादितवन्तः। एतदेव दर्शयति नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेरन्तरिक्षमासीत्। शीर्ष्णः शिरसो द्यौः समवर्तत। उत्पन्नम्। अस्य पद्भ्यां भूमिरुत्पन्ना। अस्य श्रोत्राद्दिश उत्पन्नाः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में तीनों लोकों की तथा दिशाओं की रचना का वर्णन है। नाभि शरीर के मध्य भाग में है अतः मध्यम लोक-अन्तरिक्ष लोक की उत्पत्ति नाभि से कल्पित की गई। सिर सब से ऊपर है अतः सबसे उन्नत द्युलोक की उत्पत्ति उससे हुई। जिस प्रकार द्युलोक प्रकाशमय है उसी प्रकार मनुष्य का सिर अर्थात् मस्तिष्क भी ज्ञानालोक से आलोकित हो। ज्ञान, विज्ञान, चिन्तन, धारण शक्ति ये सब मन के विषय हैं। तुलनीय— **'यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु'** (वाजसनेयी संहिता 34.3) पैर शरीर में सबसे नीचे होने पर भी समस्त शरीर का आधार हैं। उनके बिना मनुष्य खड़ा भी नहीं रह पाता, चलने की बात तो बहुत दूर है। उसी प्रकार पृथ्वी लोक सब लोकों का आधार है। उसके बिना अन्तरिक्ष और स्वर्ग की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त पृथ्वी निवासी ही आहुतियों द्वारा अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय देवताओं को भी धारण करते हैं। जिस प्रकार दिशाएँ दूर-दूर तक फैली हुई हैं उसी प्रकार हमारे कान भी दूर-दूर से विविधज्ञान का संग्रह करते हैं।

संक्षेप में यह मन्त्र इसी बात की पुष्टि करता है कि अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पृथ्वी लोक का निर्माता भी वही पुरुष है **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है **'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः'** (कठोपनिषद् 1.3.11)

योगी जी ने पुरुष का अर्थ मनुष्य करते हुए कहा है कि मनुष्य अन्तरिक्ष के समान सर्वव्यापी हो, वह सबकी उदरपूर्ति के लिए उद्यत हो। द्युलोक के समान उसका सिर ज्ञानालोक से परिपूर्ण हो व वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से प्रेरित रहे। उसके श्रोत्र ज्ञान संग्रह में तत्पर रहें।

टिप्पणी

शीर्ष्णः—'शीर्षंच्छन्दसि' सूत्र से 'शिरस्' के स्थान पर 'शीर्षन्' आदेश हो गया।

स॒प्तास्या॑सन्परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न्पुरु॑षं प॒शुम्॥ 15॥

स॒प्त। अ॒स्य॒। आ॒स॒न्। प॒रिऽधयः॑। त्रिः। स॒प्त। स॒म्ऽइधः॑। कृ॒ताः।
दे॒वाः। यत्। य॒ज्ञम्। त॒न्वा॒नाः। अब॑ध्नन्। पुरु॑षम्। प॒शुम्।

अन्वय— अस्य सप्त परिधय आसन् त्रिः सप्त समिधः कृताः। यद् यज्ञं तन्वानाः देवाः पुरुषं पशुम् अबध्नन्।

सरलार्थ— इसकी (अस्य) सात (सप्त) परिधियाँ (परिधयः) थीं (आसन्) और इक्कीस (त्रिःसप्त) समिधाएँ (समिधः) बनाई गईं (कृताः)। जब (यद्) यज्ञ (यज्ञम्) करने वाले (तन्वानाः) देवताओं ने (देवाः) पुरुष को (पुरुषम्) पशु रूप में (पशुम्) बाँधा (अबध्नन्)।

सायण भाष्य— अस्य साङ्कल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्तच्छन्दांसि परिधय आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः। परिधिप्रतिनिधिरूपः। अत एवाम्नायते। स पुरस्तात्परिध्यादित्यादित्यादित्यो ह्येवोद्यन्पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्तीति। तत एव आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्तच्छन्दोरूपाः। तथा समिधस्त्रिः सप्त त्रिगुणीकृतसप्तसङ्ख्याका एकविंशतिः कृताः। द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः। तै. सं. 5.1. 10.3। इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेनत्वेन भाविताः। यद्यः पुरुषौ वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पशुमबध्नन्। विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र यत्पुरुषेण हविषेत्युक्तम्

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में मानस अथवा सांकल्पिक यज्ञ की तैयारी का वर्णन है। जिसका निर्देश इसी सूक्त के पूर्वगत मन्त्रों में आया है **'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत'**। उस मानस यज्ञ में देवताओं ने बलि देने के लिए उस आदि पुरुष को ही पशु रूप में बँधा हुआ कल्पित कर उसी को हवि रूप में अर्पित कर दिया। उस यज्ञ में सात छन्द-गायत्री, जगती, बृहती, पंक्ति, अनुष्टुब्, त्रिष्टुब् तथा उष्णिक् सात परिधियाँ थीं। छन्द को यज्ञ का रक्षक कहा गया है

'छादयति आवृणोति मन्त्रप्रतिपाद्ययज्ञादीन् इति छन्दः'। यज्ञ का रक्षक होने के कारण छन्दों को यज्ञ की परिधि माना गया है। 12 मास, पाँच ऋतुएँ तीन लोक तथा आदित्य 21 समिधाएँ हैं। तैतरीय संहिता में भी कहा गया है 'द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' (तैतरीय संहिता, 5.1.10.3)

स्वामी दयानन्द के अनुसार 21 समिधाएँ— प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पञ्चसूक्ष्मभूत, पञ्चस्थूल भूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा सत्त्व, रजस्, तमस् हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार संवत्सर, 12 मास, 6 ऋतुएँ, रात्रि और दिन ये 21 समिधाएँ हैं।

प्रस्तुत मन्त्र से भी स्पष्ट है कि वह पुरुष जिसकी सृष्टि रूपी यज्ञ में हवि डाली गई, इस समस्त संसार का उपादान कारण है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है 'पुरुष एवेदं सर्वम्' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि।

योगी जी के अनुसार जीवन रूपी यज्ञ की सात परिधियाँ हैं— पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। यजुर्वेद में भी कहा गया है 'येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु'। (वाजसनेयी संहिता 34.4)। इस जीवन रूपी यज्ञ में मनुष्य का मन अथवा आत्मा पशु के समान बँधी हुई अर्थात् नियन्त्रित रहनी चाहिए। यम नियमादि से संयमित मनुष्य ही जीवन का भारी बोझ उठाने में समर्थ होता है।

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑ः सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥ 16॥

य॒ज्ञेन॑। य॒ज्ञम्। अ॒य॒ज॒न्त॒। दे॒वाः। तानि॑। धर्मा॑णि। प्र॒थ॒मानि॑। आ॒स॒न्।
ते। ह॒। नाक॑म्। म॒हि॒मान॑ः। स॒च॒न्त॒। यत्र॑। पूर्वे॑। सा॒ध्याः। सन्ति॑। दे॒वाः।

अन्वय— देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त तानि प्रथमानि धर्माणि आसन्। ते ह महिमानः सचन्तः नाकम् यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति।

सरलार्थ— देवताओं ने (देवाः) यज्ञ से (यज्ञेन) यज्ञ (यज्ञम्) किया (अयजन्त) वे (तानि) प्रमुख (प्रथमानि) धर्म (धर्माणि) थे (आसन्)। वे (ते) निश्चितरूप से (ह) महत्त्व से (महिमानः) युक्त होकर (सचन्तः) दुःख से रहित स्वर्ग को (नाकम्) (प्राप्त करते हैं) जहाँ (यत्र) प्राचीन (पूर्वे) साध्य (साध्याः) देव (देवाः) हैं (सन्ति)।

सायण भाष्य— पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं सङ्क्षिप्यात्र दर्शयति। देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त। पूजितवन्तः। तस्मात्पूजनात्तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यान्यासन्। एतावता सृष्टि प्रतिपादकसूक्तभागर्चः सङ्गृहीतः। अथोपासन तत्फलानुवादकभागार्थः सङ्गृह्यते। यत्र यस्मिन्विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्ति-साधका देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तन्नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानस्तदुपासका महात्मानः सचन्त। समवयन्ति प्राप्नुवन्ति।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में त्रिष्टुब् छन्द है। इस में पूर्वोक्त बात को ही संक्षेप से कहा गया है कि देवताओं ने उत्तरसृष्टि की रचना के लिए बाह्य हव्य पदार्थों के उत्पन्न न होने के कारण मानस यज्ञ किया और उसमें आदि पुरुष की पशु रूप में बलि दे दी। उससे विराट् अर्थात् संसार की उत्पत्ति हुई (**विविधं राजत इति विराट्**)। देवताओं ने भी उस पुरुष की पूजा की। विद्वानों ने ईश्वर पूजन इत्यादि सबको धारण करने वाले जिन धर्मों को प्रतिपादित किया, वही प्रमुख धर्म बन गए। जो मनुष्य इनका पालन करते हैं, वे सुखस्वरूप उस लोक को (नाकः) प्राप्त कर लेते हैं जहाँ परिश्रम करने वाले देव पहले से ही विद्यमान हैं। **'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः'** (माध्यन्दिन् शतपथ 10.2.2.2)। कहने का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य शास्त्रोक्त कर्म करते हैं, अपने जीवन को परिधियुक्त अर्थात् मर्यादित रखते हैं, वे सुख प्राप्त करते हैं और उस दिव्य धाम को जाते हैं जहाँ देवता आनन्दित होते हैं— **देवासो यत्र मदन्ति।**

यज्ञ से यज्ञ करने का अभिप्राय यह है कि देवताओं ने मानस यज्ञ करके और पुरुष रूपी पशु की बलि देकर सृष्टि रूपी यज्ञ का विस्तार किया अर्थात् पुरुष रूप यज्ञ से सृष्टि रूप यज्ञ का सम्पादन किया। अर्थात् पुरुष ही इस संसार का उपादान कारण है और उस मानस यज्ञ से उद्भूत यह सृष्टि उसी का ही $\frac{1}{4}$ अंश है। यह उससे किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है क्योंकि उसने ही इसे उत्पन्न किया और वही इसमें व्याप्त हुआ **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**।

योगी जी के अनुसार वही दिव्य, देवप्रेरित, देवनियोजित और देवमय जीवन है जो यज्ञमय अर्थात् परोपकार करने वाला है। परोपकार ही संसार को धारण करता है जो दिव्यसाधना करते हैं वही महामहिमशाली होते हैं।

卐 卐 卐

धनान्नदानम् (ऋग्वेद, 10.117)

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 117वाँ सूक्त है। इस सूक्त का देवता '**धनान्नदानम्**' है। **ऋषि भिक्षुर्नामाङ्गिरस** है। प्रथम और द्वितीय मंत्र में जगती छन्द है जिसमें चार पंक्तियाँ होती हैं और प्रत्येक पंक्ति में 12-12 अक्षर होते हैं। शेष सांत मन्त्रों में **त्रिष्टुब् छन्द** है। त्रिष्टुब् में चार पाद होते हैं व प्रत्येक में 11-11 अक्षर होते हैं।

'धनान्नदानम्' का अर्थ है धन और अन्न का दान। वैदिक संस्कृति में दान का बहुत महत्त्व है। ऋग्वेद में तीस सूक्त ऐसे हैं जो 'दानस्तुति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें राजाओं तथा संरक्षकों की प्रशंसा की गई है जो उदार हृदय से दान देते थे। ये सूक्त उस समय की सामाजिक अवस्था पर भी प्रकाश डालते हैं। इनसे पता चलता है समाज में दानी एवं उदार व्यक्तियों का होना परमावश्यक है। विशेष रुप से एक गृहस्थी को तो दान प्रवण होना ही चाहिए। पूषन् देवता से मानव हितैषी, वीर एवं दानी गृहपति देने की प्रार्थना की गई है— **'अभिनो नर्यं वसुवीरं प्रयतदक्षिणम्। वामं गृहपतिं नय'।।**
दान देने वाले को श्रेष्ठ माना गया है एवं उसके प्रति सम्मान प्रकट किया गया है।

प्रस्तुत सूक्त में दानशीलता की प्रशंसा की गई है। वस्तुतः वेद मे धन के लिए प्रायः **'रयिम्'** शब्द का ही प्रयोग हुआ है जो $\sqrt{}$ रा— दाने से निष्पन्न है। उस समय धन का मुख्य प्रयोजन दान देना ही था। यह धन समान्य धन, विद्या धन, अन्न धन, मैत्री धन आदि किसी भी प्रकार का हो सकता था। वैदिक आर्यो की यह मान्यता थी कि धन के आदान प्रदान से ही सामाजिक संतुलन बना रहता है। जमाखोरी की प्रवृत्ति से अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है और सामाजिक ढाँचा चरमरा जाता है। इसी कारण इन्द्र से भी दान न देने वालों का धन हमें लाकर देने की प्रार्थना की गई है **'अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर'** (ऋग्वेद 1.81.9)

यह ध्यातव्य है कि शत्रु के पर्याय शब्द 'अरि' अथवा 'अराति' है और दोनों का मूल अर्थ ही 'दान न देने वाला' है।

वैदिक संस्कृति यज्ञ प्रधान है। यज्ञ का अर्थ भी परोपकार ही है। यज्ञ में ब्राह्मणों को दक्षिणा देना दान का उत्कृष्ट रुप है। ऋग्वेद के 10.107 में दक्षिणा एवं दक्षिणा देने वाले की महिमा का वर्णन किया गया है। एक तरफ देवताओं के लिए हवि अर्पित की जाती थी तो दूसरी तरफ उनसे यजमानों के लिए सुख समृद्धि, धन धान्य, पुत्र पौत्रादि की कामना भी की जाती थी। देवता और मनुष्य दोनों के परस्पर आदान प्रदान से स्वर्ग लोक और पृथ्वी लोक टिके हुए हैं। रघुवंश में कालिदास ने इस तथ्य को काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्।। (रघुवंश 1.26)

देवताओं के निर्वचन में भी सबसे अधिक महत्त्व दान को ही दिया गया है **'देवो दानात्'**। धनसंग्रह करने वालों की पग पग पर निन्दा व भर्त्सना की गई है। ऋग्वेद में दानी व्यक्ति के स्वर्ग में अधिष्ठित होने का उल्लेख है-

नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो यः पृणाति सह देवेषु गच्छति। (ऋग्वेद 1.125.5) (अर्थात जो अपने आश्रित मनुष्यों को धन धान्य से परिपूर्ण करते हैं, वे सभी प्रकार के स्वर्गीय आनन्द को प्राप्त करते हैं) उदार दानियों द्वारा अमृतत्वप्राप्ति का वर्णन है **'दक्षिणवन्तो अमृतं भजन्ते'** (ऋग्वेद 1.125.6) ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में परस्पर सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन की प्रशंसा है-

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। (ऋग्वेद 10.191.4)

प्रस्तुत 'धनान्नदानम्' सूक्त में स्पष्ट रुप से कहा गया है कि धन और अन्न का दान देने में धनी व्यक्ति को कृपणता नहीं दिखानी चाहिए। जब मृत्यु भी सब को ही आनी है और जब धन किसी एक के पास नहीं रहता तो दान देकर, प्रार्थी की आवश्यकता पूरी करके धन का सदुपयोग करना चहिए। इससे दानी को इहलौकिक और परलौकिक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है। जो कृपण दान नहीं देता उसका कोई भी मित्र, बन्धु, स्वजन अथवा आत्मीय नहीं होता। सब उसे छोड़ कर चले जाते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः अकेला व्यक्ति इस संसार में कभी प्रसन्न नहीं रह सकता और दान न देने से सुकर्मों के फल से भी वञ्चित रह जाने के कारण पारलौकिक सुख भी प्राप्त नहीं कर सकता। कहा गया हैं **केवलाघो भवति केवलादी'** अर्थात अकेला खाने वाला

पाप ही खाता है। पूषन देवता को सम्बोधित एक मन्त्र में अदानी व्यक्ति को दान देने के लिए प्रेरित करने की और कृपण व्यापारी के मन को भी कोमल बनाने की प्रार्थना की गई है

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन दानाय चोदय। पणेश्चिद् बिभ्रदा मनः।। (ऋग्वेद 6.53.31)

दान न देने वाले के प्रति दुर्भावना के साथ साथ ऋग्वेद में दानी के अभ्युदय एवं वृद्धि की कामना भी की गई है। श्रद्धा से दान देने वाले तथा दान देने की इच्छा वाले व्यक्ति का अभीष्ट सम्पादन और अभ्युत्थान करने की प्रार्थना की गई है (ऋग्वेद 10.151.2)। इसी प्रकार अग्नि से दानी व्यक्ति की सब ओर से इसी प्रकार रक्षा करने की प्रार्थना की गई है जिस प्रकार दृढ़ कवच युद्ध में रक्षा करता है-

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः। (ऋग्वेद 1.31.15)

दानशीलता और उदारता समाज के सुख एवं समृद्धि की आधारशिला माने गए हैं। मनुष्य को यथाशक्ति दान देना चाहिए। प्रस्तुत सूक्त एक उपदेशात्मक सूक्त है जिसका उद्देश्य दानशीलता का प्रचार प्रसार करना है।

धनान्नदानम् ऋग्वेद (10.117)

प्रस्तुत सूक्त का देवता धनान्नदानम् है तथा ऋषि भिर्क्षुनामाङ्गिरस है। धनान्नदानम् का अर्थ है धन और अन्न का दान। भिक्षुर्नामाङ्गिस का भी यही अभिप्राय है। **अङ्गिरस का अर्थ तो जैसा कि पहले ही इन्द्रसूक्त में कहा जा चुका है 'जो अग्नि के समान तेजस्वी है और जिसके समस्त अङ्गों में आनन्द है' है और भिक्षु का अर्थ है' जो संसार के सब अङ्गों में रसप्रसार के लिए धनियों से याचना करता है'** अयमेतादृशो भिक्षुर्यः संसारस्य सर्वेस्वङ्गेंषु रसप्रसाराय धनिनो याचते'। इस प्रकार देवता और ऋषि दोनों ही सूक्त के प्रतिपाद्य विषय का उद्घाटन करते हैं।

न वा उं देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते।। 1।।

न। वा। उ। देवाः। क्षुधम्। इत्। वधम्। ददुः। उत। आशितम्। उप। गच्छन्ति। मृत्यवः।
उतो इति। रयिः। पृणतः। न। उप। दस्यति। उत। अपृणन्। मर्डितारम्। न। विन्दते।

अन्वय— देवाः उ क्षुधम् इत् वधः न ददुः उत मृत्यवः आशितम् उप गच्छन्ति। उप पृणतः रयिः न उप दस्यति अपृणन् मर्डितारम् न विन्दते।

सरलार्थ— देवताओं ने (देवाः) निस्सन्देह (उ) भूख को (क्षुधम्) ही (इत्) मृत्यु का (वधः) (कारण) नहीं बनाया (न ददुः) और (उत) मृत्यु (मृत्यवः) खाने वाले के (आशितम्) पास (उप) (भी) आती हैं (गच्छन्ति) और (उतो) दाता का (पृणतः) धन (रयिः) समाप्त नहीं होता (न उप दस्यति) और (उत) (दान) न देने वाला (अपृणन्) दयालु को (मर्डितारम्) प्राप्त नहीं करता (न विन्दते)।

सायण भाष्य— न वा इति नवर्चं पञ्चम सूक्तम्। भिक्षुर्नामाङ्गिरस ऋषिः। प्रथमाद्वितीये जगत्यौ शिष्टाः सप्त त्रिष्टुभः। अत्र धनस्यान्नस्य च दानं स्तूयते। अतस्तद्दैवत्यमिदम्। तथा चानुक्रान्तम्। न वा उ भिक्षुर्धनान्नदानप्रशंसाद्ये जगत्याविति। गतो विनियोगः।

भिक्षुः प्रथमं व्यतिरेकमुखेनान्नदानं प्रशंसति। देवा वै देवाः खलु सर्वेषां क्षुधं न ददुः न प्रायच्छन् किन्तु वधमिद्वधमेव दत्तवन्तः। एतादर्शीं वधरूपां क्षुधमन्नदानेन यः शयमयति स दाता खलु। उ इति पूरणः। योऽदत्त्वा भुङ्क्ते तमाशितं भुञ्जानं पुरुषमपि मृत्यवो मरणान्युपगच्छन्ति। समीपे यान्ति।। आशितः कर्ता। पा. 6.1.207। इत्याद्युदात्तत्वम्। क्षुधार्तानां भोक्तृणां च मरणं समानम। किं दानेन धनदानरुपेण। अत आह। उतो। उतशब्दोऽप्यर्थः। पृणतः प्रयच्छतः पुरुषस्य रयिर्धनं नोपदस्यति। नोपक्षीयते। दसु उपक्षये दैवादिकः। पृण दाने तौदादिकः। तस्य शत्रन्तस्य शतुरनुमो नद्यजादी इति विभक्तेराद्युदात्तत्वम्। दानप्रसङ्गेनादातारं दूषयति। अपृणन्नप्रयच्छन् पुरुषस्तु मर्डितारमात्मनः सुखयितारं न विन्दते। न कुत्रापि लभते। इह बन्धवोऽप्रदानान्न सुखयन्ति देवा अपि हविष्प्रदानाभावात्।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि भूख के कारण ही मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं करता। मृत्यु के अन्य कारण भी हैं। यही कारण है कि जो व्यक्ति भूखा नहीं है, हर प्रकार से संतृप्त और संतुष्ट है, उसे भी मृत्यु आती है। केवल भूख के कारण ही मृत्यु होती तो भरपेट भोजन करने वाले कभी भी मृत्यु को प्राप्त नहीं करते। जो मनुष्य अन्न का दान देकर भूखे की भूख मिटाता है, वह वास्तव में दाता कहलाता है। पुनः इतना सा दान देने से, देने वाले का धन समाप्त नहीं होता। दूसरी तरफ जो कृपण है, भूखा है, असहाय है, दान देने की सामर्थ्य से रहित है, उस पर कोई दया भी नहीं करता। इस प्रकार एक

तरफ दानी का धन देने से समाप्त नहीं होता और दूसरी तरफ उसके दान देने से किसी लाचार का भला हो जाता है इससे अधिक अच्छी बात और क्या हो सकती है। संक्षेप में दान देना सबके लिए हितकर है।

टिप्पणियाँ

न त्वा---मृत्यवः— **सायण** ने प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ किया है कि देवों ने निश्चयपूर्वक सबको क्षुधा नहीं दी है, क्षुधारूप में मृत्यु ही दी है। ऐसी वधरूप क्षुधा को जो अन्नदान से शान्त करता है, वही दाता है।

सातवलेकर ने भी यही अर्थ किया है परन्तु **ग्रिफिथ** ने अनुवाद वाला अर्थ ही स्वीकार किया है।

क्षुधम्— √ क्षुध् + असुन्,द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग

पृणतः— √ पृण् + शतृ प्रत्यय, पञ्चमी षष्ठी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

मर्डितारम्— √ मृड् + तृच्, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते।। 2।।

यः। आध्राय। चकमानाय। पित्वः। अन्नऽवान्। सन्। रफिताय। उपऽजग्मुषे।
स्थिरम्। मनः। कृणुते। सेवते। पुरा। उतो इति। चित्। सः। मर्डितारम। न। विन्दते।।

अन्वय— यः अन्नवान् सन् आध्राय पित्वः चकमानाम रफिताय उपजग्मुषे मनः स्थिरम् कृणुते उत पुरः चित् सेवते सः मर्डितारम् न विन्दते।

सरलार्थ— जो (यः) अन्न से युक्त (अन्नवान्) होकर (सन्) (भी) दुर्बल के लिए (आध्राय) अन्न को (पित्वः) चाहने वाले के लिए (चकमानाय) दरिद्रता से हिंसित (रफिताय) (और) घर में आए हुए के लिए (उपजग्मुषे) मन को (मनः) स्थिर (स्थिरम्) करता है (कृणुते) और (उत) (उसके) सामने (पुरः) ही (चित) (भोगों का) सेवन करता है (सेवते) वह (सः) दयालु को (मर्डितारम्) नहीं (न) प्राप्त करता (विन्दते)।

सायण भाष्य— यः पुरुषः स्वयमन्नवानप्याध्राय। आधायेतेऽसावित्याध्रो दुर्बलः। तस्मै पित्वः पितूनन्नानि चकमानाय चकमानः कान्तिकर्मा। रफिताय। रफतिहिंसार्थः। दारिद्रयेण हिंसितायोपजग्मुषे गृहं प्रत्यागतायातिशयेन मन आत्मीयमन्तः करणमदाने

स्थिरं कृणुते। कृवि हिंसाकरणयोः। धिन्विकृण्व्योरच्चेत्युप्रत्ययः। करोतेर्वा व्यत्ययेन श्नुः। विकरणस्वरः सति शिष्टोऽपि लसार्वधातुकस्वरं न बाधते। म. 6.1.158.11। इति लसार्वधातुकस्वरः। न केवलं क्लेशकरणम् अपितु पुरा तस्य पुरस्तादेव सेवते भोगान्। सोऽपि मर्डितारमात्मनः सुखयितारं न विन्दते। न कुत्रापि लभते।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि जो व्यक्ति अन्न से युक्त होने पर भी दुर्बल को, अन्न के इच्छुक को, दरिद्रता से पीड़ित को और घर पर आए हुए याचक को धन अथवा अन्न नहीं देता, उसके प्रति मन कठोर कर लेता है अर्थात् उसके प्रति दयाभाव नहीं दिखलाता तो वह व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। उसको धन न देकर स्वयं यदि वह उसके सामने ही भोग विषयों का सेवन करता है तो '**एक तो करेला ऊपर से नीम चढ़ा** वाली उक्ति को चरितार्थ करता है। ऐसा करने से वह प्रार्थी को दुगुना कष्ट पहुँचाता है। प्रथम तो सामर्थ्य होते हुए भी वह प्रार्थी को कुछ नहीं देता और दूसरे उसके सम्मुख ही भोगों का भोग करके उसके हृदय को छलनी छलनी कर देता है।

यह मानवीय प्रवृत्ति है कि यदि किसी के पास किसी वस्तु का अभाव है तो वह जैसे तैसे उसको तो सहन कर लेता है परन्तु उसके सम्मुख ही यदि कोई धनवान् उसका भोग करे तो उसे लगता है कि उसका उपहास करने के लिए अथवा उसे चिढ़ाने के लिए दूसरा व्यक्ति जानबूझ कर ऐसा कर रहा है। यह भावना उसे और भी अधिक अकिञ्चन बना देती है। इस प्रकार दूसरों की भावनाओं को आहत करने वाला स्वयं भी कभी किसी दयालु अथवा सुख देने वाले को प्राप्त नहीं करता। ऐसे व्यक्ति से सभी घृणा करते है।

इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में इस बात पर बल दिया गया है कि यदि मनुष्य में देने की क्षमता और सामर्थ्य है तो उसे प्रार्थी को उसकी इच्छित वस्तु अवश्य देनी चाहिए।

टिप्पणियाँ

आध्राय— सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'दुर्बल' किया है '**आधार्यते असौ इति**'। यह चतुर्थी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग है।

उपजग्मुषे— उप + $\sqrt{}$ गम् + क्वसु प्रत्यय, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन पुल्लिङ्ग। यहाँ '**क्वसुश्च**' (3.2.107) से क्वसु प्रत्यय आया। इसमें लिट्वत् व्यवहार होने से धातु का द्वित्व हो गया।

चकमानाय— $\sqrt{}$ कम् + कानच्, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

'लिटः कानज्वा' (3.2.106) से कानच् में लिट्वत् व्यवहार होने से धातु का द्वित्व हो गया। इसका अर्थ है 'इच्छा करने वाले के लिए'।

पित्वः— 'पितु' अन्न को कहते हैं। **'अन्नं वै पितु'** (शतपथ ब्राह्मण) निरूक्त 9.24 में भी कहा गया है **'पितुरित्यन्ननाम'**। पित्वः प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग है।

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।

अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।। 3।।

सः। इत्। भोजः। यः। गृहवे। ददाति। अन्नऽकामाय। चरते। कृशाय।

अरम्। अस्मै। भवति। यामऽहूतौ। उत। अपरीषु। कृणुते सखायम्।

अन्वय— सः इत् भोजः यः गृहवे अन्नकामाय चरते कृशाय ददाति। यामहूतौ अस्मै अरम् भवति उत अपरीषु सखायम् कृणुते।

सरलार्थ— वह (सः) ही (इत्) दाता है (भोजः) जो (यः) ग्रहण करने वाले के लिए (गृहवे) अन्न की इच्छा करने वाले के लिए (अन्नकामाय) घर आने वाले के लिए (चरते) (और) दरिद्र के लिए (कृशाय) देता है (ददाति)। यज्ञ में (यामहूतौ) इसके लिए (अस्मै) पर्याप्त (अरम्) (फल) होता है (भवति) और (उत) शत्रु सेना में (अपरीषु) (भी) मित्र (सखायम्) बना लेता है (कृणुते)।

सायण भाष्य— अन्वयमुखेन प्रशंसति। स इत् स एव भोजो दाता खलु यो गृहवे। ग्रहेर्मृग रुवादित्वात्। उ. 1.38। कु प्रत्ययः। प्रतिग्रहीत्रेऽन्नकामायान्नं याचमानाय चरते गृहमागतवते कृशाय दारिद्र्येणैतादृशायातिथयेऽन्नं ददाति प्रयच्छति। अभ्यस्तानामादिरित्याद्युदात्तत्वम्। यामहूतौ। यामा गन्तारो देवाः। अत्र यातेरर्तिस्तुसुहुसु। उ!139। इत्यादिना मन्प्रत्ययः। त आहूयन्तेऽत्रेति यामहूतिर्यज्ञः। तस्मिन्नस्मै दात्रे फलमरमलं पर्याप्तं भवति। कामप्रवानं भवतीत्यर्थः। उतापि चापरीषु। केवलमामकेति पा. 4.1.30। अन्यासु शात्रवीषु सेनासु सखायं कृणुते। तद्वदाचरतीत्यर्थः। तस्य सर्वे सुखाय एव न शत्रव इत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि प्रार्थी की इच्छानुसार दान देना ही वास्तव में दान देना है। दान लेने वाले के द्वारा दान देने वाले की

वस्तु स्वीकार का लिए जाने पर ही दान की सफलता है और यह स्वाभाविक ही है लेने वाला प्रसन्न होकर वही वस्तु लेगा जो उसे चाहिए। जिसकी उसे आवश्यकता है। अतः दान याचक की इच्छानुसार ही होना चाहिए। रघुवंशी राजाओं का **'यथाकामार्चितार्थिनाम्'** भी एक गुण था। जो अन्न चाहता है, उसे अन्न ही दिया जाना चाहिए। जिसे सुई चाहिए उसे तलवार देने का क्या लाभ? प्रार्थी की इच्छानुसार दान देने वाला ही वास्तविक अर्थों में दाता है। ऐसा मनुष्य जब यज्ञ करता है और दानदक्षिणा स्वरूप दूसरों को दान देता है तो देवता भी उससे अत्यन्त प्रसन्न होकर उसे यज्ञ का समुचित और पर्याप्त फल देते हैं। अरम् का अर्थ अलम् (पर्याप्त) है। संस्कृत में **'रलयोरभेदः'** से कभी कभी र् और ल् में अभेद कर दिया जाता है।

वैदिक संस्कृति में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण यज्ञ में दक्षिणा देना उत्कृष्ट दान माना गया है। ऋग्वेद (10.107.7) में उल्लेख है कि दक्षिणा देने वालों को दक्षिणा स्वयं अश्व, गौ, सोना चाँदी आदि प्रदान करती है **'दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्'।**
उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। ऐसा मनुष्य शत्रुओं को भी अपना मित्र बना लेता है।

इस प्रकार दान देने के विविध लाभ है।

टिप्पणियाँ

यामहूतौ— √ या + मन। उणादिसूत्र (संख्या 140) **'अर्तिस्तुसुहुः'** से **'मन'** प्रत्यय आया तथा हूतौ में √ ह्वेञ + क्त प्रत्यय। सम्प्रसारण हुआ। यामहूतौ सप्तमी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग का रुप है।

सायण ने इसका विग्रह इस प्रकार किया है— यामाः का अर्थ है गन्तारो **देवाः, ते देवा आहूयन्तेऽत्रेति यामहूतिः तस्मिन् इति यामहूतौ** अर्थात जहाँ देवता बुलाए जाते हैं, वह यामहूति है अर्थात् यज्ञ क्योंकि देवताओं को यज्ञ में ही बुलाया जाता है।

अपरीषु— सायण ने इसका अर्थ **'शत्रुसेना में'** किया है जबकि **प्रो. रेनु** तथा **मैक्डॉनल** ने इसे क्रिया विशेषण मानकर इसका अर्थ **'भविष्य में'** किया है। यहाँ **'केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्थ कृतसुमङ्गलं भेषजाच्च'** (4.1.30)से अपर के पश्चात् स्त्री प्रत्यय ङीप् आया है

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।। 4।।

न। सः। सखा। यः। न। ददाति। सख्ये।
सचाऽभुवे। सचमानाय। पित्वः।
अप। अस्मात्। प्र। इयात्। न। तत्। ओकः। अस्ति।
पृणन्तम्। अन्यम्। अरणम्। चित्। इच्छेत्।

अन्वय— सः सखा न यः सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः न ददाति। अस्मात् अप प्रेयात् तत् ओकः न अस्ति चिद् पृणन्तम् अन्यम् अरणम् चिद् इच्छेत्।

सरलार्थ— वह (सः) मित्र (सखा) नहीं है (न) जो (यः) मित्र को (सख्ये) साथ रहने वाले को (सचाभुवे) और सेवा करने वाले को (सचमानाय) अन्न (पित्वः) नहीं देता (न ददाति)। इससे (अस्मात्) दूर (अप) चला जाए (प्र इयात्) वह (तत्) (प्रार्थी का) निवासस्थान (ओकः) नहीं है (न अस्ति) और (चिद्) (वह प्रार्थी) अन्नादि देने वाले (पृणन्तम्) अन्य (अन्यम्) स्वामी को (अरम्) ही (चिद्) चाहे (इच्छेत्)।

सायण भाष्य— व्यतिरेकेण निन्दामाह। स पुरुषः सखा न भवति यः पुरुषः सचाभुवे सर्वदा सहभवनशीलाय सचमानाय सेवमानयोपसर्जनीभूताय सख्ये सखिजनाय पित्वः पितूनन्नानि न ददाति न प्रयच्छति। स सुहृन्न भवतीत्यर्थः। अस्माददातुः सख्युः सोऽप प्रेयात्। अपगच्छेत्। यद्येनं परित्यज्य गच्छेत्। इण गतौ। लिङि यासुट्। तर्हि तदोको निवासः सदनं नास्ति। न भवति। सदनं हि बन्धुभिः परिवृतम्। स गतः पुरुषः पृणन्तमन्नादिकं प्रयच्छन्तमन्यमरणं चिदर्यं स्वामिनमेवेच्छेत्। कामयेत।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि जो मनुष्य अपने मित्र को, साथ में रहने वाले को अथवा सेवा करने वाले को अन्न नहीं देता, वह सच्चा मित्र नहीं होता। अतः उससे दूर ही चला जाना चाहिए। उसके साथ रहने का कोई लाभ नहीं है। प्रार्थी को किसी दूसरे स्वामी की शरण में चले जाना चहिए जो अन्नादि का दान करने वाला हो। ताप्तर्य यह है कि जिसमें दान देने की प्रवृत्ति नहीं है उस मनुष्य को तुरन्त छोड़ देना चाहिए। वस्तुतः वैदिक युग में दान का बहुत महत्त्व था। यह ध्यातव्य है कि इसी कारण वेद में धन के लिए 'रयिम' शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है जो √ रा-दाने से निष्पन्न है।

ग्रिफिथ ने अन्तिम चरण का अर्थ किया है कि वह अन्य दाता को ढूँढे चाहें वह अपरिचित हो' (रणम्)।

टिप्पणियाँ

चरते— √ चर् + शतृ प्रत्यय, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सचमानाय— √ सच्-समवाये सेचने + शानच् + चतुर्थी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

सचाभुवे— √ सच् + घञ्-सचा+ भू +क्विप्, चतुर्थी विभक्ति, एक वचन, पुल्लिङ्ग।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः।। 5।।

पृणीयात्। इत्। नाधमानाय। तव्यान्। द्राघीयांसम्। अनु। पश्येत। पन्थाम्। ओ इति। हि। वर्तन्ते। रथ्याऽइव। चक्रा। अन्यम्ऽअन्यम्। उप। तिष्ठन्त। रायः।

अन्वय— तव्यान् नाधमानाय पृणीयात् द्राघीयांसम् पन्थाम् अनुपश्येत। अन्यम् उपतिष्ठन्तः रायः रथ्या चक्रा इव ह आवर्तन्ते।

सरलार्थ— धन से अतिशय रुप से प्रवृद्ध पुरुष (तव्यान्) याचक को (नाधमानाय) धन दे (पृणीयात्) (वह) दीर्घतम (द्राघीयांसम्) मार्ग को (पन्थाम्) देखे (अनुपश्येत)। दूसरे के (अन्यम्) पास (उप) चले जाने वाले (तिष्ठन्तः) धन (रायः) रथ के (रथ्या) पहिए के (चक्रा) समान (इव) निश्चित रुप से (ह) नहीं ठहरते (आ वर्तन्ते)।

सायण भाष्य— धनवन्तं पुरुषं दाने प्रेरयति। तव्यांस्तवीयान्धनैरतिशयेन प्रवृद्ध पुरूषो नाधमानाय याचमानायातिथये पृणीयादित्। धनानि दद्यादेव। पृ पालनपूरणयोः क्रयादिः। प्वादीनां हस्वः। यदि दद्यात् द्राघीयांसम्। दीर्घशब्दादीयसुनि प्रियस्थिरेत्यादिना द्राघीत्यादेशः। दीर्घतमं पन्थां पन्थानं सुकृतमार्गमनु पश्येत्। अनुपश्येत्। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। तत्र कारणमाह। रायो धनान्यो हि। आ उ। आवर्तन्ते खलु। एकत्र न तिष्ठन्तीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। रथ्येव यथा रथ्यानि। रथाद्यत्। पा.4.3.121। इति तस्येदमित्यर्थे यत्। रथसम्बन्धीनि चक्राण्युपर्यधोभावेनावर्तन्ते तद्वदावृत्तिमेव दर्शयति। अन्यमन्यं पुरुषं धनान्युपतिष्ठन्त। उपतिष्ठन्ते। समवेतानि भवन्ति। उपादेवपूजासङ्गतिकरणेति। का.

1.325.1। आत्मनेपदम्। तस्माद्धनानि देयानीति भावः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र मे बतलाया गया है कि धनी मनुष्य को प्रार्थी को अवश्य देना चहिए। ऐसा करने से उसे पुण्य की प्राप्ति होती है और सृकृत्तम (शुभ कर्मों वाले) को प्राप्त होने वाला लोक उन्हें भी प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि धन कहीं भी एक स्थान पर नहीं रुकते। जिस प्रकार रथ के पहिए एक जगह नहीं रुकते, आगे ही बढ़ते जाते हैं उसी प्रकार धन भी मनुष्य के पास नहीं ठहरतें। जब धन को चले ही जाना है तब मनुष्य को शुभ कर्म करने में उसका सदुपयोग करके पुण्य ही अर्जित कर लेना चहिए। शुभ कर्मों से स्वर्ग प्राप्ति का उल्लेख वेदों में कई बार हुआ है **'सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत'** (ऋग्वेद 9.83.4), **ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि** (ऋग्वेद 10. 85.24) **दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते** (ऋग्वेद 1.25.6) आदि

टिप्पणियाँ

द्राघीयांसम्— दीर्घतमं पन्थां पन्थानं सुकृतमार्गमनुपश्येत इति! दीर्घ + ईयसुन। **'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फबर्बंहि-गर्ववर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः'** 6.4.157 से दीर्घ को द्राघ् आदेश हो गया। द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

नाधमानाय— √ नाध् + शानच्+चतुर्थी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

अनुपश्येत— अनु + √ दृश् — पश्य्, आत्मनेपद, विधिलिङ्, प्रथम् पुरूष, एकवचन। यहाँ व्यत्यय से परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद का प्रयोग हुआ।

रथ्या— रथ + यत्। यहाँ यत प्रत्यय **'रथाद्यत्'** 4.3.121 से आया है। यहाँ इसका प्रयोग **'तस्येदम्'** यह उसका है, के अर्थ में हुआ है।

उपतिष्ठन्ते— उप + √ स्था-तिष्ठ्, आत्मेनपद, लट्लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। 6।।

मोघम्। अन्नम्। विन्दते। अप्रऽचेताः। सत्यम्। ब्रवीमि। वधः। इत्। सः। तस्य। न। अर्यमणम्। पुष्यति। नो इति। सखायम्। केवलऽअघः। भवति। केवलऽआदी।।

आन्वय— अप्रचेताः मोघम् अन्नम् विन्दते सत्यं ब्रवीमि सः तस्य वधः इत्। अयम् न अर्यमणम् न सखायम् पुष्यति केवलादी केवल अघः भवति।

सरलार्थ— दान में मन न रखने वाला (अप्रचेताः) व्यर्थ ही (मोघम्) अन्न को (अन्नम्) प्राप्त करता है (विन्दते) (मैं) सत्य (सत्यम्) कहता हूँ (ब्रवीमि) (कि) वह (सः) उसका (तस्य) वध (वधः) ही (इत्) है। यह (अयम्) न तो (न) संरक्षक (अर्यमणम्) (और) न ही (न) सखा को (सखायम्) पुष्ट करता है (पुष्यति) अकेला खाने वाला (केवलादी) केवल (केवल) पापी (अघः) होता है (भवति)।

सायण भाष्य— अदातारं दूषयति। अप्रचेता अप्रकृष्टज्ञानः दाने चेतो मनो यस्य न भवति स मोघं व्यर्थमेवान्नं विन्दते। लभते। विद्लृ लाभे तौदादिकः। शे मुचादीनातिति नुमागमः। इदं। सत्यं यथार्थमेवेति। ऋषिरहं वदामि। न केवलं व्यर्थं किन्तु तस्य पुरुषस्य स वध इद्वध एवान्नं परामृशतः। तच्छब्दस्य वधसामानाधिकरण्यात् पुँल्लिङ्गता। यथाणेरणावित्यत्र। पा. 1.3.67। यत्कर्म स एव कर्तेति। अथवा स निरर्थको वध एव यः पुरुषोऽर्यमणम्। उपलक्षणमिदम्। सर्वान्देवानर्यमादीन्न पुष्यति हविष्प्रदानेन पोषयति नो नापि सखायं समानख्यानमभ्यागतातिथिं। पुष पुष्टौ दैवादिकः। यच्छब्दाध्याहारादनिघातः। अत एव केवलादी। अदः सुप्यजातौ। पा. 3.2.78। इति णिनिः। अत उपधालक्षणा वृद्धिः। केवलमसाक्षिकमन्न भुञ्जानः स केवलाघो भवति। केवलपापवान्भवति। अयमेव केवलं तस्य शिष्येत। ऐहिकामुष्मिकमिति। तस्माद्यथा-कथञ्चिद्दातव्यमित्यभिप्रायः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि जो मूर्ख अन्नयुक्त होने पर भी दान नहीं देना चाहता उसका अन्न दूसरों का हित न करने के कारण व्यर्थ है। यहाँ **'अप्रचेताः'** का अर्थ 'दान में मन न रखने वाला' है। उसका धन व्यर्थ ही नहीं होता अपितु वह उसका वध ही होता है क्योंकि दानशील न होने कारण वह हवि इत्यादि प्रदान कर देवताओं को भी प्रसन्न नहीं करता। जब दान देना उसका स्वभाव ही नहीं है तब वह यज्ञ भी नहीं करेगा और जब यज्ञ ही नहीं करेगा तो देवताओं को हवि इत्यादि कैसे अर्पित करेगा। जब देवताओं को हविरुप उनका भोजन प्राप्त नहीं होगा तो वे भी उसकी सहायता नहीं करेगें। इस प्रकार दान न देने वाले व्यक्ति को न तो कोई संरक्षक मिलता है और न ही कोई उसका मित्र बनता है। अकेला खाने वाला केवल पाप का ही अर्जन करता है। वेदों में

मिल जुल कर कार्य करने पर बहुत बल दिया गया है। तुलनीय—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।। अथर्ववेद 3.30.)

किसी की सहायता न करने के कारण अदानी को ऐहिक सुख की प्राप्ति नहीं होती और देवताओं को हवि आदि द्वारा पुष्ट न करने के कारण आमुष्मिक सुख की प्राप्ति भी नहीं होती।

इसी कारण यथाशक्ति सबको दान अवश्य देना चाहिए। तुलनीय

यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।

भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। (गीता 3.13)

टिप्पणियाँ

अप्रचेता— नञ् + प्र + √चित् + असुन्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

अर्यमणम्— अरीन् नियच्छति इति अर्यमा, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

केवलाघः— केवल + अघस्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

केवलादी— केवल + अद् + णिनिप्रत्यय, प्रथम पुरुष, एकवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ **'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये'** (3.2.78) से णिनि प्रत्यय आया है।

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्।। 7।।

कृषन्। इत्। फालः। आशितम्।
कृणोति। यान्। अध्वानम्। अप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन्। ब्रह्मा। अवदतः। वनीयान्। पृणन्।।
आपिः। अपृणन्तम्। अभि। स्यात्।

अन्वय— कृषन् फालः आशितम् कृणोति यन् चरित्रैः अध्वानम् अपवृङ्क्ते। वदन् ब्रह्मा अवदतः वनीयान् पृणन् अपृणन्तम् अभि आपिः स्यात्।

सरलार्थ— कृषि करता हुआ (कृषन्) फाल (फालः) (कृषक को)

भोक्ता (आशितम्) बनाता है (कृणोति) जाता हुआ (यन्) (मनुष्य) अपने गमनों से (चरित्रैः) मार्ग को (अध्वानम्) समाप्त कर देता है (अपवृङ्क्ते) बोलता हुआ (वदन्) ब्राह्मण (ब्रह्मा) न बोलने वाले से (अवदतः) श्रेष्ठ है (वनीयान्) देने वाला (पृणन्) न देने वाले की (अपृणन्तम्) अपेक्षा (अभि) अधिक स्वजन (आपिः) होता है (स्यात्)।

सायण भाष्य— कृषन् कृषिं कुर्वन्फाल आशितं कर्षकं भोक्तारं कृणोति। करोति। तथाध्वानं मार्गं यन्। इणः शतरि नुमागमः। गच्छन्पुरुषश्चरित्रैरात्मीयैर्गमनैरप वृङ्क्ते। स्वामिनो धनमावर्जयति। वृजी वर्जने आदादिकः। अनुदात्तेत्। वदञ्शास्त्रार्थं ब्रुवाणो ब्रह्मा ब्राह्मणोऽवदतः शास्त्रर्थमब्रुवानाज्जनाद्वनीयान्। सम्भक्तृतमः प्रियकरो भवति। वनतेस्तृजन्तस्येयसुनि तुरष्ठेमेयःस्विति तृचो लोपः। ते यथा स्वकर्मणि प्रवर्तमानाः परेषामुपकारकाः तथा पृणन् दाता पुरुषोऽपृणन्तमदातारं जनमभ्यभिलक्ष्यापिः स्यात्। बन्धुर्भवेत्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में चार उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया गया है कि परहितपरायण हमेशा ही श्रेष्ठ होता है। प्रथम उदाहरण फाल का दिया गया है। फाल हल के नीचे लगा हुआ वह भाग होता है जो मिट्टी खोदता है। हल का फाल परिश्रम करके कृषि उत्पन्न करता है परन्तु इसका फल कृषक को ही मिलता है। दूसरा उदाहरण उस पुरुष का है जो परिश्रम करके चलता ही जाता है, मार्ग को समाप्त कर अपनी मञ्जिल को प्राप्त करता है। **सायण** ने इसका अर्थ किया है कि चलता हुआ मनुष्य अपने चरित्रों अर्थात् गमनों से स्वामी को धन प्राप्त करवाता है अर्थात् परिश्रम सेवक करता है और फलप्राप्ति स्वामी को होती है। यहाँ सायण का अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि पहला अर्थ करने पर फल प्राप्ति परिश्रम करने वाले को ही हो रही है जबकि सायण का अर्थ करने पर परिश्रम करने वाला कोई और है और फल का भोक्ता कोई और है। परहितपरायणता के सन्दर्भ में यही अर्थ अधिक प्रसङ्गानुकूल है। **शुनः शेप आख्यान** में भी परिश्रम करने का ही उपदेश दिया गया है— **'चरैवेति चरैवेति'**।

तीसरे उदाहरण में शास्त्रार्थ करके दूसरों का उपकार करने वाला ब्राह्मण न बोलने वाले मनुष्य से कहीं अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि बोलने वाला कुछ न कुछ अच्छी बात बताएगा परन्तु न बोलने वाला क्या उपदेश देगा। इसी प्रकार दान देने वाला दान न देने वाले से अधिक आत्मीय, स्वजन व बन्धु है। आवश्यकता होने पर एक दानशील मनुष्य स्वजन अथवा मित्र की भाँति सहायता कर भी देगा

परन्तु जिसकी दान देने की प्रवृत्ति ही नहीं है वह तो किसी भी अवस्था में सहायता नहीं करेगा।

अतः मनुष्य को दानादि देकर परहित करना चाहिए ताकि वह इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त कर सके।

ग्रिफिथ ने तीसरे चरण का अर्थ किया है कि 'बोलने वाला न बोलने वाले ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ है।' उन्होंने अन्य विद्वानों की भाँति ब्रह्मा का अर्थ ब्राह्मण न करके ब्रह्मा ही कर दिया।

टिप्पणियाँ

यन्— √ इण्–गतौ + शतृ प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

फाल— √ फल्–विशरणे + अण् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

कृषन्— √ कृष्–कर्षणे + शतृ प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

वनीयान्— √ वन् + ईयसुन्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

अपवृङ्क्ते— अप + √ वृज्–वर्जने, आत्मनेपद, लट्लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङक्तीरुपतिष्ठमानः।। 8।।

एकऽपात्। भूयः। द्विऽपदः। वि। चक्रमे।
द्विऽपात्। त्रिऽपादम्। अभि। एति। पश्चात्।
चतुःऽपात्। एति। द्विऽपदाम्। अभिऽस्वरे।
सम्ऽपश्यन्। पङ्क्तीः। उपऽतिष्ठमानः।

अन्वय— एकपात् द्विपदः भूयः विचक्रमे द्विपात् पश्चात् त्रिपादम् अभ्येति। चतुष्पाद् द्विपदाम् अभिस्वरे एति उपतिष्ठमानः पङक्तीः संपश्यन्।

सरलार्थ— एक पाँव वाला (एकपात्) (अपनी गति से) दो पाँव वाले का द्विपदः) अतिक्रमण कर देता है (भूयः विचक्रमे) दो पाँव वाला (द्विपात्) पीछे से (पश्चात्) तीन पाँव वाले का (त्रिपादम्) अभिभव कर देता है

(अभ्येति)। चार पाँव वाला (चतुष्पाद्) दो पाँव वाले के (द्विपदाम्) पुकारने पर (अभिस्वरे) आ जाता है (एति) (और) खड़ा हुआ (उपतिष्ठमानः) उन पंक्तियों को (पंक्तीः) अर्थात् जनसमूह को भलीभाँति देखता हुआ (संपश्यन्) (रहता है कि उस समूह में उसका स्वामी है अथवा नहीं।

सायण भाष्य— अत्र पादशब्दो भागवचनः। एकपादेकभागधनः पुरुषो द्विपदो द्विगुणधनस्य मार्गं भूयः। तृतीयायाः सु। भूयसा कालेन वि चक्रमे। विविधं गच्छति। वेः पादविहरणे। पा. 1.3.41। इत्यात्मनेपदम्। तथा द्विपात्पुरुषस्त्रिपादं त्रिभागधनं पुरुषं पश्चादभ्येति अभिगच्छति चतुष्पाच्चतुर्भागधस्तु द्विपदाम् । बहुवचनादेकपादादय उपलक्ष्यन्ते। एकपादधनादीनां पङ्क्तीरभिस्वरेऽभिगमने संपश्यन् सम्यगीक्षमाणः सन्नुपतिष्ठमान एति। गच्छमानो भवति। अन्योन्यापेक्षया सर्वं उत्तमाधमाः। तस्मात्त्वमहमेव धनवानिति न मन्ये किन्त्वतिथिभ्यो धनानि ददस्वेत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि विजय हमेशा उसकी नहीं होती जो देखने में दूसरों से अधिक समृद्ध होता है। यह भी आवश्यक नहीं कि किसी वस्तु की अधिकता किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से अधिक श्रेष्ठ बना देगी। इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है कि एक पाँव वाला सूर्य दो पाँव वाले मनुष्य का अतिक्रमण कर देता है। सूर्य को एक पैर वाला कहा गया है **'अज एकपाद्'** (ऋग्वेद 6.50.14)। वह एक पैर वाला सूरज कभी नहीं थकता जबकि दो पैर वाला मनुष्य थक जाता है। दो पैर वाला मनुष्य तीन पैर वाले को पराजित कर देता है। तीन पैर वाला वह वृद्ध है जो छड़ी की सहायता से चलता है। इसी प्रकार कुक्कुर इत्यादि चार पैर वाले होते हैं परन्तु चार पैरों वाला होने पर भी वे दो पैर वाले मनुष्य के आधीन होते हैं। उसकी एक आवाज पर दौड़े चले आते हैं और जनसमूह में लाचार, हताश होकर यह देखते हैं कि उनका स्वामी उस समूह में है भी अथवा नहीं। तात्पर्य यह है कि दो पैर वाले मालिक का चार पैर वाले कुक्कुर इत्यादि पर इतना अधिक नियन्त्रण होता है कि उनको न देखने पर ही कुक्कुर इत्यादि परेशान हो जाते हैं।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अधिक धनी है, यह आवश्यक नहीं वह उतना ही अधिक दानशील भी हो और दूसरी तरफ जो इतना धनी नहीं है, वह भी दानशील हो सकता है। धनी होना अथवा धनी न होना दान देने की प्रवृत्ति को प्रभावित नहीं करता।

सायण ने इस मन्त्र में पाद शब्द का अर्थ 'भाग' किया है। उनके अनुसार

इसका अर्थ है कि एक भाग धन वाला पुरुष दुगुने भाग धन वाले के मार्ग का अतिक्रमण अधिक समय में करता है। द्विगुण भाग धन वाला तीन भाग धन वाले के पीछे चलता है। चतुर्भाग धन वालो एकपाद धन वालों की पंक्तियों को अभिगमन में (अभिस्वरे) देखता हुआ जाने वाला होता है।

सायण का अर्थ इतना अधिक स्पष्ट नहीं है। सातवलेकर ने भी यही अर्थ किया है परन्तु वह अधिक सरल व सुबोध है। उन्होंने कहा कि

'एक अंश भाग सम्पत्तिवाला दो अंश भाग सम्पत्ति वाले धनी से याचना करता है, दो अंश भागवाला तीन अंश भाग वाले धनी के पास जाता है, तीन अंश भाग वाला चार अंश भाग वाले धनी के पास जाता है और चार अंश भाग सम्पत्ति वाला उससे अधिक धनी के पास जाता है। इस प्रकार श्रेणी बँधी है। सभी एक दूसरे से उत्तम अथवा अधम है। अत्यन्त धनवान् भी स्वयं को दरिद्र ही समझता है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी अपनी सम्पत्ति से संतुष्ट नहीं रहता। जब सम्पत्ति से संतुष्टि ही नहीं है तो दानादि करके कुछ पुण्य ही अर्जित कर लेना श्रेयस्कर है।

टिप्पणियाँ

विचक्रमे— वि + √ क्रमु-क्रमणे, आत्मनेपद, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। यहाँ 'वेः पादविहरणे' 1.3.41 से आत्मनेपद का प्रयोग हुआ तथा 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' से लट् लकार के अर्थ में लिट् का प्रयोग हुआ।

अभिस्वरे— अभि + √ स्वृ-शब्दोपतापयोः, सप्तमी विभक्ति, एकवचन।

उपतिष्ठमानः— उप + √ स्था + शानच्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

संपश्यन्— सम + √ दृश् + शतृ प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

त्रिपाद्— 'त्रयाणां पदानां समाहारः' प्रथम पुरुष, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग।

स॒मौ चि॒द्धस्तौ॒ न स॒मं वि॑विष्टः संमा॒तरा॑ चि॒न्न स॒मं दु॑हाते।
य॒मयो॑श्चि॒न्न स॒मा वी॒र्या॑णि ज्ञा॒ती चि॒त्सन्तौ॒ न स॒मं पृ॑णीतः।। 9।।

सु॒मौ। चि॒त्। हस्तौ॑। न। स॒मम्। वि॒वि॒ष्टः।
स॒म्ऽमा॒तरा॑। चि॒त्। न। स॒मम्। दु॒हा॒ते॒ इति॑।
य॒मयोः॑। चि॒त्। न। स॒मा। वी॒र्या॑णि।
ज्ञा॒ती इति॑। चि॒त्। सन्तौ॑। न। स॒मम्। पृ॒णी॒तः।

अन्वय— हस्तौ समौ चित् समम् न विविष्टः चित् संमातरा समं न दुहाते। यमयोः चित् समा वीर्याणि न ज्ञाती सन्तौ समं न पृणीतः।

सरलार्थ— (मनुष्य के) दोनों हाथ (हस्तौ) समान होते हुए (समौ) भी (चित्) समान (समम्) कार्य नहीं करते (न विविष्टः) एक ही माँ की दो पुत्रियाँ अर्थात् गाएँ (सम्मातरा) एक जैसा (समं) दूध नहीं देती (न दुहाते)। जुड़वे बच्चों की (यमयोः) शक्ति (बीर्याणि) समान (समा) नहीं होती (न चित्) एक कुल में (ज्ञाती) उत्पन्न होने पर भी (सन्तौ चित्) समान रूप मे(समम्) दान नहीं देते (न पृणीतः)।

सायण भाष्य— अतिथिभ्यो धनमप्रयच्छन्नपि मम भ्राता दास्यतीति चेत् तत्र हेतुमाह। समौ चिद्धस्तौ समावपि समं समानं न विविष्टः। कार्यं न व्याप्नुतः। विष्लृव्याप्तौ जौहोत्यादिकः। सञ्ज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वादभ्यासस्य गुणाभावः। तथा संमातरा वत्सस्य मातरौ धेनू समे अपि संम समानं पयो न दुहाते। यमयोश्चित् सहजातयोः पुत्रयोरपि समा समानि वीर्याणि न सन्ति। तस्माज्ज्ञाती चिदेकस्मिन्कुले सन्तौ जातावपि समं न पृणीतः। न प्रयच्छतः। तस्माद्यस्य धनमस्ति स एव दद्यादित्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि दो मनुष्यों का स्वभाव कभी भी एक जैसा नहीं होता। आकार से समान होने पर भी यह आवश्यक नहीं कि उनका स्वभाव, शील और गुण एक जैसे हों। एक मनुष्य दानशील हो सकता है तो दूसरा वैसी ही परिस्थितियाँ होने पर भी अदानी हो सकता है। इस तथ्य को चार उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। मनुष्य के दोनों हाथ देखने में समान होते हैं परन्तु उनकी कार्य करने की क्षमता अलग-अलग होती है। इसी प्रकार एक ही गाय की पुत्रियाँ होने पर भी दो गायों की दूध देने की क्षमता अलग-अलग होती है। एक गाय ज़्यादा दूध देती है तो दूसरी कम दूध देती है। दो जुड़वाँ भाई भी अलग-अलग शक्ति अर्थात् गुण वाले होते हैं। इसी प्रकार एक ही कुल में उत्पन्न दो मनुष्य भी समान रूप से दान नहीं देते। ऐसा होने पर मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी दान देने की प्रवृत्ति में वृद्धि करे।

टिप्पणियाँ

विविष्टः— √ विष्लृ-व्याप्तौ, लट्लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन. जुहोत्यादिगण की धातु होने के कारण धातु का द्वित्व हो गया।

संमातरा— **'समे मातरौ'** प्रथमा विभक्ति, द्विवचन, स्त्रीलिङ्ग।

यहाँ **'संमातरौ'** रूप होना चाहिए था परन्तु **'सुपां सुलुक'** इत्यादि सूत्र से विभक्ति प्रत्यय **'औ'** के स्थान पर **'डा'** आदेश हो गया।

समा— वीर्याणि का विशेषण होने के कारण **समानि रूप होना चाहिए था** परन्तु **'शेश्छन्दसि बहुलं'** से **'शि'** का लोप हो गया।

ज्ञाती— ज्ञा + क्तिन्, प्रथमा द्वितीया विभक्ति, द्विवचन, स्त्रीलिङ्ग।

दुहाते— √ दुह्-प्रपूरणे, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन।

卐 卐 卐

(7 मं)

भाववृत्तम् (ऋग्वेद, 10.129)

भाववृत्तम् सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 129वाँ सूक्त है। ऋग्वेद के 12 सूक्त ऐसे हैं जो दर्शन सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन करते हैं। वस्तुतः दर्शन शास्त्र का प्रारम्भ ही सन्देह अथव जिज्ञासा से होता है। ऋग्वेद की प्रारम्भिक अवस्था में वैदिक ऋषि 'बहुदेवतावाद' में विश्वास करते थे परन्तु धीरे-धीरे उनको दैविक शक्तियों के अस्तित्व के विषय में सन्देह होने लगे कि जिन देवताओं की स्तुति वे करते थे वे हैं भी अथवा नहीं। इन्द्र जैसे महान् और शक्तिशाली देवता के अस्तित्व के बारे में भी प्रश्नचिन्ह लग गए 'यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषोऽस्तीत्येनम्' तथा 'नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह कईं ददर्श कमभिष्टवाम (ऋग्वेद 8.100.3) दूसरे वैदिक ऋषियों ने यह भी सोचा कि सभी देवता संसार का संचालन कैसे कर सकते हैं। अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखने के लिए तो एक ही अधिष्ठाता देव होना चाहिए। यही सब आशङ्काएँ वैदिक ऋषियों के बहुदेवतावाद से एकदेवता की तरफ बढ़ने का कारण बनीं। उन्होंने सोचा कि जगत की कर्त्री, धर्त्री और संहर्त्री एक ही शक्ति होनी चाहिए परन्तु वह शक्ति कौन है। इसके साथ ही 'इस सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई। किस सामग्री से इसे बनाया गया' इत्यादि जिज्ञासाओं से ऋग्वेद में दार्शनिक सूक्तों का सूत्रपात हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विस्तार से विचार करने वाले तीन सूक्तों (पुरुष सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त तथा भाववृत्तम् सूक्त) में से भाववृत्तम सूक्त सर्वोत्तम है।

सृष्ट्युत्पत्ति विषयक 'भाववृत्तम्' सूक्त अनन्यतम सूक्त है। यह वैदिक आर्यों की गवेषणात्मक प्रवृत्ति के गम्भीर एवं सूक्ष्म तात्त्विक चिन्तन से ओत प्रोत है। **'नासदासीत्' से प्रारम्भ होने के कारण इसे नासदीय सूक्त भी कहा जाता है।** यही इसका अधिक प्रचलित नाम है। **भाववृत्तम् इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय है** अतः **'या तेनोच्यते सा देवता'** इस आधार पर भाववृत्त इस सूक्त का देवता है। इसमें भावों के वृत्त अर्थात् वियत् आदि भावों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का वृत्तान्त

प्रस्तुत किया गया है। **सायणाचार्य के अनुसार भावों का कर्ता, परमात्मा इसका देवता है जो 'भाववृत्तम् नाम से व्यक्त होता है। नासदीय सूक्त का ऋषि परमेष्ठी प्रजापति** है। परम स्थान में बैठने वाला परमेष्ठी है और प्रजाओं का उत्पादक प्रजापति है। **इस सूक्त के सात मन्त्र त्रिष्टुब् छन्द में निबद्ध हैं।**

नासदीय सूक्त के मन्त्र इतने गूढ़ और दुर्बोध हैं कि इनकी सर्वसम्मत व्याख्या आज तक नहीं की जा सकी। इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का क्रमबद्ध विवेचन काव्यात्मक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्र सृष्टि से पूर्व की अवस्था का चित्रण करते हैं। प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि तब न असत् था न सत् था। असत् नाम रूप से रहित अनिर्वचनीय है परन्तु संसार का मूलभूत कारण है। सत् नाम रूप से युक्त दिखाई देने वाली सृष्टि है। उस समय न असत् था और न ही सत् था। सृष्टि की पूर्वावस्था में कारण (असत्) और कार्य (सत्) नहीं थे। न रजस् था, न व्योम था और न ही उससे परे कुछ था। इन तीनों पदों से यह तात्पर्य है कि न पृथ्वी थी, न नीचे पातालादि थे, न अन्तरिक्ष था और न ही अन्तरिक्ष से परे 14 भुवनों वाला ब्रह्माण्ड था। जब आवार्य ही नहीं था तो आवरक भी नहीं था। और न ही सर्वत्र व्याप्त गहन गभीर जल थे।

सृष्टि से पूर्व न मृत्यु थी न अमृत था क्योंकि जन्म मृत्यु दोनों ही परस्पर सम्बद्ध हैं। **शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि मृत्यु में अमृत तथा अमृत में मृत्यु विद्यमान है 'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्'** (शतपथ ब्राह्मण 10.5. 2-4)। सूर्य, चन्द्रमा नक्षत्रादि नहीं थे अतः रात दिन के चिन्ह भी नहीं थे। सृष्टि से पूर्व काल भी अव्यक्त था। केवल एक ही तत्त्व था जो 'तत्' नाम से जाना जाता था परन्तु वह अपनी ही शक्ति से (स्वधया स्वस्मिन् धीयते अस्मिन्निति) विद्यमान था। श्वेताश्वतर उपनिषद् में जिसे स्वात्मशक्तिं स्वगुणनिगूढं कहा गया है, यह वही 'तत्' था। यद्यपि इस निरुपाधिक ब्रह्म का स्वधा अथवा माया से कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि यह उसके स्वरुप की तरह उसके साथ इस प्रकार रहती है जिस प्रकार सीपी में चाँदी की भ्रान्ति। जिस प्रकार सीपी में चाँदी का भ्रम होना उसका स्वरुप है उसी प्रकार उस 'तत्' का स्वधा माया से युक्त होना उसका स्वरुप है। पुनः इस सृष्टि की प्रागवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था। **तम तम से आवृत था अर्थात् उत्पन्न करने वाला (कारण) और उत्पन्न होने वाला कार्य दोनों ही अंधकार से आवृत**

थे। यहाँ तमस् साधारण अंधकार नही है बल्कि **आच्छादक रुप वह मूल अज्ञान है जिसे स्वधा, माया, अविद्या या प्रकृति कहते हैं।** चूंकि अंधकार रुपी कारण से अंधकार रुपी कार्य (संसार) की उत्पत्ति होनी थी अतः कारण और कार्य में तादात्म्य था। इस अवस्था में जगत् माया में गूढ़ था जिस प्रकार वृक्ष बीज में तथा घट मिट्टी में छिपा रहता है। इसी कारण पुनः कहा गया है कि यह सब अप्रकेत सलिल था अर्थात सब कुछ अनभिव्यक्त था। दूध और पानी के तादात्म्य के समान सृष्टि की उत्पत्ति से पहले कार्य और कारण एक रुप थे। उन्हे एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता था। इसी तथ्य को मनु ने इस प्रकार स्पष्ट किया

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः।। (मनुस्मृति 1.5)

तृतीय मंत्र के उत्तरार्ध में कहा गया हि 'आभु' 'तुच्छ' से आवृत था। वह तपस् की महिमा से उत्पन्न हुआ। यह सृष्टि उत्पत्ति की प्रथम अवस्था थी। **आभु का अर्थ है 'आ समन्तात् भवति'। आभु वह तत्त्व है जो प्रादुर्भूत होने वाला है।** वह तुच्छ अर्थात् अज्ञान रुप कारण तमस् से आवृत था। आभु जगद्रूप कार्य उत्पन्न करने वाला वह एक तत्त्व है जो प्रारम्भिक अवस्था में कारण से आच्छादित होकर एकरुप था। जो पहले ही बिना वायु के सांस लेने वाला कहा जा चुका है वही तत्, वही एक अपने ज्ञानमय तपस् की महिमा से कार्य रुप में उत्पन्न हो जाता है। यह तपस् का ही महात्म्य था कि वह आभु अपनी सामर्थ्य से प्रकट हो सका। **सायण के अनुसार स्त्रष्टव्य का पर्यालोचन ही तपस् है।**

चतुर्थ मन्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति की अगली अवस्था बतलाई गई है। सबसे पहले काम उत्पन्न हुआ जो मन का प्रथम रेतस् था। किसी भी सृजन अथवा कार्य से पूर्व उसकी इच्छा मन में उत्पन्न होती है। इसी कारण उसको मन का उत्पादक बीज कहा जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व उसके मन में इच्छा (काम) उत्पन्न हुई **"एकोऽहं बहुस्याम प्रजायै"**। यह **काम ही असत् में सत् का बन्धक हेतु है। यही काम उसका तप भी कहलाया।**

सायण के अनुसार प्राणियों द्वारा पहले कल्प मे किए हुए कर्म दूसरे कल्प का कारण बनते हैं। प्राणियों द्वारा पूर्वकल्प में किए गए पुण्य कर्म जब फलोन्मुखी हो गए, तभी उस एक तत्त्व के मन में सिसृक्षा-सर्जन की इच्छा उत्पन्न हुई। यह सिसृक्षा ही तप अथवा मन का रेतस् सृष्टि उत्पन्न करने का प्रथम बीज था।

सृष्टि का निर्माण करने वाला बीज, तत्त्व 'काम' है जिससे एक दो में विभाजित हो जाता है। यह उस 'एकम्' रूप 'आभु' का 'काम' रूपी 'रेतस्' का ही प्रभाव था कि वह दो भागों में विभाजित हो गया।

पाँचवें मन्त्र में प्रयुक्त चार शब्द-रेतोधाः, महिमानः, स्वधा और प्रयति सृष्टि के दो खण्डों का निर्देश करा रहे हैं। माया सहित परमेश्वर ने सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करके स्वयं उसमें प्रविष्ट होकर भोक्ता और भोग्य दो भागों में उसे बाँट दिया। **भोग्य प्रपञ्च को ही स्वधा कह कर निकृष्ट बताया गया और भोक्तृ प्रपञ्च रुप प्रयति को उत्कृष्ट बतलाया गया।**

अविद्या, काम और कर्म ये तीन सृष्टि की उत्पत्ति के मूलभूत कारण हैं। आसक्ति की भावना से किया गया कर्म अविद्या है। मन की वासना काम है और कर्म वे हैं जिनका फल प्रदान करने के लिए ही. उस एक तत्त्व में 'सिसृक्षा' उत्पन्न हुई। सूर्य के प्रकाश की भाँति इन तीनों का कार्य वर्ग भी सर्वत्र व्याप्त था।

सृष्टि की उत्पत्ति का कार्य इतनी शीघ्रता से सम्पन्न हुआ कि उसका क्रम पता ही नहीं चला। सूर्य की किरणों के समान सृष्टि ऊपर, नीचे, मध्य में सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। 'रश्मि' शब्द स्वयंप्रकाश चैतन्य का भी वाचक है। वह चैतन्य परमात्मा उपादान कारण होने के कारण जगत् के सभी पदार्थों में उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार घड़े का उपादान कारण मिट्टी घड़े में तथा वस्त्र का उपादान कारण तन्तु वस्त्र में विद्यमान है। तुलनीय **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**

वस्तुतः पाँचवे मन्त्र तक ही सृष्टि की उत्पति की गुत्थी नासदीय सूक्त में सुलझा दी गई है। अन्तिम दो मंत्रों में कहा गया है कि श्रुति ने तो अपनी बात कह दी। परन्तु श्रुति की उपेक्षा कर यदि अपनी अपनी अटकलें लगानें का प्रयास किया जाएगा तो इन जटिल प्रश्नों का उत्तर प्राप्त नहीं हो पाएगा। उसके योग्य हेतु व दृष्टान्त का अभाव होने के कारण यह अनुमान का विषय नहीं है। देवता भी इस विषय में कुछ नहीं कह सकते क्योंकि वे तो स्वयं सृष्टि के बाद हुए। अतः यह अत्यधिक गम्भीर, गहन, परमार्थ तत्त्व केवल वेद के द्वारा ही गम्य है। अगम्य और अदृष्ट सृष्टिविषयक तत्त्वान्वेषण क्रान्तदर्शी ऋषियों के ज्ञानचक्षुओं द्वारा ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में केवल श्रुति ही प्रमाण है।

भाववृत्तम् (ऋग्वेद 10.129)

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।। 1।।

न। असत्। आसीत्। नो इति। सत्। आसीत्। तदानीम्। न। आसीत्। रजः। नो इति। विऽयोम। परः। यत्।
किम्। आ। अवरीवरिति। कुह। कस्य। शर्मन्। अम्भः। किम्। आसीत्। गहनम्। गभीरम्।

अन्वय— तदानीम् न असत् आसीत् न सत् आसीत् न रजः आसीत् न यत् परः व्योम। किम् आवरीवः कुह कस्य शर्मन् किम् गहनम् गभीरम् अम्भः आसीत्।

सरलार्थ— तब (तदानीम्) न (न) असत् (असत्) था (आसीत) न ही (न) सत् (सत्) था (आसीत्) न ही (न) अन्तरिक्ष (रजः) था (आसीत्) (और) न ही (न) उससे परे (यत् परः) व्योम (व्योम) (था)। किसने (किम्) आवृत्त किया हुआ था (आवरीवः) कहाँ (कुह) (और) किसकी (कस्य) शरण में (शर्मन्) क्या (किम्) गहन (गहनम्) (और) अत्यन्त अगाध (गभीरम्) जल (अम्भः) था (आसीत्)।

सायण भाष्य— तपसस्तन्महिनाजायतैकमित्यादिनाग्रे सृष्टिः प्रतिपादयिष्यते। अधुना ततः प्रागवस्था निरस्तसमस्तप्रपञ्चा या प्रलयावस्था स निरूप्यते। तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तदसच्छशविषाणवन्निरुपाख्यं नासीत्। न हि तादृशात्कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति। तथा नो सन्नैव सदात्मवत्सत्वेन निर्वाच्यमासीत्। यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि सम्भवति। कुतस्तयोस्तादात्म्यमिति उभयविलक्षणम-निर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः। ननु नो सदिति पारमार्थिकसत्त्वस्य निषेधः। तर्ह्यात्मनोऽप्यनिर्वाच्यात्वप्रसङ्गः। अथोच्यते। न। आनीदवातमिति तस्य सत्त्वमग्रे वंक्ष्यते परिशेषान्मायाया एवात्र सत्त्वं निषिध्यत इति। एवमपि तदानीमिति विशेषणानर्थक्यं व्यवहारदशायामपि तस्याः परमार्थिकसत्त्वाभावात्। अथ व्यावहारिकसत्ता पृथिव्यादीनां भावानां विद्यमानत्वात् कथं नो सदिति निषेधः। तत्राह। नासीद्रज इत्यादि। लोका रजांस्युच्यन्ते। नि. 4.19। इति यास्कः। अत्र च सामान्यापेक्षमेकवचनम्। व्योम्नो वक्ष्यमाणत्वात्तस्याधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्ता नासन्नित्यर्थः। तथा व्योमान्तरिक्षं

तदपि नो नैवासीत्। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते। परशब्दाच्छान्दसः अस्तातेरर्थेऽसिप्रत्ययः। परो व्योम्नः परस्तादुपरिदेशे द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः। अनेन चतुर्दशभुवनगर्भं ब्रह्माण्डं स्वरूपेण निषिद्धं भवति। अथ तदावरकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धानि यानि वियदादिभूतानि तेषामवस्थानप्रदेशं तदावरणनिमित्तं चाक्षेपमुखेन क्रमेण निषेधयति किमावरीवरिति। किमावरणीयं तत्त्वमावरकभूतजातमावरीवः। अत्यन्तमावृणुयात्। अवार्याभावात्तदावरकमपि नासीदित्यर्थः। आवृण्वत्तत्तत्त्वं कुह कुत्र देशेऽवस्थायावृणुयात्। आवर्याभावाद आव्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः। वृणोतेर्यङ्लुगन्ताच्छान्दसे लङि तिपि रूपमेतत्। यद्वा। किमिति प्रथमैव। किं तत्त्वमावरकमावृणुयात्। आवार्याभावाद् आव्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः। किंशब्दात् सप्तम्यर्थे हप्रत्ययः। कुति होः। पा. 7.2.104। इति प्रकृतेः क्वादेशः। कस्य शर्मन् कस्य वा भोक्तुर्जीवस्य शर्मणि सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणे वा निमित्तभूते सति तदावरकं तत्त्वमावृणुयात्। जीवानामुपभेगार्था हि सृष्टिः। तस्य हि सत्यां ब्रह्माण्डस्य भूतैरावरणं प्रलयदशायां च भोक्तारो जीवा उपाधिविलयात्प्रलीना इति कस्य कश्चिदपि भोक्ता न सम्भवतीत्यावरणस्य निमित्ताभावादपि तन्न घटत इत्यर्थः। एतेन भोग्यप्रपञ्चवद्भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदानी नासीदित्युक्तं भवति। किंशब्दादुत्तरस्य। ङसः सावेकाच इति प्राप्तस्योदात्तत्वस्य न गोश्वन्सावर्णेति प्रतिषेधः। सुपां सुलुगिति शर्मणः सप्तम्या लुकः। यद्यपि सावरणस्य ब्रह्माण्डस्य निषेधेन तदन्तर्गतमपसत्त्वमपि निराकृतं तथाप्यापो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तै. सं. 7.1.5.1। इत्यादिश्रुत्या कश्चिदपां सद्भावमाशङ्केत। तं प्रत्याचष्टेऽम्भः किमासीदिति। गहनं दुष्प्रवेशं गभीरं दुःखस्थानमत्यगाधम् ईदृशमम्भ। किमासीत्। तदपि नैवासीदित्यर्थः। श्रुतिस्त्ववान्तरप्रलयविषया।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मंत्र में सृष्टि की उत्पत्ति से पहले की अवस्था का वर्णन किया गया है। उस समय असत् (अविद्यमान) नहीं था। असत् निरुपाख्य नामरूप से वर्जित है तथा यह संसार के मूलकारण का वाचक है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः उस समय 'असत्' नहीं था। फिर जिज्ञासा होती है कि यदि असत् नहीं था तो 'सत्' होगा। इसका उत्तर दिया गया कि तब 'सत्' भी नहीं था क्योंकि पृथ्वीलोक, द्युलोक इत्यादि दृश्य पदार्थ नहीं थे। रजस् से पृथ्वी आदि समस्त लोकों का निषेध है। निरुक्त में कहा गया है **'लोका रजांस्युच्यन्ते'** (निरुक्त 4.19)। **सायण** के अनुसार **'व्योमा'** से चतुर्दश भुवन

सम्पन्न ब्रह्माण्ड का निषेध बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि न पृथ्वी थी न उसके नीचे पाताल आदि लोक थे, न अन्तरिक्ष था, न द्युलोक था और न ही उससे परे चतुर्दश भुवन सम्पन्न ब्रह्माण्ड था।

तृतीय चरण में तीन प्रश्न किए गए हैं (1) किसने अथवा किसको आवृत किया हुआ था (क्योंकि 'किम' नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया दोनों ही विभक्तियों में प्रयुक्त होता है) (2) कहाँ? और (3) किस की शरण में परन्तु उस समय जब कुछ था ही नहीं तो उसको आवृत्त करने वाला अथवा उसको शरण देने वाला कोई कैसे हो सकता है? आवार्य के अभाव में आवरक का भी सर्वथा अभाव था।

फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सर्वत्र गहन और अगाध जल व्याप्त थे। जल की आशङ्का होने का मुख्य कारण **तैतरीय संहिता** की यह पंक्ति है, **'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्'** (तैतरीय संहिता 7.1.5.1)। परन्तु प्रश्न में ही उत्तर निहित है कि गहन और अगाध जल भी नहीं था।

प्रस्तुत मन्त्र का तात्पर्य यह है कि सृष्टि से पूर्व जो कुछ भी था सब अनभिव्यक्त ही था। इस अवस्था को प्रकट करने का सर्वोत्तम ढंग यही है कि उस समय न 'असत्' था और न ही 'सत' था।

वेंकटमाधव ने असत् का अर्थ कारण तथा सत् का अर्थ कार्य किया है। उस समय दृश्यमान कारण और कार्य नहीं था।

टिप्पणियाँ

आवरीवः— आ + √ वृञ्-आवरणे, यङ्लुडन्त, प्रथम पुरुष, एकवचन पुल्लिङ्ग।

कुह— किम् शब्द। सप्तम्यर्थ में 'ह' प्रत्यय आया तथा **कु तिहोः** (7.2.104) से किम् के स्थान पर 'कु' का आदेश हुआ।

शर्मन्— यहाँ 'शर्मणि' रुप होना चाहिए था क्योंकि यह सप्तमी विभक्ति, एक वचन का रुप है परन्तु **'सुपां सुलुकं'** इत्यादि से विभक्ति लोप हो गया।

गहनम्— √ गह + ल्युट्, प्रथम पुरुष, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।। 2।।

न। मृत्युः। आसीत्। अमृतम्। न। तर्हि। न। रात्र्याः। अह्नः। आसीत्। प्रऽकेतः।
आनीत्। अवातम्। स्वधया। तत्। एकम्। तस्मात्। ह। अन्यत्। न। परः। किम्। चन। आस।। 2।।

अन्वय– तर्हि न मृत्युः आसीत् न अमृतम् न रात्र्याः अह्नः प्रकेतः आसीत्। तत् एकम् अवातम् स्वधया आनीत् तस्मात् परः अन्यत् किञ्चन न हा आस।

सरलार्थ– उस समय (तर्हि) न (न) मृत्यु (मृत्यु) थी (आसीत्) न (न) अमृत (अमृतं) (था) न ही (न) रात्रि (रात्र्याः) (और) दिन का (अह्नः) सङ्केत (प्रकेतः) था (आसीत्)। वह (तत्) एक (एकम्) बिना वायु के (अवातम्) अपनी शक्ति से (स्वधया) साँस लेता था (आनीत्) उससे (तस्मात्) परे (परः) अन्य (अन्यत्) कुछ (किञ्चन) वास्तव में (ह) नहीं (न) था (आस)।

सायण भाष्य– ननूक्तस्य प्रतिसंहारस्य संहर्त्रपेक्षत्वात् एवं संहर्ता मृत्युर्विद्यत इत्यत आह। न मृत्युरासीदिति। ननु यदि स नासीत् तर्हि तदभावकृतममृतमरणं प्राणिनामवस्थानं तदानीमपि स्यात् तत्राह। अमृतं न तर्हीति। तर्हि तस्मिन् प्रतिसंहारसमये। अयं भावः सर्वेषां प्राणिनां परिपक्वं भोगहेतुभूतं सर्वं कर्म यदोपभुक्तमासीत् तदा भोगाभावान्निष्प्रयोजनमिदं जगदिति परमेश्वरस्य मनसि संजिहीर्षा जायते। तथैव स मृत्युः सर्वं जगत्संहरत इति किमनेन मृत्युना संहर्त्रा तदभावकृतं वा कथममरणं स्यादिति। एतदेवाभिप्रेत्य कठैराम्नायते – यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः। क.उ. 2. 24। इति नन्वेतस्य सर्वस्याधिकरणभूतः कालो विद्यत् इत्यत आह। न रात्र्या इति। न रात्र्या अहनश्च प्रकेतः प्रज्ञानमासीत् तद्धेतुभूतयोः सूर्या चन्द्रमसोरभावात्। एतेनाहोरात्रनिषेधेन तदात्मको मासर्तुसंवत्सरप्रभृतिकः सर्वः कालः प्रत्याख्यातः। कथं तर्हि नो सदासीत्तदानीम् कालवाची प्रत्ययः। उपचारादिति ब्रूमः। यथेदानीन्तन–निषेधस्य कालोऽवच्छेदस्तथा मायापि तदवच्छेदहेतुरित्यवच्छेदकत्वसाम्येनाकालेऽपि कालवाची प्रत्ययः। यदवादिष्म ब्रह्मणः परमार्थसत्त्वमग्रे वक्ष्यत इति तदिदानीं दर्शयत्यानीदिति। तत्सकलवेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्मतत्त्वमानीत्। प्राणिवत्। नन्वेवं प्राणनकर्तुर्जीवभावापन्नस्यैव ब्रह्मणः सत्त्वं स्यात् न विवक्षितस्य निरुपाधिकस्य ब्रह्मणः। अप्राणो ह्यमनाः शुद्ध इति तस्य प्राणसम्बन्धाभावात् तत्राहानीदवातमिति। अयमाशयः। आनीदित्यत्र धत्वर्थक्रिया तत्कर्त्ता तस्य च भूतकालसम्बन्ध इति त्रयोऽर्थाः प्रतीयन्ते। तत्र समुदायो न विधीयते यथाग्नेयोऽष्टाकपाल इति येन ब्रह्मणः सत्त्वं न स्यात्। किं तर्ह्यनेन कर्त्त्वमनूद्य भूतकालसत्तालक्षणो गुणो विधीयते दध्ना

जुहोतीति वाक्यान्तरविहिताग्निहोत्रानुवादेन तत्र गुणविधानम्। तत्राप्यनेन कर्तृत्वविशिष्टस्य न पूर्वकालसत्ता विधीयते तन्निषेधानुपपत्तिप्रसङ्गात् अतोऽनेन कर्तृत्वेनेदानीन्तनेनोपलक्षितं यन्निरुपाधिकं परं ब्रह्म तस्यैव भूतकालसत्ता विधीयत इति कश्चिद्दोष इति। नन्वीदृशस्य ब्रह्मणो मायया सह सम्बन्धासम्भवात्साङ्ख्याभिमता स्वतन्त्रा सद्रूपा सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूलप्रकृतिरेवाभिमतेति कथं नो सदिति निषेधः। तत्राह स्वधयेति। स्वस्मिन्धीयत ध्रियत आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया। तया तद् ब्रह्मैकमविभागापन्नमासीत्। सहयुक्तेऽप्रधाने। पा. 2.3.19। इति तृतीया सहशब्दयोगाभावेऽपि सहार्थ योगे भवति वृद्धो यूना। 1.2.65। इति निपातनाल्लिङ्गात्। अत्र प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां तस्याः स्वातन्त्र्यं निवार्यते। यद्यप्यसङ्गस्य ब्रह्मणस्तया सह सम्बन्धो न सम्भवति तथापि तस्मिन्नविद्यया तत्स्वरूपमिव सम्बन्धेऽप्यध्यस्यते यथा शुक्तिकायां रजतस्य। एतेन सद्रूपत्वमपि तस्याः प्रत्याख्यातम्। ननु यदि माया ब्रह्मणा सहाविभागापन्ना तर्हि तस्या अनिर्वाच्यत्वाद् ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति कथं तस्य सत्त्वमुक्तमानीदवातमिति। ब्रह्मो वा सत्त्वात्तस्य अपि सत्त्वप्रसङ्ग इति कथं नो सदासीदिति सत्त्वप्रतिषेधः। मैवम्। अयुक्तिदृष्ट्यैक्यावभासोऽपि युक्त्या विविच्य मायांशस्यानिर्वाच्यत्वं ब्रह्मणः सत्त्वं च प्रतिपादितम्। ननु दृग्दृश्याविति द्वावेव पदार्थावानीदवातम् स्वधयेति तौ चेदङ्गीक्रियेते तत्किमपरमवशिष्यते यन्नासीद्रज इत्यादिना प्रतिषिध्येत तत्राह तस्मादिति। तस्माद्ध तस्मात्खलु पूर्वोक्तान्मायासहिताद् ब्रह्मणोऽन्यत् किंचन किमपि वस्तु भूतभैतिकात्मकं जगन्नास। न बभूव।। छन्दस्युभयथेति लिटः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भू भावा-भावः। ननु तदानीमन्यस्य सत्त्वनिषेधो न शङ्क्यः। असत्त्वे चाप्रसक्तत्वान्न निषेधोपयोग इत्यत आह पर इति। परः परस्तात्सृष्टेरूर्ध्वं वर्तमानमिदं जगत्तदानीं न बभूवेत्यर्थः। अन्यथोक्तरीत्या क्वचिदपि निषेधो न स्यादिति भावः।। 2।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्ध में सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था का वर्णन है। उस समय मृत्यु नहीं थी क्योंकि मृत्यु तभी होती है जब किसी का जन्म हो। जब किसी की उत्पत्ति ही नहीं हुई तो मृत्यु कैसे होती। इसके विपरीत जब किसी की मृत्यु होती है तभी जन्म होता है। जब मृत्यु ही नहीं थी तो जन्म कैसे होता। मृत्यु और जीवन परस्पराश्रित हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व कैसे हो सकता है। **शतपथ ब्राह्मण** मे भी कहा गया है 'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्' (10.5.2-4) तुलनीय-**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गीता 2.27)। सूर्य और चन्द्रमा भी जब नहीं थे तो रात

दिन का सङ्केत कैसे मिलता। रात और दिन कहने से ऋतु, मास, वर्ष, इत्यादि सभी प्रकार के कालों का निषेध हो जाता है। केवल एक तत्त्व था जो **'तत्'** नाम से जाना जाता था। वह अपनी ही शक्ति से विद्यमान था। साँस लेने के लिए उसे वायु की आवश्यकता नहीं थी। वस्तुतः साँस लेने के लिए वायु की आवश्यकता तो जीवात्मा रुप ब्रह्म को ही होती है। तब निरुपाधिक ब्रह्म की ही सत्ता थी। वह अपनी स्वधा से युक्त था। स्वधा शब्द के-स्वेच्छा, प्रेरणा, स्वयं, शक्ति, माया, प्रकृति, स्वभाव आदि अनेक अर्थ हैं। सभी अर्थों में वह एक तत्त्व सर्वसमर्थ, स्वतन्त्र और अद्वितीय सिद्ध होता है। **'स्वधा'** का अर्थ ही **'स्वस्मिन् धीयते इति'** है।

यद्यपि निरुपाधिक ब्रह्म का माया (स्वधा) से कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि यह उसके स्वरुप की तरह उसके साथ उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार सीपी में चाँदी का भ्रम। सीपी के साथ चाँदी का यद्यपि कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि सीपी में चाँदी का भ्रम होना उसका स्वरुप ही है। इसी प्रकार स्वधा अथवा माया से युक्त होना ब्रह्म का स्वरुप है। वास्तव में वह उससे सम्बन्धित नहीं है।

ग्रिफिथ ने 'तदेकम्' पर टिप्पणी देते हुए इसे एक मात्र मौलिक तत्त्व एवं उस इकाई प्रतिपादक कहा है जिससे इस ब्रह्माण्ड का विकास हुआ।

स्वधया— 'स्वस्मिन् धीयते ध्रियते स्वं धारयति इति'। सायण ने इस का अर्थ **'माया'** किया है। **ग्रासमैन** ने **'अपनी स्वयं की प्रवृति से'** किया है। तथा विल्सन ने **'अपनी शक्ति से'** यह अर्थ किया है।
यह तृतीया विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिङ् है।

तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्।
तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त् तप॑सस्तन्महि॒नाजा॑य॒तैक॑म्।। 3।।

तम॑ः। आ॒सी॒त्। तम॑सा। गू॒ळ्हम् अग्रे॑। अ॒प्र॒ऽके॒तम्। स॒लि॒लम्। सर्व॑म्। आ॒ः। इ॒दम्। तु॒च्छ्येन॑। आ॒भु। अपि॑ऽहि॒तम्। यत्। आसी॒त्। तप॑सः। तत्। महि॒ना। अजा॑य॒त। एक॑म्।

अन्वय— अग्रे तमः तमसा गूळ्हम् आसीत इदं सर्वम् अप्रकेतम् सलिलम् आः। यद् आभु आसीत् तुच्छ्येन अपिहितम्। तपसः महिना तत् एकम् अजायत।

सरलार्थ— पहले (अग्रे) अन्धकार (तमः) अन्धकार से (तमसा) ढका

हुआ था (गूळ्हम्) यह (इदम्) सब (सर्वम्) अनभिव्यक्त अर्थात सङ्केतरहित (अप्रकेतम्) जल (सलिलम्) था (आः)। जो कुछ भी (यद्) आभु (आभु) था (आसीत्) (वह) तुच्छ से (तुच्छ्येन) आवृत था (अपिहितम्) तप की (तपसः) महिमा से (महिना) वह (तत्) एक (एकः) उत्पन्न हुआ (अजायत)।

सायण भाष्य— ननूक्तप्रकारेण यदि पूर्वमिदं जगन्नासीत्कथं तर्हि तस्य जन्म। जायमानस्य जनिक्रियायां कर्तृत्वेन कारकत्वात् कारकं च कारणावान्तरविशेष इति कारकस्य सतो नियतपूर्वलक्षणवर्तित्वस्यावश्यंभावात्। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया जनिक्रियायाः प्रागपि तद्विद्यत इत्युच्यते। कथं तस्य तन्म। अत आह। तमसा गूळ्हमग्र इति। अग्रे सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत्तमसा गूळ्हम्। यथा नैशं तमः सर्वपदार्थजातमावृणोति तद्वत्। आत्मतत्त्वस्यावरकत्वान्मायापरसंज्ञं भावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्यते। तेन तमसा निगूढं संवृतं कारणभूतेन तेनाच्छादितं भवति। आच्छादकात्तस्मात्तमसो नामरूपाभ्यां यदाविर्भवनं तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते। एतेन कारणावस्थायामसदेव कार्यमुत्पद्यत इत्यसद्वादिनोऽसत्कार्यवादिनो ये मन्यन्ते ते प्रत्याख्याताः। ननु कारणे तमसि तज्जगदात्मकं कार्यं विद्यते चेत् कथं नासीद्रज इत्यादिनिषेधः। तत्राह तम आसीदिति। तमो भावरूपाज्ञानं मूलकारणम्। तद्रूपता तदात्मनाम्। यतः सर्व जगत्प्राक् तम आसीदतो निषिध्यत इत्यर्थः। नन्वावरकत्वादावरकं तमः कर्तृ आवार्यत्वाज्जगत्कर्म। कथं तयोः कर्मकर्त्रोस्तादात्म्यम्। तत्राह। अप्रकेतमिति। अप्रकेतमप्रज्ञायमानम्। अयमर्थः। यद्यपि जगतस्तमसश्च कर्मकर्तृभावो यौक्तिको विद्यते तथापि व्यवहारदशायामिव तस्यां दशायां नामरूपाभ्यां विस्पष्टं न ज्ञायत इति तादात्म्यवर्णनम्। अत एव मनुना स्मर्यते। आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातलक्षणम्। अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः। मनु. 1.5.1 इति कुतो वा न प्रज्ञायते तत्राह। सलिलम्। सलगतौ। औणादिक इलच्। इदं दृश्यमानं सर्वं जगत्सलिलं कारणेन सङ्गतमविभागापन्नामाः। आसीत्। अस्तेर्लङि तिपि बहुलं छन्दसीतीडभावे हल्ङ्याब्भ्य इति तिलोपे तिप्यनस्तेः। पा.8.2.73। इति पर्युदासाद्दकाराभावः। यद्वा सलिलमिति लुप्तोपमम्। सलिलमिव। यथा क्षीरेणाविभागापन्नं नीरं दुर्विज्ञानं तथा तमसाविभागापन्नं जगन्न शक्यविज्ञानमित्यर्थः ननु विविधविचित्ररूपभूयसः प्रपञ्चस्य कथमिति तुच्छेन तमसा क्षीरेण नीरस्येवाभिभवः। तथा तमोऽपि क्षीरवद् बलवदित्येवोच्यते। तर्हि दुर्बलस्य जगतः सर्गसमयेऽपि नोद्भवसम्भव इत्यत आह। तुच्छ्येनेति। आ समन्ताद्भवतीत्याभु तुच्छ्येन। छान्दसो यकारोपजनः। तुच्छेन तुच्छकल्पेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपाज्ञानेनापिहितं छादितमासीत्। दधातेः कर्मणिनिष्ठा। दधातेर्हिः प्रतिरनन्तर

इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। एकमेकीभूतं कारणेन तमसाविभागतां प्राप्तमति तत्कार्यजातं तपसः स्त्रष्टव्यपर्यालोचनरूपस्य महिना माहात्म्येनाजायत। उत्पन्नम्। तपसः स्त्रष्टव्यपर्यालोचनरूपत्वं चान्यत्राम्नायते। यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। मु. उ. 1.1.9। इति।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्ध में सृष्टि की उत्पति से पूर्व की अवस्था का वर्णन है। तब अंधकार अंधकार से ढका हुआ था अर्थात् उत्पन्न करने वाला कारण और उत्पन्न होने वाला कार्य दोनों ही अंधकार से आवृत थे। यहाँ 'तमस्' सामान्य अंधकार न होकर आच्छादक रुप वह मूल अज्ञान है जिसे माया, अविद्या या प्रकृति कहते हैं। **सायण** के अनुसार आत्मतत्त्व का आवरक होने के कारण भावरूप अज्ञान को ही 'तम' कहा गया है। जगत् रुप कार्य उससे उत्पन्न होना है। इस अवस्था में यह जगत् माया में उसी प्रकार गूढ़ रहता है जिस प्रकार वृक्ष 'बीज' में तथा 'घट' मिट्टी में छिपा होता है। यह परिदृश्यमान जगत उस समय अपने कारण से सङ्गत था, उसे पृथक् करके नहीं जाना जा सकता था। **कारण और कार्य में तादात्म्य था। सब कुछ अनभिव्यक्त होने के कारण 'अप्रेकत सलिल'** कहा गया है। जिस प्रकार दूध और पानी का तादात्म्य होता है उन्हे पृथक नहीं किया जा सकता उसी प्रकार सृष्टि की उत्पति से पहले कार्य और कारण दोनों ही एक दूसरे पृथक नहीं किए जा सकते थे। (**तुलनीय मनुस्मृति** 1. 5) यही अप्रकेत सलिल था।

तृतीय मंत्र के उत्तरार्ध में सृष्टि उत्पति की प्रथम अवस्था का वर्णन है। **तुच्छ्य से आवृत आभु तपस् की महिमा से प्रादुर्भूत हो गया।** 'आभु' का अर्थ है **'आ समन्तात् तिष्ठति इति।** 'आभु' वह तत्त्व है जो प्रादुर्भूत होने वाला है। वह तुच्छ्य अर्थात् तुच्छसदृश सदसदविलक्षण अज्ञान रूप तमस् से आवृत था। आभु सृष्टि रूप कार्य बनाने वाला वह तत्त्व है जो सूष्टि से पूर्व की अवस्था में कारण से आच्छादित होकर एक रूप था जिसे पहले ही बिना वायु के सांस लेने वाला एकतत्त्व कहा जा चुका है।

वही तत्, वही एक अपने ज्ञानमय तपस् की महिमा से कार्यरूप में उत्पन्न हो जाता है। उत्पन्न होने पर वह व्यक्त हो जाता है परन्तु फिर भी अपने पारमार्थिक रूप में परम कारण या अद्वितीय ब्रह्म ही रहता है। **सायण के अनुसार तपस् स्त्रष्टव्य का पर्यालोचन है। मुण्डकोपनिषद्** मे भी कहा गया है **'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः** (1.1.9) वह तपस् का माहात्म्य ही था कि वह तत् अपने सामर्थ्य

से प्रकट हो सका।

तपस् वह शक्ति है जिसके द्वारा विश्व के कण कण में स्पन्दन होता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रारम्भ में एक प्रजापति ही था। उसने ध्यान किया कि वह प्रजारूप कैसे हो। उसने श्रम किया, तप किया और प्रजा भी उत्पन्न की **''प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत् स प्रजा असृजत'**। (शतपथब्राह्मणा 2.5.1.1)

टिप्पणियाँ

अप्रकेतम् सलिलम्–मैकडॉनल और मुड्र ने अर्थ किया है 'वह जल जो पृथक् या विभक्त न किया जा सके'। मैक्समूलर ने इसे प्रकाश रहित समुद्र कहा है "All this was a sea without light" (The six systems of Indian Philosophy p.49)

सलिल– में $\sqrt{}$ सल्–गतौ + औणादिक इलच् प्रत्यय है।

तपस्– ग्रिफिथ के अनुसार तपस् का अर्थ warmth **है। अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ** Heat **किया है।**

ऐसा प्रतीत होता हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान एकमात्र चेतन तत्त्व को वैदिक ऋषि ने 'तपस्' कहा है जिससे बाद में जगत् का विकास हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।। 4।।

कामः। तत्। अग्रे। सम्। अवर्तत। अधि मनसः। रेतः। प्रथमम्। यत्। आसीत्। सतः। बन्धुम्। असति। निः। अविन्दन्। हृदि। प्रतिऽइष्य। कवयः। मनीषा।

अन्वय– तद् अग्रे कामः समधि अवर्तत यद् मनसः प्रथमं रेतः आसीत्। कवयः हृदि मनीषा प्रतीष्य सतः बन्धुम् असति निरविन्दन्।

सरलार्थ– तब (तद्) प्रारम्भ में (अग्रे) काम (कामः) उत्पन्न हुआ (अधिसमवर्तत) जो (यद्) मन का (मनसः) प्रथम (प्रथमम्) रेतस् (रेतः) था (आसीत्)। क्रान्तदर्शियों ने (कवयः) हृदय में (हृदि) बुद्धि से (मनीषा) विचार कर के (प्रतीष्य) सत् का (सतः) सम्बन्ध (बन्धुम्) असत् में (असति) ढूँढ लिया (निरविन्दन्)

सायण भाष्य– ननूक्तरीत्या यदीश्वरस्य पर्यालोचनं जगतः पुनरुत्पत्तौ

कारणं तदेव किंनिबन्धनमित्यत आह कामस्तदग्र इति। अग्रेऽस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां परमेश्वरस्य मनसि कामः समवर्तत। सम्यगजायत। सिसृक्षा जातेत्यर्थः। ईश्वरस्य सिसृक्षा वा किंहेतुकेत्यत आह मनस इति। मनसोऽन्तः करणस्य सम्बन्धि वासनाशेषेण मायायां विलीनेऽन्तः करणे समवेतम्। सामान्यापेक्षमेकवचनम्। सर्वप्राण्यन्तः करणेषु समवेतमित्यर्थः। एतेनात्मनो गुणाधरत्वं प्रत्याख्यातम्। तादृशं रेतो भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं प्रथममतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म यद्यतः कारणात्सृष्टिसमय आसीत् अभवत्। भूष्णु वर्धिष्णवजायत परिपक्वं सत्फलोन्मुखमासीदित्यर्थः। तत्ततो हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः कर्माध्यक्षस्य परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षाजायतेत्यर्थः। तस्यां च जातायां स्रष्टव्यं पर्यालोच्य ततः सर्वं जगत् सृजति। तथा चाम्नायते। सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्तवेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तै आ. 8.6। इति श्रुत्यात्मनेत्थमवगमितेऽर्थे विद्वदनुभवमप्नुग्राहकत्वेन प्रमाणयति सत इति। सतः सत्त्वेनेदानीमनुभूयमानस्य सर्वस्य जगतो बन्धुं बन्धकं हेतुभूतं कल्पान्तं प्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहं कवयः क्रान्तदर्शना अतीतानागतवर्तमानाभिज्ञा योगिनो हृदि हृदये निरुद्धया मनीषया बुद्ध्या। सुपां सुलुगिति तृतीयाया लुक्। प्रतीष्य विचार्य अन्येषामपीति सांहतिको दीर्घः। असति सद्विलक्षणेऽव्याकृते कारणे निरविन्दन् निकृष्यालभन्त। विविच्याजानन्नित्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति की अगली अवस्था का वर्णन है। पूर्व मन्त्र में कहा गया था कि ईश्वर का पर्यालोचन ही तप है। अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर के द्वारा पर्यालोचन क्यों किया गया? सृष्टि से पूर्व विद्यमान उस एक तत्त्व द्वारा, स्रष्टव्य का पर्यालोचन किए जाने का क्या कारण था? **प्रस्तुत मन्त्र में काम को ही उसका कारण बतलाया गया है।** उसकी कामना का कारण उसकी मन सम्बन्धी वासना थी। सभी प्राणियों के अन्तःकरण में समवेत बीजभूत 'काम' है जो सभी मानवीय चित्तवृत्तियों और व्यापारों का हेतु है। वाजसनेययी संहिता में स्पष्ट कहा गया है **'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः।** किसी भी सृजन अथवा कार्य से पहले मन में इच्छा उत्पन्न होती है। उस एक तत्त्व के मन में भी इच्छा उत्पन्न हुई **'एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायै'**। यहाँ काम अथवा सृजन की इच्छा को मन का रेतस् यानि उत्पादक बीज कहा गया है। यही इच्छा उसका तप भी कहलाई। तैतरीय आरण्यक में कहा गया है–

सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत्।
स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।। (तैतरीय आरण्यक 8-6)

सृष्टि की सिसृक्षा (रचना करने की इच्छा) ही मन का रेतस् अर्थात उत्पत्ति का प्रथम बीज था।

क्रान्तदर्शी ऋषियों ने अपनी बुद्धि से विचार कर 'सत' का सम्बन्ध 'असत्' में ढूँढ लिया। तात्पर्य यह है कि उन्हें पता चल गया कि सत् और असत् में सम्बन्ध स्थापित करने वाला सूत्र 'काम' ही है। **'काम' के कारण ही वह एक तत्त्व सत् की उत्पत्ति असत् से कर पाया।**

सायण के अनुसार प्राणियों द्वारा पूर्व कल्प में किए गए पुण्य कर्म जब फलोन्मुखी हो गए तभी उस सर्वसाक्षी, फल प्रदान करने वाले कार्याध्यक्ष परमेश्वर के मन में संसार की उत्पत्ति की इच्छा उत्पन्न हुई। इस प्रकार पहले कल्प में किए गए कर्म ही दूसरे कल्प का कारण बनते हैं, यह बात मनीषियों ने अपने हृदय में अनुभव कर ली। प्राणियों के कर्मों का फल प्रदान करने के लिए ही उस एक तत्त्व में सृष्टि की कामना उत्पन्न हुई जो उसका 'तपस' भी कहलाई और 'मन का प्रथम रेतस्' भी कहलाई।

टिप्पणियाँ

प्रतीष्या— प्रति + √ इष-इच्छार्थे+ ल्यय् **'अन्येषामपि दृश्यते'** (6.3.137) से अन्तिम 'अ' दीर्घ हो गया।

निरविन्दन्— निर + √ विदलृ-लाभे लङ् लकार, प्रथम, पुरुष, एक वचन

मनीषा— यहाँ मनीषया रुप होना चहिए था क्योंकि यह मनीषा प्रतिपदिक से तृतीया विभक्ति, एकवचन, स्त्रीलिङ्ग का रुप है। परन्तु **'सुपां सलुक्'** इत्यादि से विभक्ति लोप हो गया।

समवर्तताधि— सम् + √ वृत-वर्तने, लङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन। **'छन्दसि परेऽपि'** सूत्र से उपसर्ग धातु के बाद आया है।

ति॒र॒श्चीनो॒ वित॑तो र॒श्मिरे॑षाम॒धः स्वि॑दा॒सी३दु॒परि॑ स्विदासी३त्।
रे॒तो॒धा आ॑सन्महि॒मान॑ आसन्त्स्व॒धा अ॒वस्ता॒त्प्रय॑तिः प॒रस्ता॑त्॥ 5॥

ति॒र॒श्चीनः॑। विऽत॑तः। र॒श्मिः। ए॒षा॒म्। अ॒धः। स्वि॒त्। आ॒सी॒इत्। उ॒परि॑। स्वि॒त्। आ॒सी॒इत्।
रे॒तः॒ऽधाः। आ॒स॒न्। म॒हि॒मानः॑। आ॒स॒न्। स्व॒धा। अ॒वस्ता॑त्। प्रऽय॑तिः। प॒रस्ता॑त्।

अन्वय— एषाम् रश्मिः विततः तिरश्चीनः स्विद् अधः आसीत् उत उपरि आसीत्। रेतोधाः आसन् महिमानः आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्।

सरलार्थ— इनका (एषाम्) (अविद्या, काम और कर्म जो सृष्टि की उत्पति के कारण हैं) रश्मि सदृश कार्य वर्ग (रशिमः) विस्तृत था (विततः) (क्या वह) मध्य में था (तिरश्चीनः) अथवा (स्विद्) नीचे (अधः) था (आसीत्) या (उत) ऊपर (उपरि) था (आसीत्)। कुछ बीज भूत कर्म के विधाता (कर्ता ओर भोक्ता) (रेतोधाः) थे (आसन्) (और कुछ) महान् भोग्य (महिमानः) थे (आसन्) (इनमें) स्वधा (स्वधा) निकृष्ट था (अवस्तात्) (और) भोक्ता (प्रयतिः) उत्कृष्ट (परस्तात्)।

सायण भाष्य— एवमविद्याकामकर्माणि सृष्टेर्हेतुत्वेनोक्तानि। अधुना तेषां स्वकार्यजनने शैघ्र्यं प्रतिपाद्यते। येयं नासदासीदित्यविद्या प्रतिपादिता यश्च कामस्तदग्र इति कामो मनसो रेतः प्रथमं यदासीदिति यत्कर्मैषामविद्याकामकर्मणां वियदादिभूतजातानि सृजतां रश्मी रश्मिसदृशो यथा सूर्यरश्मिरुदयानन्तरं निमेषमात्रेण युगपत्सर्वं जगद्व्याप्नोति तथा शीघ्रं सर्वत्र व्याप्नुवन् यः कार्यवार्गो विततो विस्तृत आसीत। स्विदासीदिति वक्ष्यमाणमत्रापि सम्बध्यते। विचार्यमाणानाम्। पा. 8.2.97। इति प्लुत्। तत्रोदात्त इत्यनुवृतेः। स्विदिति वितर्के। य कार्यवर्गः प्रथमतः किं तिरश्चीनस्तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थित आसीत किंवाधोऽधस्तादासीत्। आहोस्विदुपर्युपरिष्टात्किमासीत्। उपरि स्विदासीदिति च। पा.8.2.102। इत्यनुदात्तः प्लुतः। आत्मनः आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः। तै. आ. 8.1। इत्यादिकया पञ्चमीश्रुत्या तत उद्गातारं ततो होतारमितिवत्क्रमप्रतिपत्तौ सत्यामपि विद्युत्प्रकाशवत्सर्गस्य शीघ्रव्यापनेन तस्य क्रमसय दुर्लक्षणत्वादेतेषु त्रिषु स्थानेषु प्राथम्यं कुत्रेति विचार्यते। एवं नाम शीघ्रं सर्वतो दिक्षु सर्गो निष्पन्न इत्यर्थः। एतदेव विभजते। सृष्टेषु कार्येषु मध्ये केचिद्भावा रेतोधा बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवा आसन् अन्ये भावा महिमानः। स्वार्थे इमनिच्। महान्तो वियदादयोभोग्या आसन्। एवं मायासहितः परमेशवरः सर्वं जगत्सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः। अयमेवार्थस्तैत्तिरीयके तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तै. आ. 8.6। इत्यारभ्य प्रतिपाद्यते। तत्र च भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये स्वधा। अन्नमैतत्। भोग्यप्रपञ्चोऽवस्तादवरो निकृष्ट आसीत्। प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात्पर उत्कृष्ट आसीत्। भोग्यप्रपञ्चं भोक्तृप्रपञ्चस्य शेषभूतं कृतवानित्यर्थः विभाषा परावराभ्याम्। पा. 5.3.29। इति प्रथमार्थेऽस्तातिः। अस्ताति च। पा. 5.3.40। अवरशब्दस्यावादेशः। अवस्तादिति संहितायामीषाअक्षादित्वात्प्रकृतिभावः।

स्पष्टीकारण— सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कहा

गया है कि सृष्टि का निर्माण करने वाला बीज 'काम' है जिससे वह एक तत्त्व दो में विभाजित हो जाता है। यह उस 'एकम्' रूप 'आभु' के 'काम' रूपी 'रेतस्' का ही प्रभाव था कि वह दो भागों मे विभाजित हो गया। मन्त्र में प्रयुक्त चार शब्द रेतोधाः, महिमानः 'स्वधा' और 'प्रयति' सृष्टि के दो खण्डों का निर्देश करवा रहे हैं। यद्यपि इन की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है तथापि इसमें भोक्तृ भोग्या रूपा सृष्टि का विवरण सर्वाधिक प्रसंङ्गानुकूल है। 'स्वधा रूप माया का ही विस्तार भोग्य प्रपञ्च है और 'रेतस् को धारण करने वाले 'आभु' रूप अद्वितीय ब्रह्म का ही स्वरुप है। 'समस्त जीव'। **भोक्ता भोग्य से श्रेष्ठ है अतः प्रयतिः (भोक्ता) को 'परस्तात्' श्रेष्ठ कहा गया और भोग्य हीन है अतः 'स्वधा' (भोग्य) को 'अवस्तात् कहा गया।**

सायण ने 'रेतोधाः' को बीजभूत कर्म के विधाता कर्ता एवं भोक्ता जीव माना है तथा 'महिमानः' को महान् आकाश आदि भोग्य पदार्थों का वाचक माना है। तदनुसार मायासहित परमेश्वर ने सम्पूर्ण जगत की सृष्टि कर के, स्वयं उसमें प्रविष्ट होकर भोक्ता और भोग्य इन दो भागों में उसको बाँट दिया। उसमें से भोग्य प्रपञ्च को ही 'स्वधा' कह कर निकृष्ट बतलाया गया है तथा भोक्तृ प्रपञ्च रुप 'प्रयति' को उत्कृष्ट बतलाया गया है।

इस प्रकार माया से युक्त ईश्वर ने समस्त संसार की रचना की और स्वयं ही उसमें प्रवेश करके भोक्ता और भोग्य इन दो रूपों में उसका विभाजन कर दिया **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत'**। ईश्वर इस संसार का उपादान कारण है और जिस प्रकार अन्य उपादान कारण अपने कार्य में व्याप्त होते हैं जैसे मिट्टी घट में, सरसों तेल में, तन्तु वस्त्र में उसी प्रकार ईश्वर भी अपने द्वारा उत्पन्न किए गए सब कार्यों में व्याप्त है।

इस सृष्टि की उत्पत्ति अत्यधिक शीघ्रता से हुई। सूर्यरश्मियों की भाँति सृष्टि ऊपर, नीचे, मध्य में सर्वत्र शीघ्रता से एक साथ व्याप्त हो गई। सूर्यरश्मि का वाचक होने के साथ साथ रश्मि स्वयं प्रकाश रूप चैतन्य का भी वाचक है। वह चैतन्य रूप परमात्मा संसार के सभी पदार्थों में विद्यमान है।

सायण ने अविद्या, काम और कर्म को संसार की उत्पत्ति के मुख्य कारण माने हैं। आसक्ति की भावना से किए गए कर्म अविद्या हैं क्योंकि वे बन्धन का कारण हैं। **सृजन की इच्छा काम** है और जिनका फल प्रदान करने के लिए उस 'तत्' में सिसृक्षा उत्पन्न हुई वे **कर्म** हैं।

टिप्पणियाँ

कुछ विद्वानों ने अधः तथा उपरि, रेतोधाः तथा महिमानः, स्वधा तथा प्रयति को क्रमशः पुंस्त्व और स्त्रीत्व का बोधक माना है। उनके अनुसार जब कामना से युक्त उस तत्त्व के मन में रेतस् (सृष्टि उत्पादक बीज) उत्पन्न हुआ तो वह पुंस्त्व युक्त और स्त्रीत्व सम्पन्न इन दो भागों में विभक्त हो गया।

अवस्तात् परस्तात्— 'विभाषा परावराभ्याम्' (5.3.29) से अवर और पर् के पश्चात 'अस्ताति' प्रत्यय आया तथा 'अस्तातिच' (5.3.40) से अवर् के स्थान पर 'अव्' आदेश हो गया। इस प्रकार पर्+अस्तात् परस्तात् तथा अव्+अस्तात्, अवस्तात् रुप सिद्ध हुए।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।। 6।।

कः। अद्धा। वेद। कः। इह। प्र। वोचत्। कुतः। आऽजाता। कुतः। इयम्। विऽसृष्टिः। अर्वाक्। देवाः। अस्य। विऽसर्जनेन। अथ। कः। वेद। यतः। आऽबभूव।

अन्वय— कः अद्धा वेद कः इह प्रवोचत् इयं विसृष्टिः कुतः कुतः अजाता। देवाः अस्य विसर्जनेन अर्वाक अथ कः वेद यतः आबभूव।

सरलार्थ— कौन (कः) वस्तुतः (अद्धा) जानता है (वेद) कौन (कः) यहाँ (इह) भली भाँति कह सकता है (प्रवोचत्) (कि) यह (इयम्) विविध प्रकार की सृष्टि (विसृष्टिः) किस उपादान कारण से (कुतः) (और) किस निमित्त कारण से (कुतः) उत्पन्न हुई (आजाता)। देवता (देवाः) इसकी (अस्य) सृष्टि के (विसर्जनेन) बाद हुए (अर्वाक्)तब (अथ) कौन (कः) जानता है (वेद) (कि) कहाँ से (यतः) (यह) उत्पन्न हुई (आबभूव)।

सायण भाष्य— एवं भोक्तृभोग्यरूपेण सृष्टिः सङ्ग्रहेण प्रतिपादिता। एतावद्वा इदमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नाद इतिवत्। अथेदानीं सा सृष्टिर्दुर्विज्ञानेति न विस्तरेणाभिहितेत्याह। को अद्धेति। कः पुरुषोऽद्धा पारमार्थ्येन वेद जानाति। को वेहास्मिल्लोके प्रवोचत्। प्रब्रूयात्। इयं दृश्यमाना विसृष्टिर्विविधा भूतभौतिकभोग्यादिरूपेण बहुप्रकारा सृष्टि कुतः कस्मादपादानकारणात् कुतः कस्माच्च निमित्तकारणादाजाता। समन्ताज्जाता प्रादुर्भूता। सतदुभयं सम्यक्को वेद को वा विस्तरेण वक्तुं शक्नुयादित्यर्थः। ननु देवा अजानन्त। सर्वज्ञास्ते ज्ञास्सन्ति

वक्तुं च शक्नुवन्तीत्याह। अर्वागिति। देवाश्चास्य जगतो विसर्जनेन वियदादिभूतोत्पत्त्यनन्तरं विविधं यद्भौतिकं सर्जनं सृष्टिस्तेनार्वागर्वाचीनाः कृताः। भूतसृष्टेः पश्चाज्जाता इत्यर्थः। तथाविधास्ते कथं स्वोत्पत्तेः पूर्वकालीनां सृष्टिं जानीयुः। अजानन्तो वा कथं प्रब्रूयुः। उक्तं दुर्विज्ञानत्वं निर्गमयति। अथैवं सति देवा अपि न जानन्ति किल। तद्व्यतिरिक्तः को नाम मनुष्यादिर्वेद तज्जगत्कारणं जानाति यतः कारणात्कृत्स्नं जगदाबभूव अजायत।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि इस दृश्यमान सृष्टि के विषय में जानना कठिन है। यह कब हुई, कैसे हुई, इस का उपादान कारण कौन है, इसका निमित्त कारण कौन है, यह सब बतलाने वाला कोई नहीं है। देवता स्वयं इसके बाद हुए अतः वे भी इसके रचयिता नहीं है।

इस विषय में आगम ने तो अपना मत स्पष्ट कर दिया कि सृष्टि से पूर्व सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था। कुछ भी अभिव्यक्त नहीं था। अंधकार अंधकार से व्याप्त था। एक अकेला तत्त्व था जो बिना वायु के अपनी शक्ति से सांस लेता था। प्राणियों द्वारा पूर्वकल्प में किए गए कर्म जब फलोन्मुख हो गए तब उस एक तत्त्व के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की कामना हुई। यही कामना उसका 'तप' कहलाई। यही उसके मन का रेतस् भी था। यह रेतस् (सृष्टि उत्पादक प्रथम बीज) भोक्ता जीव और भोग्य प्रपञ्च अथवा पुंस्त्व और स्त्रीत्व दो भागों मे विभक्त हो गया जिससे सृष्टि की उत्पति हुई। परन्तु यह सृष्टि उससे भिन्न नहीं है। जिस प्रकार कारण कार्य में व्याप्त होता है उसी प्रकार वह परमेश्वर भी सृष्टि के कोने कोने में व्याप्त है। उसे सृष्टि से पृथक् नहीं किया जा सकता। वही इस संसार का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण हैं। मुण्डकोपनिषद् में भी स्पष्ट कहा गया है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।।

अर्थात जिस प्रकार मकड़ी जाला बनाती है और उसे समेट लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी से ओषाधियाँ तथा जीवित पुरुष के केश और रोमाञ्च उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस अक्षर से संसार उत्पन्न होता है।

तैतरीय आरण्यक में भी इसकी पुष्टि की गई 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत' (तैतरीय आरण्यक 8.6)

परन्तु जो आगम की उपेक्षा करके अपनी अपनी अटकलें लगातें रहतें हैं,

वे कभी भी इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त नहीं कर सकते कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई। जैसे कणाद और गौतम जगत का कारण परमाणु को मानते हैं। कपिल के अनुसार स्वतन्त्र अचेतन जगत् का मूल कारण है। माध्यमिकों के अनुसार जगत् शून्य से उत्पन्न हुआ है जबकि चावकि् मानते हैं कि जगत् का कारण ही नहीं है, यह स्वभाव से है। परन्तु ये सब भ्रान्तियाँ ही हैं। जगत का मूल कारण साक्षात् कोई नहीं जान सकता क्योंकि केवल देवता अथवा मनुष्य ही इस विषय में कुछ कह सकते हैं। देवता कुछ कर नहीं सकते क्योंकि वे तो स्वयं सृष्टि के बाद हुए। जब देवताओं की यह गति है तो और कौन बता सकता है। यह अनुमान का विषय भी नहीं है क्योंकि उसके योग्य हेतु वा दृष्टान्त का अभाव है।

अतः यह अत्यधिक गम्भीर गहन परमार्थ तत्त्व केवल वेद के द्वारा ही समधिगम्य है।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।। 7।।

इयम्। विऽसृष्टिः। यतः। आऽबभूव। यदि। वा। दधे। यदि। वा। न।

यः। अस्य। अधिऽअक्षः। परमे। विऽओमन्। सः। अङ्ग। वेद। यदि। वा। न। वेद।

अन्वय— इयम् विसृष्टिः यतः आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। परमे व्योमन् यो अस्य अध्यक्षः अङ्ग सः वेद यदि वा न वेद।

सरलार्थ— यह (इयम्) विविधा सृष्टि (विसृष्टिः) जिससे (यतः) उत्पन्न हुई (आबभूव) (वह) भी इसे धारण करता है (दधे) या (वा) धारण नहीं करता (न) (यह निश्चित रुप से नहीं कहा जा सकता)। इसका (अस्य) अध्यक्ष (अध्यक्षः) जो (यः) परम (परमे) व्योम में है (व्योमन्) वह भी (सः अङ्ग) जानता है (वेद) अथवा (यदि वा) नहीं (न) जानता (वेद)।

सायण भाष्य— उक्तप्रकारेण यथेदं जगत्सर्जनं दुर्विज्ञानं एवं सृष्ट तज्जगद दुर्धरमपीत्याह। इयमिति। यत उपादानभूतात्परमात्मन इयं विसृष्टिर्विविधा गिरिनदीसमुद्रादिरूपेण विचित्रा सृष्टिराबभूव आजाता सोऽपि किल यदि वा दधे धारयति यदि व न धारयति। एवं च को नामान्यो धर्तुं शक्नुयात्। यदि धारयेदीश्वर एव धारयेन्नान्य इत्यर्थः। एतेन कार्यस्य धारयितृत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मण उपादानकारणत्वमुक्तं भवति। तथा च पारमार्षं सूत्रम्। प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानु-

परोधत्। वेदा. 1.4.23। इति। यद्वा। अनेनार्धर्चेन पूर्वोक्तं सृष्टेर्दुर्ज्ञानत्वमेव दृढयति। को वेदेत्यनुवर्तते। इयं विविधा सृष्टिर्यत आबभूव आ समन्तादजायतेति को वेद। न कोऽपि। नास्त्येव जगतो जन्म कदाचिदनीदृशं जगदिति बहवो भ्रान्ता भवन्त्यपि। यतः। जनिकर्तुः प्रकृतिः। पा. 1.4.30। इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चम्यास्तसिल्। यस्मात्परमात्मनः उपादानभूतादाबभूव तं परमात्मानं को वेद। न कोऽपि। प्रकृतितः परमाणुभ्यो वा जगज्जन्मेति हि बहवो भ्रान्ताः। तथा स एवोपादानभूतः परमात्मा स्वयमेव निमित्तभूतोऽपि सन् यदि वा दधे विदध इदं जगत्ससर्ज यदि वा न ससर्ज। असन्दिग्धे सन्दिग्धवचनमेतच्छास्त्राणि वेत्प्रमाणं स्युरिति यथा। स एव विदधे। तं को वेद। अजानतोऽपि बहवो जडात्प्रधनादकर्तृ कमेवेदं जगत्स्वयमजायतेति विपरीतं प्रतिपन्ना विदधतो विधानमजानन्तोऽपि। स एवोपादानभूत इत्यपि को वेद। न कोऽपि। उपादानादन्यस्तटस्थ एवेश्वरो विदध इति हि बहवः प्रतिपन्नाः। देवा अपि यन्न जानन्ति तदर्वाचीनानामेषां तत्परिज्ञाने कैव कथेत्यर्थः। यद्येवं जगत्सृष्टिरत्यन्तदुःखबोधना तर्हि सा प्रमाणपद्धतिमध्यास्त इत्याशङ्क्य तत्सद्भाव ईश्वरो वेदं प्रमाणयति। यो अस्येति। अस्य भूतभौतिकात्मकस्य जगतो योऽध्यक्ष ईश्वरः परम उत्कृष्टे सत्यभूते व्योमन् व्योमन्याकाश आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे। यद्वा। अवतेस्तर्पणार्थादन्येभ्योऽपि दृश्यन्त इति मनिन्। नेड्वशिकृतीतीट्प्रतिषेधः। ज्वरत्वरेत्यादिना वकारोपधयारूट्। सप्तम्या लुक्। न ङिसम्बुद्ध्योरिति नलोपप्रतिषेधः। व्योमनि विशेषेण तृप्ते। नेरतिशयानन्दस्वरूप इत्यर्थः। यद्वा। अवतिर्गत्यर्थः। व्योमनि विशेषेण ज्ञातरि विशिष्टज्ञानात्मनि। ईदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः। श्रुयते हि सनत्कुमारनारदयोः संवादे। स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठत इति स्वे महिन्नि। छा. उ. 7.24.1। इति। ईदृशो यः परमेश्वरः सो अङ्ग। अङ्गेति प्रसिद्धौ। सोऽपि नाम वेद जानाति। यदि वा वेद न जानाति। को नामान्यो जानीयात्। सर्वज्ञ ईश्वर एव तां सृष्टिं जानीयात् नान्य इत्यर्थः।

स्पष्टीकरण– पूर्वोक्त मंत्रों में सृष्टि की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन कर देने के पश्चात् प्रस्तुत मन्त्र में यह कहना कि वह इसे धारण भी करता है अथवा नहीं और इस सृष्टि का परम अध्यक्ष जो परम व्योम में है, वह, इसकी उत्पत्ति के विषय में जानता भी है अथवा नहीं, एक विद्वान् की अज्ञानता को प्रकट करने का सुन्दर ढंग है।

प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि इस सारी सृष्टि का एक ही अध्यक्ष है। वही इसका उपादान और निमित्त दोनों ही कारण है। उसके सिवाय अन्य कोई

इस सृष्टि को धारण नहीं कर सकता। वही इसकी उत्पत्ति के विषय में जानता है, अन्य कोई नही जान सकता। जब देवता भी इस सृष्टि की रचना के बाद ही हुए तो वे इसके विषय में कैसे बतला सकते हैं। जब देवता भी कुछ नहीं बतला सकते तो मनुष्यों का तो कहना ही क्या? वही सर्वज्ञ ईश्वर जो सबका अध्यक्ष है, सर्व प्रकाशक है, निरतिशय आनन्द रुप है, विशिष्ट ज्ञानयुक्त है, परम व्योम में विद्यमान है, वही इस सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है वही इस के विषय में जानता है।

परमे व्योमन् का अर्थ है कि इस भूतभौतिकात्मक जगत् का जो अध्यक्ष है, वह ईश्वर परम व्योम अर्थात स्वप्रकाश में अवस्थित है अथवा निरतिशय आनन्दरूप है अथवा विशिष्ट ज्ञानात्मन् अर्थात् स्वात्मा में प्रतिष्ठित है। तुलनीय छान्दोग्योपनिषद् **'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि'** (7.24.1)

टिप्पणियाँ

दधे— √धा, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** से लट् लकार के अर्थ में लिट् लकार का प्रयोग हुआ है।

व्योमन्— यहाँ व्योम्नि रूप होना चाहिए था क्योंकि यह सप्तमी विभक्ति, एक वचन का रूप है। परन्तु **'सुपां सुलुक्'** इत्यादि से विभक्ति लोप हो गया।

卐 卐 卐

दुःस्वप्ननाशनम् (ऋग्वेद, 10.164)

दुःस्वप्ननाशनम् सूक्त ऋग्वेद के 10वें मण्डल का 164वाँ सूक्त है। इसका देवता **'दुःस्वप्ननाशनम्'** है, ऋषि **'प्रचेता आङ्गिरस'** है। प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ मन्त्र में **अनुष्टुब्** छन्द है, तीसरे में **त्रिष्टुब्** है तथा पञ्चम मन्त्र में **पंक्ति** छन्द है। सायण के अनुसार दुःस्वप्नों का नाश करना ही इसका विनियोग है।

प्रचेता का अर्थ है **प्रकृष्ट ज्ञान वाला** और **'आङ्गिरस'** का अर्थ है **'अग्नि के समान तेजस्वी अथवा जिसके सभी अङ्ग रसपूर्ण हैं। इससे कर्म शीलता तथा सहृदयता की तरफ सङ्केत है** (विस्तृत व्याख्या के लिए दृष्टव्य 'इन्द्र सूक्त')

तत्त्वान्वेषण करने वाले का प्रकृष्ट ज्ञानी होना सुनिश्चित है और यदि ज्ञान के साथ कर्मशीलता और सहृदयता भी हो तो सोने पर सुहागे के समान उसका ज्ञान और भी अधिक प्रखर होकर गहराई तक पहुँचने का प्रयास करता है। इस प्रकार प्रचेता आङ्गिरस ने 'दुःस्वप्ननाशनम्' सूक्त में अपनी विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिक दृष्टि का सूक्ष्म परिचय दिया है। 'दुःस्वप्ननाशनम्' सूक्त छोटा होता हुआ भी अत्यन्त सारगर्भित है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अत्यन्न महत्त्वपूर्ण सूक्त है। मनोविज्ञान के मूलभूत गूढ़ तत्व इस सूक्त में अत्यन्त काव्यमयी भाषा मे हैं। प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में इस प्रकार का सूक्ष्म, तर्कसङ्गत और वैज्ञानिक मानसिक विश्लेषण वैदिक ऋषियों की चहुँमुखी ज्ञान प्रतिभा का परिचायक है। वैदिक ऋषि ने उस समय मन की गहराई तक पहुँच कर उन तत्त्वों का अन्वेषण भी कर लिया था जो आधुनिक मनोविज्ञान के मूलभूत आधार हैं।

मन की शक्ति अतुलित है। इसी कारण यजुर्वेद के शिवसंकल्पसूक्त (34 वाँ अध्याय) के प्रत्येक मंत्र में मन के शिवसङ्कल्प अर्थात् शुभ निश्चय वाला होने की प्रार्थना की गई है। समस्त ज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, चिन्तन, मनन, धारण, भूत, भव्य, वर्तमान सभी मन के कारण हैं। मन ही मनुष्य को उचित अथवा अनुचित मार्ग पर ले जाता है। इसी कारण **गीता में** भी कहा गया है, **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।** मन की चञ्चलता को स्वीकार करने पर भी उपनिषद् मन को ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन मानते हैं **'मनसैवेदमाप्नुयात्'।** शिवसंकल्प सूक्त में चेतन और अवचेतन दोनों ही मन का उल्लेख इस प्रकार

किया गया है—

'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति' (वाजसेनमी संहिता 32-1) अर्थात जो दिव्य मन जागते हुए मनुष्य का दूर तक जाता है वही उसी प्रकार सोते हुए का भी दूर तक जाता है। जब मुनष्य का चेतन मन सो जाता है तब भी उसका अवचेतन मन कार्य करता रहता है। अवचेतन मन के कारण ही स्वप्न आते हैं।

ऋग्वेद के **'दुःस्वप्ननाशनम्'** सूक्त में मन के इसी पक्ष अर्थात् अवचेतन मन का विश्लेषण कुछ अनूठे ढंग से ही किया गया है। बहुत बार हम मन में किसी के लिए कुछ बुरा करने का विचार करते हैं, उसका अहित करने के लिए योजनाएँ भी बनाते हैं परन्तु अपने संस्कारों, शिष्टाचार अथवा सामाजिक मर्यादाओं के विरुद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष रुप से न तो कुछ बोलते हैं और न ही कुछ करते हैं। परन्तु हमारी यह सोच अन्दर की अन्दर इकठ्ी होती रहती है और कभी जाने अनजाने में अनायास ही हमारे न चाहने पर भी या तो वाणी द्वारा अथवा हमारी प्रतिक्रिया द्वारा वह भड़ास प्रकट हो जाती है। यह अवाञ्छित स्वप्न के समान होता है। जब न चाहने पर भी हम अचानक कुछ कर देते हैं वह हमारे अवचेतन मन के कारण ही होता है। अवचेतन मन की इस शक्ति को देखते हुए ही उसे 'मनस्पतिः' कहा गया है। मनुष्य की अनेक शक्तियाँ प्रसुप्तावस्था में होती हैं। कभी चेतन मन के द्वारा वे वाणी अथवा कार्यों के माध्यम से प्रकट होती हैं तो कभी अवचेतन मन द्वारा अनचाहे कथनों व प्रतिक्रियाओं के रूप में अथवा स्वप्नों के रूप में प्रबुद्ध होती हैं।

प्रस्तुत सूक्त में अवचेतन मन से प्रार्थना की गई है वह हमसे दूर रहे, कहीं और चला जाए, अपने प्रभाव से हमें मुक्त रखे ताकि हमें कभी भी किसी भी प्रकार के सङ्कोच, लज्जा अथवा अनिच्छित परिस्थिति का सामना न करना पड़े। वस्तुतः अवचेतन मन के कारण मनुष्य का किसी अप्रत्याशित शोचनीय स्थिति में पड़ जाना उसके जाग्रतावस्था में स्वप्न लेने के समान ही प्रतीत होता है क्योंकि उसे अपने ऊपर हीं विश्वास नहीं हो पाता कि यह सब कैसे हो गया।

मानव मन का इतना गहन, यथार्थ और मनोवैज्ञानिक चिन्तन, विवेचन और विश्लेषण अन्य किसी भी प्राचीन सहित्य में नहीं हुआ। पुरुष सूक्त (ऋग्वेद 10.90) में मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति मानना **'चन्द्रमा मनसो जातः'** भी वैदिक ऋषि की तत्त्वान्वेषी दृष्टि का द्योतक है क्योंकि मन और चन्द्रमा का घनिष्ठ

सम्बन्ध है (दृष्टव्य 10.90.13 की व्याख्या)। अथर्ववेद में तो मनोचिकित्सा के अनेक सङ्केत भी प्राप्त होने हैं।

आजकल प्रत्येक दूसरा व्यक्ति किसी न किसी रुप में Depressionका शिकार है। अस्पतालों में इस रोग के बड़े बड़े विभाग हैं। परन्तु आत्मविश्वास, मनोबल और इच्छाशक्ति बढ़ाने में ही इस असाध्य रोग की साध्यता है। मनुष्य को स्वयं को बहिर्मुखी बनाने का प्रयास करना चहिए।

'दुःस्वप्ननाशनम्' सूक्त में तो मानसिक रोगों के मूल कारणों को ही दूर करने की प्रार्थना की गई है।

दुःस्वप्ननाशनम् (ऋग्वेद 10.164)

अपेहि मनसस्पतेऽपं क्राम परश्चरं

परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवंतो मनंः।। 1।।

अपं। इहि। मनसः। पते। अपं। क्राम। परः। चर।

परः। निः ऋत्यै। आ। चक्ष्व। बहुधा। जीवंतः। मनंः।

अन्वय— मनसः पते अपेहि अपक्राम परः चर। निऋत्यै परः आ चक्ष्व जीवतः मनः बहुधा।

सरलार्थ— हे मन के स्वामी (मनसः पते) अर्थात् दुःस्वप्नों के अधिदेव (तुम) दूर हो जाओ (अपेहि) दूर अलग चले जाओ (अपक्राम) कहीं दूर जाकर (परः) विचरण करो (चर) पापभावना के लिए (निर्ऋत्यै) दूर हो कर (परः) (किसी अन्य से) बात करो (आ चक्ष्व) जीवित का (जीवतः) मन (मनः) बहुत प्रकार का है (बहुधा)।

सायण भाष्य— अपेहीति पञ्चर्च त्रयोदशं सूक्तम्। आङ्गिरसस्य प्रचेतस आर्षम्। तृतीया त्रिष्टुप् पञ्चमी पङ्क्ति। दुःस्वप्ननाशन देवता। तथा चानुक्रान्तम्। अपेहि पञ्च प्रचेता दुःस्वप्नघ्नं पङ्क्त्यन्तं त्रिष्टुब्मध्यमिति। लैङ्गिको विनियोगः।

हे मनसस्पते स्वप्नावस्थस्य मनसः स्वामिन् दुःस्वप्नाधिदेव अपेहि। अपगच्छ स्वप्नावस्थावतो मत्तो निर्गच्छ। निर्गत्य चाप क्राम। देशान्तरं गन्तुं पादौ विक्षिप। दूरदेशं गच्छेत्यर्थः। अपक्रम्य च परः परस्ताद्विप्रकृष्टे देशे चर। यथेच्छं वर्तस्व। अपि च निर्ऋत्यै पापदेवतायै परः परस्ताद्वर्तमानाया आ चक्ष्व। वयं न बाधनीया इति प्रब्रूहि। जीवतो मम मनो बहुधा बहुप्रकारं भवति। भोक्तव्येषु बहुष विषयेषूत्सुकं सद्वर्तते। अतस्तद्विनाशंक दुःस्वप्नदर्शनं नश्यत्वित्यर्थः।

स्पष्टीकारण— जैसा कि पहले ही परिचयात्मक टिप्पणी में कहा जा चुका है मन में अनेक बार दुर्भावनाएँ, कुविचार उत्पन्न होते हैं। कई बार हम अनुचित कार्य करने का विचार भी कर लेते हैं परन्तु संस्कारों, शिष्टाचार व सामाजिक मर्यादाओं के कारण न तो वाणी से अभिव्यक्त कर पाते हैं और न ही उसे कार्यान्वित कर पाते हैं। परन्तु यह सब मन से निकल नहीं पाता अपितु अवचेतन मन में संगृहीत होता रहता है। हमारे न चाहने पर भी कभी न कभी वह वाणी अथवा कार्य के द्वारा प्रकट हो जाता है। इसका कारण अवचेतन मन है। उसे ही यहाँ स्वप्नों का अधिष्ठाता देव कहा गया है।

प्रस्तुत मन्त्र में अवचेतन मन से प्रार्थना की गई है कि वह मुझसे दूर होकर अन्यत्र कहीं विचरण करे। अभिप्राय यह है कि बुरे विचार, बुरी भावनाएँ मेरे मन से पूर्ण रूप से निकल जाएँ ताकि किसी के सामने मुझे कभी भी लज्जित न होना पड़े। न वे होंगी और न ही कभी भी जाने अनजाने अप्रत्याशित रुप से वे प्रकट होंगी।

ये पापभावनाएँ किसी अन्य के मन में उत्पन्न हों। एक अन्य कटु सत्य यह भी है कि मन अत्यधिकत चञ्चल है **'न वै वातात्किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति'** अर्थात् न वायु से अधिक कोई वेगवान् है और न ही मन से अधिक वेगवान् कोई है। जागृतावस्था में मन अनेक भोग-विलासों की तरफ प्रवृत्त होता रहता है। जब वे जागृतावस्था में प्राप्त नहीं होते तो स्वप्नावस्था में अवचेतन मन उन्हें पूरा करने का प्रयास करता है। चेतन मन के सो जाने पर भी अवचेतन मन कार्यरत रहता है।

प्रसिद्ध **मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड** का भी यही मत है कि जागृतावस्था में पूरी न होने वाली इच्छाएँ ही स्वप्न के माध्यम से अवचेतन मन के द्वारा पूरी की जाती हैं।

वेंकट माधव और **सायण** ने सम्पूर्ण सूक्त को दुःस्वप्न नाश करने के अर्थ में माना है। उनके अनुसार दुःस्वप्न के अधिदेव से प्रार्थना की गई है कि "स्वप्नावस्था में विद्यमान तू मुझसे निकल जा'।

टिप्पणियाँ

निर्ऋत्या आ चक्ष्व— सायण ने तृतीव तथा चतुर्थ पाद को पृथक् माना है। तृतीय पाद में 'निर्ऋत्या' में चतुर्थी विभक्ति मान कर ही अर्थ किया 'दूर रहने वाले पाप देवता (निर्ऋत्यै) से कहो (कि वह हमें बाधित न करे)'

वेंकट माधव ने इस का अर्थ किया है 'हे मेरे मन के स्वामी तू दूर स्थित निर्ऋति से कह कि जीवित व्यक्ति का मन कामनाओं के कारण बहुत प्रकार का होता है (उसे तू हिंसित न करना)। उन्होंने तृतीय तथा चतुर्थ पाद का अर्थ एक साथ किया है।

ग्रिफिथ ने 'निर्ऋति' का अर्थ विनाश तथा 'आचक्ष्व' का अर्थ 'देखो' किया है अर्थात् 'विनाश को यहाँ से दूर देखो'।

आ चक्ष्व— आ + √ चक्षिन्, मध्यम पुरुष, एकवचन, लोट् लकार व्यत्यय से आत्मनेपद धातु में परस्मैपद प्रत्यय हैं।

अपेहि— अप् + √ इ-गतौ, लोट् लकार, मध्यम, पुरुष, एकवचन। **'सेर्ह्यपिच्च'** (3.4.87) से 'सि को हि' आदेश हो गया।

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः।। 2।।

भद्रम्। वै। वरम्। वृणते। भद्रम्। युञ्जन्ति। दक्षिणम्।
भद्रम्। वैवस्वते। चक्षुः। बहुऽत्रा। जीवतः। मनः।

अन्वय— भद्रं वरं वै वृणते भद्रं दक्षिणं युञ्जन्ति। वैवस्वते भद्रं चक्षुः जीवतः मनः बहुत्रा।

सरलार्थ— (सभी) कल्याणकारी (भद्रम्) कामना का (वरम्) ही (वै) वरण करते हैं (वृणते) (तथा) कल्याणकारी कार्य (भद्रम्) दक्षता पूर्वक (दक्षिणम्) करते हैं (युञ्जन्ति)। विवस्वान् के पुत्र यम में (वैवस्वते) कल्याण कारी (भद्रम्) दृष्टि की (चक्षुः) (प्रार्थना करते हैं) जीवित का (जीवतः) मन (मनः) बहुत से स्थानों पर (बहुत्रा) (प्रवृत्त होता है)

सायण भाष्य— भद्रं वै शोभनमेव वरं वरणीयं दुःस्वप्नविनाशरूपं फलं वृणते। सर्वे जनाः प्रार्थयन्ते। दक्षिणं प्रवृद्धं भद्रं शोभनं तत्फलं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्ति च। वैवस्वते विवस्वते विवस्तः पुत्रे यमे विषये भद्र शोभनमेव चक्षुर्दर्शनमहं प्रार्थये। दुःस्वप्नाधिदेवो वैवस्वतोऽस्मान्मा बाधताम्। भद्रमेव दर्शनमिह लोकेऽवस्थानलक्षणं करोत्वित्यर्थः। बहुषु हि विषयेषु जीवतो मम मनो वर्तते।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मंत्र में कहा गया है कि सभी मनुष्य कल्याणकारी इच्छाओं की ही कामना करते हैं व उनकी पूर्ति के लिए कल्याण करने वाले कर्मों को ही पूर्ण कुशलता व दक्षता से करते हैं। वस्तुतः कल्याण ही वह श्रेष्ठ वर है जिसकी इच्छा की जा सकती हैं। 'कल्याण' यह शब्द सुख प्रदान करने वाली सभी वस्तुओं का बोधक होने के कारण भौतिक और आध्यात्मिक दोनों सुखों का समावेश कर लेता है। प्रत्येक शुभ तथा कल्याणकारी कार्य सावधानीपूर्वक किए जाने के पश्चात् भी न चाहते हुए भी मनुष्य के मन में कुविचार अनायास आ जाते हैं। मन अत्यधिक चञ्चल है, वायु के समान उसका निग्रह किया जाना अत्यन्त दुष्कर है **'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव दुष्करम्'** (गीता 6.34) अतः विवस्वान् के पुत्र यम से प्रार्थना की गई है कि वह अपनी कृपा दृष्टि हमारे ऊपर बनाए रखे ताकि कोई भी बुरा विचार हमारे अवचेतन मन में भी न आ पाए। **यम अवचेतन मन का स्वामी है।** वस्तुतः किसी भी दुर्भावना अथवा कुविचार की अवचेतन मन द्वारा प्रकट किए जाने की आशङ्का रहती है। इसी कारण अवचेतन मन के स्वामी यमदेवता से प्रार्थना की गई है कि हमारे चेतन मन में भी किसी प्रकार का दुष्ट विचार न आए।

टिप्पणियाँ

भद्रं वरम्— प्रायः सभी विद्वानों ने इसका अर्थ **'कल्याणकारी करणीय कर्म'** किया है परन्तु **सायण** ने इसका अर्थ **'वरणीयफल'** किया है। उनके अनुसार दुःस्वप्ननाश ही वरणीय फल है। ''भद्रं शोभनमेव वरं वरणीयं दुःस्वप्नविनाशरूपं फलं वृणते'। **वेंकट माधव'** ने इसका अर्थ **'भजनीय धन'** किया है।

भद्रं दक्षिणं युञ्जन्ति— द्वितीय चरण में सायण ने दक्षिण का अर्थ **'प्रवृद्ध'** माना है। भद्रम् के साथ फलम् का अध्याहार, करते हुए अर्थ किया है 'बढ़ा हुआ अच्छा फल प्राप्त करते हैं। **वेंकट माधव** और गेल्डनर ने इसका अर्थ **'अच्छे घोड़ों को जोतो'** किया है। उन्होंने 'दक्षिणम्' का अर्थ 'अच्छे घोड़े' किया है।

परन्तु यह ध्यातव्य है कि इस मन्त्र में घोड़े का वाचक कोई भी शब्द न होने पर भी इन विद्वानों ने सम्भवतः 'युञ्जन्ति' (जोतते हैं) के आधार पर यह अर्थ कर दिया।

भद्रं चक्षुः— सायण ने अर्थ किया **'मैं यम के विषय में अच्छे दर्शन की प्रार्थना करता हूँ'** अर्थात दुःस्वप्न का देवता यम (वैवस्वत) हमें कष्ट न पहुँचाए।

ग्रिफिथ ने अर्थ किया 'वे वैवस्वत के साथ कल्याण देखते हैं'। श्री सत्यभूषण योगी ने अर्थ किया—'वे मनुष्य विवस्वान् के पुत्र से भद्र दृष्टि प्राप्त करते हैं'।

वैवस्वते— 'विवस्वतोऽपत्यम्' इति। विवस्वत्+अण् प्रत्यय सप्तमी विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

बहुत्रा— सायण ने इसका अर्थ 'बहुत से विषयों मे' किया। अन्य सभी विद्वानों ने 'बहुत से स्थानों पर' अर्थ किया। यहाँ **'देवमनुष्यपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्** (5.4.56) से सप्तम्यर्थ में बहु के पश्चात् 'त्रा' का आगम हो गया। यद्यपि इस सूत्र में बहु का उल्लेख नहीं है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि 'बहुलम्' पद से समानार्थक कुछ अन्य पद भी ग्राह्य हैं।

यदाशसा निः शसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु।। 3।।

यत्। आऽशसा। निःऽशसा। अभिऽशसा। उपऽआरिम। जाग्रतः। यत्। स्वपन्तः। अग्निः। विश्वानि। अप। दुःऽकृतानि। अजुष्टानि। आरे। अस्मत्। दधातु।

अन्वय— आशसा निः शसा अभिशसा जाग्रतः स्वपन्तः यत् उपारिम अग्निः विश्वानि अजुष्टानि दुष्कृतानि अस्मत् आरे अपदधातु।

सरलार्थ— आशा से (आशसा) तटस्थभाव से (निःशसा) (अथवा) निन्दा की भावना से (अभिशसा) जागते हुए (जाग्रतः) (और) सोते हुए (स्वपन्तः) जो (यत्) हमने प्राप्त किया है (उपारिम) हे अग्नि (अग्निः) (उन) समस्त (विश्वानि) अवाञ्छित (अजुष्टानि) बुरे कार्यों को (दुष्कृतानि) हमसे (अस्मत्) दूर (आरे) रखें (अपदधातु)।

सायण भाष्य— यद् दुष्कृतमाशसाशंसनेनाभिलषेण जाग्रतो जागरणावस्थायां वर्तमाना वयमुपारिम उपगतवन्तः स्म यच्च स्वपन्तः स्वप्नावस्थां प्राप्ता उपगतवन्तः तथा निःशसा निःशसनेन निर्गताभिलाषेणाभिशसाभिगताभिलाषेण च कारणेनावस्थाद्वये यद् दुष्कतमुपागच्छेम। तानि विश्वानि सर्वाण्यजुष्टान्यसेव्यान्यप्रियाणि वा दुष्कृतानि दुक्कर्माण्यग्निः अस्मदारेऽस्मत्तो दूरदेशेऽप दधातु। अपकृष्य स्थापयतु।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में उन सब कारणों का सूक्ष्म, यथार्थ और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जिनके कारण मनुष्य जाने अनजाने

में दुर्भावनाओं से ग्रस्त हो जाता है अथवा दुष्कर्म करता है। **इसका पहला कारण आशा है।** मनुष्य के पास जो वस्तुएँ नहीं है परन्तु वह उन्हें प्राप्त करना चाहता है तो यही आशा उसके मन में उन व्यक्तियों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और दुराभाव उत्पन्न कर देती है जिनके पास वे वस्तुएँ है। यह ईर्ष्या द्वेष दो प्रकार से प्रकट होता है (1) उनके प्रति तटस्थ हो कर, उनकी उपेक्षा कर देता है और (2) जब वस्तु सम्पन्न व्यक्तियों की वह अभाव ग्रस्त व्यक्ति अकारण ही निन्दा करने लगता है और उन्हें मानसिक कष्ट पहुँचाता है। ये सब विचार जागते समय चेतन मन में अथवा सोते समय अवचेतन मन में आते रहते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में भी इसी बात की पुष्टि की गई है कि हम सदा अपने ही कारण प्रमाद नहीं करते बल्कि हमसे प्रमाद करवाने के अन्य कारण भी हैं जैसा कि निम्न मंत्र से स्पष्ट है

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचिति।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चेदनृतस्य प्रयोता।। (ऋग्वेद, 7.86.6)

(केवल अपनी इच्छा ही नहीं अपितु नियति, मदिरा, क्रोध, अक्ष, अज्ञान भी पापवृत्ति के कारण हैं। फिर बड़े भी छोटों को प्रेरित करते हैं और स्वप्न भी पाप को देने वाला होता है)।

वस्तुतः अग्नि, प्रकाशयुक्त है, तेजस्वी है और सब कुछ भस्म करने में समर्थ है अतः उससे प्रार्थना की गई है कि वह उन दुर्भावनाओं को हमसे दूर ही रखे। वह हमें ऐसी सद्बुद्धि दे जिससे अवचेतन मन में सुप्तावस्था में उत्पन्न होने वाले दुराभाव भी दूर हो जाएँ।

टिप्पणियाँ

आशसा, निःशसा, अभिशसा— सायण ने इनका अर्थ क्रमशः **'अभिलाषा के द्वारा' 'अभिलाषा रहित होकर'** तथा **'अभिलषित को प्राप्त करके'** किया है। **प्रो. सत्यभूषण योगी** ने इन तीनों शब्दों को शस्-हिंसायाम् से निष्पन्न मान कर इनके अर्थ क्रमशः **हिंसाभाव, हिंसावृत्ति तथा 'हिंसा कर्म, किया है।** इन पर टिप्पणी देते हुए उन्होंने कहा है कि ईर्ष्या द्वेष इत्यादि हिंसा की भावना के ही रूप हैं। इनसे मनुष्य का मन दुर्बल होता है।

ग्रिफिथ ने सम्भवतया शंस्-कहना के अर्थ में मान कर इनका अर्थ **सम्बोधन, निन्दा और गाली किया है।**

पण्डित चारुदेव शास्त्री ने आशसा का अर्थ 'इच्छा अथवा 'आशा' किया है। निस् उपसर्ग पूर्वक आशस् का कुछ भी कहे बिना अर्थात 'तटस्थ भाव' से अर्थ किया है और अभि उपसर्ग पूर्वक शंस का अर्थ 'निन्दा' किया है।

उपारिम— उप + √ ऋ-गतौ लुङ् लकार, उत्तम, पुरुष, बहुवचन।

अग्निः— प्रो. सत्यभूषण योगी ने इसे 'सङ्कल्प शक्ति' बताया है अर्थात् दृढ़ संकल्प शक्ति से हम पापकर्मों से दूर रह सकते हैं।

जाग्रतः— √ जागृ + शतृ, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

स्वपन्तः— √ स्वप् + शतृ, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

अपदधातुः— अप + √ धा लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन 'व्यवहिताश्च' सूत्र से धातु और उपसर्ग को बीच व्यवधान है।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि।
प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः।। 4।।

यत्। इन्द्र। ब्रह्मणः। पते। अभिऽद्रोहम्। चरामसि।
प्रऽचेता। नः। आङ्गिरसः। द्विषताम्। पातु। अंहसः।

अन्वय— इन्द्र ब्रह्मणस्पते यत् अभिद्रोहम् चरामसि प्रचेता आङ्गिरसः द्विषताम् अंहसः पातु।

सरलार्थ— हे इन्द्र (इन्द्र) हे ब्रह्मणस्पति (ब्रह्मणस्पते) जो भी (यत्) अभिद्रोह (अभिद्रोहम्) हम करते है। (चरामसि) हे प्रचेता आङ्गिरस (प्रचेता आङ्गिरसः) शत्रुओं के (द्विषताम्) (कष्ट से) (और) पाप से (अंहसः) रक्षा करो (पातु)।

सायण भाष्य— हे इन्द्र हे ब्रह्मणस्पते युवयोर्विषये यदभिद्रोहमभितोद्रोहं पापं दुःस्वप्नकारणं चरामसि आचरामः कुर्मः तस्मादभिद्रोहादस्मान् रक्षतमिति शेषः। अपि चाङ्गिरसोऽङ्गिरोभिः स्तोतृभिः सबान्धवः प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानो वरुणश्च द्विषतां द्वेष्टृणामंहसस्तत्कर्तृकाद् अस्मद्विषयात्पापान्नोऽन्मान्पातु। रक्षतु। यद्वा विभक्तिव्यत्ययः। आङ्गिरामङ्गिरोगोत्रं प्रचेतसमृषि नः। वचनव्यत्ययः। मां द्विषतामंहसः पातु। प्रकृतत्वादिन्द्र इति गम्यते।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सब का परमेश्वर व स्वामी होने के कारण इन्द्र से प्रार्थना की गई है। इन्द्र शब्द √ इदि-इन्द से निष्पन्न है जिसका अर्थ है 'स्वामी होना'। इन्द्र अपनी शक्ति से अकेला ही सबका शासक है 'एक ईशान

ओजसा'। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ मन है **'यन्मनः स इन्द्रः'** (गोपथ ब्राह्मण 2.4.11) प्रस्तुत सूक्त में मन का विश्लेषण व विवेचन होने के कारण इन्द्र की स्तुति सर्वथा उचित है।

सायण के अनुसार इन्द्र और मन्त्रों के स्वामी ब्रह्मणस्पति से कहा गया है कि जाने, अनजाने, जागते हुए अथवा सोते हुए चेतन अथवा अवचेनत मन से हम आप दोनों के प्रति जो द्रोह करते हैं और जो पाप करते हैं, वे ही हमारे दुःस्वप्न का कारण बनते हैं। उस द्रोह व पाप से हमारी रक्षा कीजिए। वह परमेश्वर प्रचेता आङ्गिरस है अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान युक्त (प्रचेता) और अग्नि स्वरुप तेजस्वी होने पर भी सहृदय है, दयालु है और आनन्दस्वरुप है (आङ्गिरस)। रस एक तरफ दयार्द्रता का प्रतीक है तो दूसरी तरफ आनन्द का। वह दयालु है अतः हमारे द्वारा किए गए अपराधों को अवश्य क्षमा कर देगा और भविष्य में उन्हें न करने के लिए प्रेरित करके हमारी रक्षा भी करेगा।

सायण और अन्य सभी विद्वानों ने इन्द्र और ब्रह्मणस्पति को पृथक् पृथक् दो देवता माना है परन्तु **वेंकट माधव** ने ब्रह्मणस्पते को इन्द्र का विशेषण मान कर अर्थ किया है **'कर्म के स्वामी इन्द्र'**

योगी जी के अनुसार मन की सबलता के लिए मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह किसी से द्रोहभाव न रखे। सबको प्रेम भावना से ही देखे ''मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे''। ऐसे मनुष्य का कोई शत्रु नहीं होता और यदि होता भी है तो कुछ भी हानि नहीं कर पाता। इन्द्र अर्थात् मन की शुद्धि करनी चाहिए। इसके लिए ब्रह्मण्स्पति अर्थात् ज्ञानोपार्जन करना चाहिए।

टिप्पणियाँ

चरामसि— √ चर्, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन। **यहाँ चरामः** रुप होना चाहिए था परन्तु **'इदन्तो मसि'** से 'मस्' के स्थान पर 'मसि' का आदेश हो गया।

द्विषताम्— √ द्विष् + शतृ प्रत्यय, षष्ठी विभक्ति, बहुवचन पुल्लिङ्ग।

अजैष्माद्यासनाम चाऽभूमानागसो वयम्।
जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु।। 5।।

अजैष्म। अद्य। असनाम। च। अभूम। अनागसः। वयम्।
जाग्रत्ऽस्वप्नः। सम्ऽकल्पः। पापः। यम्। द्विष्मः। तम्।

सः। ऋच्छतु। यः। नः। द्वेष्टि। तम्। ऋच्छतु।

अन्वय— अद्य अजैष्म असनाम च वयम् अनागसः अभूम। जाग्रतः स्वप्नः पापः सः संकल्पः तं ऋच्छतु यम् द्विष्मः तम् ऋच्छतु यः नः द्वेष्टि।

सरलार्थ— आज (अद्य) हम जीत गए (अजैष्म) (हमने) दान दिया है (असनाम) और (च) हम (वयम्) निर्दोष (अनागसः) हो गए (अभूम)। जागते हुए व्यक्ति का (जाग्रतः) स्वप्नरूप (स्वप्नः) पापरूप (पापः) वह (सः) सङ्कल्प (सङ्कल्पः) उसके पास (तम्) जाए (ऋच्छतु) जिसे (यम्) हम द्वेष करते हैं (द्विष्मः) (ओर) उसके पास (तम्) जाए (ऋच्छतु) जो (यः) हमसे (नः) द्वेष करता है (द्वेष्टि)।

सायण भाष्य— अद्यास्मिन्कालेऽजैष्म। जेतव्यानि सर्वाणि जितवन्तोऽभूम दुःस्वप्नस्य नष्टत्वात् तदनन्तरमसनाम च। समभक्तव्यानि च समभजाम। तथा वयमनागसोऽनपराधाश्चाभूम। जाग्रत्स्वप्नावस्थयोः सम्बन्धी पाप पापफलरूपः स सङ्कल्पो दुःस्वप्नाध्यवसायो यं शत्रुं वयं द्विष्मः तमृच्छतु। प्राप्नोतु। यश्च नोऽस्मान्द्वेष्टि तमृच्छतु। प्राप्नोतु।

स्पष्टीकरण—प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि आज हमने दुर्भावनाओं और दुष्कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली है क्योंकि हमने देने योग्य सभी वस्तुओं को दान में दे दिया है। सब वस्तुओं को बाँट कर हमने अपने पापों का प्रायश्चित कर लिया है। इस प्रकार हम निरपराध, निर्दोष और निष्पाप हो गए हैं। जागृतावस्था में स्वप्न रुप का अर्थ है कि मनुष्य जागता हुआ भी अनजाने में कुछ कुछ सोचता रहता है। तब वह स्वप्न लेता हुआ सा प्रतीत होता है। इस प्रकार के स्वप्न मनुष्य अवचेतन मन के द्वारा ही लेता है। हमने जागते हुए स्वप्नरूप में अवचेतन मन से यदि कोई पापपूर्ण सङ्कल्प किया है तो वह उसके पास चला जाए जिससे हम द्वेष करते हैं अथवा जो हमसे द्वेष करता है।

इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि वैदिक आर्य **विश्वमैत्री**, **विश्वबन्धुत्व**, **वसुधैव कुटुम्बकम्**, **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** इत्यादि में विश्वास रखते थे तथापि शत्रुओं के प्रति वे **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'** की नीति ही अपनाते थे। वैदिक साहित्य में कही भी शत्रु के कल्याण की भावना दृष्टिगत नहीं है।

जाग्रत्स्वप्नः— सायण, ग्रिफिथ, योगी जी, सातवलेकर इत्यादि विद्वानों ने इसका अर्थ किया है कि **'जागृत और स्वप्न दोनों अवस्था ं से सम्बद्ध जो भी पाप करने का हमने विचार किया है'**।

वेंकट माधव ने इसका अर्थ किया है 'जागते हुए व्यक्ति का जो सुख दुःख के विषय में विचार होता है वही रात्रि को स्वप्न बन जाता है।' वेंकट माधव का यह मत प्रसिद्ध मनोविज्ञानिक फ्रॉयड के 'स्वप्न सिद्धान्त' के समान है। फ्रॉयड ने अनुसार भी हमारी जो इच्छाएँ जागते हुए पूरी नहीं हो पातीं वे स्वप्न के माध्यम से स्वप्नावस्था में पूरी होती हैं।

योगी जी ने इसका अर्थ किया है कि कुछ मनुष्य संसार में ऐसे भी होते हैं जो हमसे ईर्ष्या द्वेष रखते हैं। उन लोगों के साथ संघर्ष करना अनिवार्य है। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चहिए कि संघर्ष करने पर भी हम पापयुक्त न हों। तात्पर्य यह है कि अपनी रक्षा के लिए कुछ भी करना पापयुक्त नहीं है हमें 'आक्रमक' नहीं होना चाहिए परन्तु आक्रमक से अपनी रक्षा करना हमारा धर्म है।

टिप्पणियाँ

अजैष्म— $\sqrt{}$ जि-जये लुङ् लकार, सिच्, उत्तम पुरुष बहुवचन। **'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु'** (7.2.1) से 'जि' में आदिवृद्धि हो गई।

सायण ने इसका अर्थ किया है कि 'दुःस्वप्न के नाश से हमने जीतने योग्य सब कुछ जीत लिया है।'

असनाम— सायण ने अर्थ किया है कि 'हमने देने योग्य सब वस्तुएँ दे दी है 'सम्भक्तव्यानि च समभजाम्'। वेलंकर ने अर्थ किया है 'हम विजयी हुए हैं'। वेंकट माधव, योगीजी, ग्रिफिथ, सातवलेकर ने अर्थ किया है 'हमने प्राप्तव्य को प्राप्त कर लिया है'।

卐 卐 卐

इन्द्रः (सामवेद, उत्तरार्चिक 5.2.23)

प्रस्तुत मन्त्र समूह सामवेद के उत्तरार्चिक के पाँचवें प्रपाठक के द्वितीय अध्याय के 23वें सूक्त से लिया गया है। इसमें ुल तीन साम हैं। इसका देवता इन्द्र है तथा ऋषि मधुच्छन्दा वैश्वामित्र है।

वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद के पश्चात् सामवेद का स्थान है। ऋग्वेद में विभिन्न देवताअें के स्तुतिपरक मन्त्र हैं परन्तु उन मन्त्रों की उचित आरोह अवरोह सहित सस्वर उच्चारण विधि सामवेद में ही प्राप्य है। अतः सामवेद के बिना ऋग्वेद का ज्ञान अपूर्ण ही नहीं अपितु निरर्थक भी है क्योंकि उन मन्त्रों की सार्थकता सस्वर उच्चारण में ही निहित है। इसी कारण बृहद्देवता में कहा गया कि साम को जानने वाला व्यक्ति ही वेदों के रहस्य को जानता है **'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्'**। गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है **'वेदानां सामवेदोऽस्मि'** अर्थात् वेदों में मैं सामवेद हूँ।

सामन् शब्द की निम्न व्युत्पत्तियाँ हैं—

(1) **स्यति नाशयति विघ्नमिति—** जो विघ्नों का नाश करता है।

(2) **समयति सन्तोषयति देवान् अनेनेति—** जो मन्त्रों द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करता है।

(3) कुछ विद्वानों के अनुसार 'साम' का अर्थ गान है। ऋग्वेद के मन्त्र जब विशिष्ट गान पद्धति से गाए जाते हैं तो उनको सामन् (साम) कहा जाता है। **वस्तुतः ऋग्वेद की ऋचाओं का लयबद्ध गान ही साम है।**

यही कारण है कि सामवेद के 1875 सामों में से 1474 अधिकांश रूप से ऋग्वेद के आठवें और नवें मण्डल से ही लिए गए हैं। प्रस्तुत अंश **'इन्द्रः'** के साम भी कुछ पाठभेद के साथ ऋग्वेद से ही लिए गए हैं।

सामवेद का पुरोहित उद्गाता कहलाता है जिसका अर्थ है 'सामवेद की सङ्गीतपरक वाणी द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना'। सामवेद के दो भाग हैं— पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में 650 साम हैं जो छः प्रपाठकों में विभक्त

हैं। उत्तरार्चिक में कुल 1225 साम हैं जो नौ प्रपाठकों में विभक्त हैं। पहले पाँच प्रपाठकों में 2-2 अध्याय हैं तथा शेष अन्तिम चार प्रपाठकों में 3-3 अध्याय हैं। कुल मिलाकर 21 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में कई-कई सूक्त हैं। सूक्तों की कुल संख्या 400 हैं जिनमें दो-दो अथवा तीन-तीन के मन्त्र समूह हैं।

सामवेद का सम्बन्ध सूर्य से भी है **'सूर्यात् सामवेदः'**। आध्यात्मिक पक्ष में सूर्य का अर्थ ज्ञान है।

इन्द्रः (सामवेद उत्तरार्चिक 5.2.23)

प्रस्तुत मन्त्र समूह का देवता इन्द्र है। इन्द्र का अर्थ मन अथवा आत्मा है। मन द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है अतः सामवेद में इन्द्र की स्तुति स्वाभाविक है। प्रस्तुत सूक्त का ऋषि **मधुच्छन्दा वैश्वामित्र है**। मधुच्छन्दा का अर्थ है **'मधूनि छन्दांसि यस्य सः'** अर्थात् जिसके मधुर छन्द हैं और वैश्वामित्र का अर्थ है **'विश्वानि मित्राणि यस्य सः'** जिसके सभी मित्र हैं। अतः मधुरभाषी जो सबका मित्र है वह मधुच्छन्दा वैश्वामित्र प्रस्तुत मन्त्र समूह का ऋषि है।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोर्चन्त्यर्कमर्किणः।

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे।। 1।।

गायन्ति। त्वा। गायत्रिणः। अर्चन्ति। अर्कम्। अर्किणः।

ब्रह्माणः। त्वा। शतक्रतो इति। उत्। वंशम्। इव। येमिरे।।

अन्वय— शतक्रतो गायत्रिणः त्वा गायन्ति अर्किणः अर्कम् अर्चन्ति। ब्रह्माणः त्वा वंशम् इव उद् येमिरे।

स्वरार्थ— हे शतक्रतु (शतक्रतो) उद्गाता (गायत्रिणः) तुम्हारी (त्वा) स्तुति करते हैं (गायन्ति) (और) स्तुति करने वाले (अर्किणः) (तुम) पूजनीय की (अर्कम्) पूजा करते हैं (अर्चन्ति)। ज्ञानी (ब्रह्माणः) तुमको (त्वा) ध्वजा दण्ड के (वंशम्) समान (इव) ऊपर उठाए रखते हैं (उद् येमिरे)।

सायण भाष्य— हे शतक्रतो बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वा इन्द्र त्वां गायत्रिणः उद्गातारः गायन्ति स्तुवन्ति। अर्किणः अर्चनाहेतुमन्त्रयुक्ता होतारः अर्कम् अर्चनीयमिन्द्रं अर्चन्ति मन्त्रैः प्रशंसन्ति। **ब्रह्माणः** ब्रह्मप्रभृतय इतरे ब्राह्मणाः त्वां उत् येमिरे उन्नतिं प्रापयन्ति। तत्र दृष्टान्तः। वंशमिव। यथा वंशाग्रे नृत्यन्तः शिल्पिनः प्रौढं वंशमुन्नतं कुर्वन्ति। यथा वा सन्मार्गवर्तिनः स्वकीयं कुलमुन्नतं कुर्वन्ति तद्वत्। एतामृचं यास्क एवं व्याचष्ट—'गायन्ति त्वा गायत्रिणः प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत

उद्येमिरे वंशमिव। वंशो वंशनयो भवति वननाच्छूयत इति वा'। नि. 5.5। इति। अर्कशब्दं च बहुधा 'व्याचष्टे— 'अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदेनेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति स वृतः कटुकिम्ना। नि. 5.4। इति। गायन्ति शप्तिङौ पित्त्वात् ल सर्वधातुकत्वाच्च अनुदात्तौ धातुरुदातः। गायत्रिणः। गायत्रं साम येषामुद्गातृऽणामस्ति ते। 'अत इनिठनौ। प्रत्ययस्वरेण इकार उदात्तः। अर्चन्ति 'अर्चपूजायाम्। भौवादिकः। शप्तिङौ अनुदात्तौ। धातुस्वर एव। पादादित्वात् न निघातः। अर्कम्। अर्चन्त्येभिरिति अर्का मन्त्राः। तैरर्चनीयतया तदात्मक इन्द्रोऽपि लक्षणया अर्कः। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' पा. सू. 3.3.118। इति करणे घः। चजोः कु घिण्यतोः पा. सू. 7.3.52। इति चकारस्य कुत्वं ककारः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। शतक्रतो। निघातः। संहितायाम् अवादेशे लोपः शाकंल्यस्य पा. सू. 8.3.19 इति वकारलोपः। वंशशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः। 'इवेन विभिक्त्यलोप पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति स एव शिष्यते। येमिरे। 'यम उपरमे'। 'तिङ्ङतिङ' इति निघातः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है कि इन्द्र शतक्रतु है अर्थात् जो बहुत कर्मों वाला अथवा बहुत प्रज्ञा वाला है। सायण ने क्रतु का अर्थ कर्म भी किया है और प्रज्ञा भी। 'उद्गाता' तुम्हारी भक्तिभाव से स्तुति करते हैं। वस्तुतः 'उद्गाता' सामवेद का पुरोहित है जो अपनी संगीतपरक वाणी द्वारा देवताओं को प्रसन्न करता है और स्तुति करने वाले (अर्किणः) यह विशेषण ऋग्वेद के पुरोहित 'होता' के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका मुख्य कार्य देवताओं का आह्वान करना है। ऋग्वेद का पुरोहित 'होता' और सामवेद का पुरोहित 'उद्गाता' अपनी स्तुतियों द्वारा तुम्हें पुष्ट करते हैं तुम्हें बढ़ाते हैं, तुम्हें सब देवताओं से अधिक श्रेष्ठ बतलाकर तुम्हें उसी प्रकार ऊपर उठाते हैं जिस प्रकार कोई ध्वज में लगे हुए दण्ड को ऊपर उठाए हुए चलता है।

अन्यत्र भी स्तुतियों द्वारा देवताओं को पुष्ट करने का निर्देश है **'वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे।** ऋग्वेद 7.100.7

सायण ने **'उद्वंमिव येमिरे'** का अर्थ किया है कि (ब्राह्मण तुम्हें उन्नति को प्राप्त करवाते हैं) जैसे बाँस के अग्रभाग पर नृत्य करते हुए शिल्पी बाँस की प्रतिष्ठा को बढ़ाते हैं अथवा सन्मार्ग पर चलने वाले अपने कुल को उन्नत करते हैं।

आधिभौतिक पक्ष में मन्त्र का अर्थ है कि कर्मशील और प्रज्ञावान् सर्वत्र पूजा जाता है। क्षत्रिय के द्वारा रक्षित देश सुखी होता है। इस प्रकार के क्षत्रियों

के गुणगान के लिए ही कवि काव्यरचना करते हैं। कवि ही इनका यशोगान करके यशरूपी शरीर द्वारा इन्हें सदा-सदा के लिए अमर बना देते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र का अर्थ मन अथवा आत्मा है। सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही वे स्तुत्य हैं। उपनिषदों में भी कहा गया है **'आत्मा वारे श्रोतव्यो द्रष्टव्यो निदिध्यासितव्यो'**। आत्मज्ञानियों को पता है कि आत्मसाक्षात्कार से ही आनन्द की प्राप्ति होती है।

टिप्पणियाँ

त्वा— यहाँ त्वाम् रूप होना चाहिए था परन्तु **'सुपां सुलुक्'** इत्यादि के द्वारा विभक्ति लोप हो गया।

गायत्रिणः— √ गै + तृच्, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग 'अत इनिठनौ' (5.2.115) से इन् का आदेश हुआ।

येमिरे— √ यम् उपरमे, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

यत्सानोः सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्त्त्वम्।

तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति।। 2।।

यत। सानोः। सानुम्। आ। अरूहः। भूरि। अस्पष्ट। कर्त्त्वम्।

तत्। इन्द्रः। अर्थम्। चेतति। यूथेन। वृष्णः। एजति।

अन्वय— यत् सानोः सानुम् आ अरूहः भूरि कर्त्त्वम् अस्पष्ट तत् इन्द्रः अर्थम् चेतति वृष्णिः यूथेन एजति।

सरलार्थ— जब (यत्) यजमान एक पर्वत से (सानोः) दूसरे पर्वत पर (सानुम्) चढ़ता है (आ अरुहः) (और) प्रभूत (भूरि) (सोमयागरूपी) कर्म को (कर्त्वम्) करता है (अस्पष्ट) तब (तत्) इन्द्र (इन्द्रः) (यजमान के) प्रयोजन को (अर्थम्) जान लेता है (चेतति) (और) इच्छाओं की पूर्ति करने वाला वह (वृष्णिः) (मरुतों के) समूह के साथ (यूथेन) काँपता है (एजति) अर्थात् अपने निवास स्थान से यज्ञ भूमि पर आने के लिए उद्यत होता है।

सायण भाष्य— यद् यदा सानुमारुहत् यजमानः सोमवल्लीसमिदाद्याहरणायैकस्मात् पर्वतभागाद् अपरं पर्वतभागमारुढवान्। तथा भूरि प्रभूतं कर्त्वं कर्म सोमयागरूपमस्पष्ट स्पृष्टवान्। उपक्रान्तवानित्यर्थः। तत् तदानीमिन्द्रोऽर्थं यजमानस्य प्रयोजनं चेतति। जानाति। ज्ञात्वा च वृष्णिः कामानां वर्षिता सन् यूथेन मरुद्गणेन सहैजति। कम्पते।

स्वस्थानाद् यज्ञभूमिमागन्तुमुद्यङ्क्त इत्यर्थः। सानोः। षणु दाने। सनोति ददाति निवसतामवकाशमिति सानुः। दृसनिजनिचरिचरिरहिभ्यो ञुन्। उ. 1.13। णित्त्वाद् उपाधाया वृद्धिः। ञित्वादाद्युदात्तत्वं च। अरुहत्। रुहेर्लङि तिपि शपि संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः। परि. 93.1। इति लघूपधगुणो न भवति। लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः। सति शिष्टत्वात् स एव शिष्यते। निपातैर्यद्यदिहन्तेति। पा. 8.1.30। निषेधान्निघातो न भवति। भूरि। अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्। उ. 4.65। कित्त्वाद् गुणाभावः। नित्त्वादाद्युदात्तः। अस्पष्ट। स्पश बाधनस्पर्शनयोः। स्वरितञित आत्मनेपदाम्। लङः प्रथमपुरुषैकवचनं च। बहुलं छन्दसीति शपो लुक्। व्रश्चादिषत्वष्टुत्वे। पा. 8.2. 36; 8.4.41। लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त इत्यडागम उदात्तः। स एव शिष्यते। अनुषङ्गेण यच्छब्दयोगान्निाघाताभावः। कर्त्त्वम्। डुकृञ् करणे। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा. 3. 2.75। इति विच्। गुणो रपरत्वम्। विचः सर्वापहारी लोपः करो भावः कर्त्वम्। अर्थम्। अर्ते रुषिकुषिगार्तिभ्यः स्थन्। उ. 2.4। नित्त्वादाद्युदात्तः। यूथेन। तिथपृष्ठगूथयोथप्रोथाः। उ. 2.12। इति थक्प्रत्ययान्तो निपातितः। वृष्णिः। निरित्यनुवृत्तौ सुवृषिभ्यां कित्। उ. 4.49। इति निप्रत्ययान्तः। कित्त्वाद् गुणभावः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। एजति। एजृ कम्पने। तिङ्ङतिङ इति निघातः।

स्पष्टीकरण— सायण ने प्रस्तुत साम का अर्थ यह किया है कि जब यजमान सोमवल्ली, समिधा इत्यादि एकत्रित करने के लिए पर्वत के एक भाग से दूसरे पर्वतभाग पर जाता है और जब वह इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए सोमयागरूपी कार्य करने के लिए तत्पर होता है तब इन्द्र यह जान लेता है कि यजमान किस इच्छा से उसके लिए सोमयाग कर रहा है और यह जानकर वह अपने मित्र मरुतों के समूह के साथ यजमान की इच्छा पूरी करने के लिए यज्ञस्थल की तरफ अपने निवास स्थान से चल पड़ता है।

परन्तु **सत्यभूषण योगी** ने प्रथम दो चरण भी यजमान के पक्ष में न मानकर इन्द्र के लिए ही माने हैं और अर्थ किया है—

'जब तू सानु से सानु पर चढ़ता है तब अनेक कार्यों का साक्षात्कार करता है। इन्द्र लक्ष्य का संज्ञान करता है और वह शक्तिशाली (इन्द्र) समूह को साथ लेकर गति (प्रगति) करता है।'

उनका अभिप्राय सम्भवतः यह हो कि इन्द्र जब मन रूपी पर्वत पर चढ़कर मनन करता है, चिन्तन करता है तो अन्तर्यामी होने के कारण उसे अनेक कार्य दिखाई देते हैं जो उसके द्वारा किए जाने हैं। परन्तु वह अपने लक्ष्य का

निश्चय करता है कि उन कार्यों में कौन-सा कार्य पहले किया जाना है और उसे पूरा करने के लिए वह मरुतों की सेना लेकर चल पड़ता है।

मन को सानु कहा जा सकता है क्योंकि मन भी शरीर के उन्नत स्थान सिर में विद्यमान है और पर्वत भी ऊँचा होता है। इन्द्र को अन्यत्र भी अन्तर्यामी कहा गया है **'अन्तर्हिख्यो जनानामर्यो'** (ऋग्वेद 1.81.9)।

आधिभौतिक पक्ष में प्रस्तुत साम का अर्थ है कि क्षत्रिय का यह कर्त्तव्य है कि वह उच्च लक्ष्यों को ही अपने सम्मुख रखे। पीड़ितों की रक्षा करना उसका क्षात्रधर्म है। वह संगठन बनाए व दूर-दूर तक जाकर शत्रुओं का नाश करे।

आध्यात्मिक पक्ष में 'सानु' का अर्थ उन्नति है। जब मनुष्य उन्नति करता है तो उस उन्नति का कोई अन्त नहीं होता। एक लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर दूसरे अनेक लक्ष्य उसके सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। यह जीवन यात्रा अनन्त है। यहाँ कर्त्तव्य करते ही रहना चाहिए। **'चरैवेति चरैवेति'** तथा **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'** ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

टिप्पणियाँ

सानोः— √ षणु-सनु-दाने, पञ्चमी षष्ठी विभक्ति, एकवचन पुल्लिङ्ग। यहाँ उणादि सूत्र (संख्या 3) **'दृसनिजनिचरिरहिभ्यो ञुन्'** से 'ञुन्' प्रत्यय आया है तथा उपधा वृद्धि हुई है।

अरुहत्— √ रुह् + लङ्लकार, प्रथम पुरुष एकवचन। वेद में विकरण व्यत्यय होकर 'शप्' के स्थान पर 'श' विकरण आ गया तथा **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** से लट् लकार के अर्थ में लङ्लकार का प्रयोग हुआ।

अस्पष्ट— √ स्पश्-बाधनस्पर्शनयोः, आत्मनेपद, लङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। यहाँ पहले 'बहुलं छन्दसि' से शप् का लोप हुआ। पुनः **'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छसां षः'** (8.2.36) से 'स्पश्' के 'श्' का 'ष्' बना और 'ष्टुना ष्टुः' से 'त', 'ट' में परिवर्तित हुआ। **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'** से लट् लकार के अर्थ में लङ् का प्रयोग हुआ।

अर्थम्— √ ऋ-गतौ उणादिसूत्र (संख्या 164) **'उषिकुषिगार्तिभ्यःस्थन्'** से 'स्थन्' प्रत्यय आया। प्रथमा द्वितीया विभक्ति, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग।

वृष्णिः— √ वृष्-वर्षणे उणादिसूत्र (संख्या 492) **'सुवृषिभ्यां कित्'** से वृष् में 'नि' प्रत्यय आया और उसमें कित् के समान व्यवहार होने से गुण वृद्धि नहीं हुई।

कर्त्वम्— √ डुकृञ्-करणे + त्वन् प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

युङ्क्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर।। 3।।

युङ्क्ष्व। हि। केशिना। हरी इति। वृषणा। कक्ष्य प्रा।

अथ। नः। इन्द्र। सोमपा। गिराम्। उप। श्रुतिम। चर।।

अन्वय— केशिना वृषणा कक्ष्य प्रा हरी युङ्क्ष्व। अथ सोमपा इन्द्र उपश्रुतिम् गिराम् चर।

सरलार्थ— स्कन्धप्रदेश तक लटकते हुए केशों से युक्त (केशिना) युवा (वृषणा) (और) शक्तिशाली (कक्ष्यप्रा) घोड़ों को (हरी) जोतो (युङ्क्ष्व) और उसके बाद (अथ) हे सोम पीने वाले (सोमपा) इन्द्र (इन्द्र) कानों के पास पहुँचने वाली (उपश्रुतिम्) (हमारी) स्तुति परक वाणी को (गिराम्) सुनो (चर)।

सायण भाष्य— हे सोमपा सोमपानयुक्तेन्द्र हरी त्वदीयावश्वौ युक्ष्वा हि। सर्वथा संयोजय। अथानन्तरं नोऽस्मदीयानां गिरामुपश्रुतिं समीपे श्रवणमुद्दिश्य चर। तत्प्रदेशं गच्छ। कीदृशौ हरी। केशिना स्कन्धप्रदेशे लम्बमानकेशयुक्तौ वृषणा सेचनसमर्थौ युवानौ कक्ष्यप्रा।अश्वस्योदरबन्धनरज्जुः कक्ष्या। तस्याः पूरको। पुष्टाङ्गावित्यर्थः। युक्ष्व। श्नमो लोपश्छान्दसः। सति शिष्टत्वेन प्रत्ययस्वरः शिष्यते। द्व्यचोऽतस्तिङ इति संहितायां दीर्घत्वं केशिना। प्रशस्ताः केशा अनयोः सन्तीति मत्वर्थीय इनिः। प्रत्ययस्वरः। सुपां सुलुगित्यादिना द्विवचनस्याकारादेशः। वृषणा। पृषु वृषु मृषु सेचने। कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः। उ. 1.156। इति कनिन् ञ्नित्यादिर्नित्यमित्याद्युदात्तः। वा षपूर्वस्यनिगमे। पा. 6.4.9। इत्युपधायाः पक्षेदीर्घाभावः। पूर्ववदाकारः। कक्ष्यप्राः। कक्षयोर्भव कक्ष्यं सूत्रम्। तत् प्रातः पूरयतः पुष्टत्वादिति कक्ष्यप्रौ। प्रा पूरणे आतोऽनुपसर्गे कः। पा. 3.2.3। इति क प्रत्ययः। कृदुत्तरप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। आकारः पूर्ववत्। अथ निपातस्येति संहितायां दीर्घः। नः। अनुदात्तं सर्वमपदादावित्यनुवृत्तौ बहुवचनस्य वस्नसौ। पा. 8.1.21। इति नसादेशोऽनुदात्तः। इन्द्र सोमपाः। उभावामन्त्रितस्य चेति सर्वानुदात्तौ। गिराम्। सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिरिति विभक्तिरुदात्ता। उपशब्दो निपातत्वादाद्युदात्तः। श्रुतिशब्देन प्रादिसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते तादौ च निति कृत्यतौ। पा. 6.2.50। इति तुवर्जिततादिपरत्वाद् गतेः प्रकृतिस्वरः। चर। निघातः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे इन्द्र तुम अपने केशयुक्त, युवा और शक्तिशाली घोड़ों को जोतो अर्थात् हमारी रक्षा करने के लिए उद्यत हो जाओ। हम तुम्हारी स्तुति करते हैं जो तुम्हारे कानों तक पहुँच रही है। हमारी स्तुति को तुम सुनो और हमारा कल्याण करने के लिए अपने रथ में घोड़ों को जोत कर शीघ्र ही हमारे पास आ जाओ।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि क्षत्रिय राष्ट्र की रक्षा के लिए तत्पर हों। वे सदा शक्तिशाली साधनों का संग्रह करें, उनके गुप्तचर (केशिना) सावधान रहें। वे सभी प्रकार के समाचारों को ग्रहण करने में सक्षम हों, शक्तिशाली हों तथा सर्वत्र जाने में समर्थ हों। राजपुरुष दो प्रकार के होते हैं (1) प्रजा में सद्भाव का प्रचार करने वाले तथा (2) प्रजा की गतिविधियों, क्रियाकलापों इत्यादि की सूचना देने वाले। राजा वीर्यवान् (सोमपा) हो और प्रजा के कष्टों का निवारण करने में समर्थ हो।

आध्यात्मिक पक्ष में दो घोड़े मनुष्य जीवन में द्विविध-सांसारिक और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रतीक हैं। ये दोनों ज्ञानसमूह प्रकाशमय, शक्तिमय और सब प्रकार के अभावों को दूर करने वाले हैं। अथवा दो घोड़े द्विगुणित उत्साह शक्ति के प्रतीक हैं। जब मनुष्य उत्साह, आशा और स्फूर्ति से युक्त होकर कार्य करने में प्रवृत्त होता है तो उसे सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

टिप्पणियाँ

युङ्क्ष्व— √ युज्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन आत्मनेपद। **'द्वयचोऽतस्तिङः'** सूत्र से अन्तिम 'अ' दीर्घ हो गया।

केशिना— केशान् धारयति इति केशिन्। यहाँ **केशिनौ** रूप होना चाहिए था क्योंकि यह प्रथमा द्वितीया विभक्ति, द्विवचन, पुल्लिङ्ग का रूप है। परन्तु **'सुपां सुलुक'** इत्यादि सूत्र से विभक्ति प्रत्यय 'औ' के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश हो गया। **सायण** ने इसका अर्थ **'स्कन्धप्रदेश तक लटकते हुए केशों से युक्त'** किया है। पाश्चात्य **विद्वान् ग्रासमैन** ने भी यही अर्थ किया हे जबकि **अन्य विद्वानों** ने इसका अर्थ **'रश्मिदीप्त'** (किरणों के समान प्रकाशित होने वाले किया है।

वृषणा— √ वृषु सेचने उणादिसूत्र (संख्या 157) **'कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः'** से 'कनिन् प्रत्यय आया। कित् होने के कारण गुण वृद्धि नहीं हुई। यहाँ **वृषणौ** रूप होना चाहिए था क्योंकि यहाँ प्रथमा द्वितीया विभक्ति,

द्विवचन पुल्लिङ्ग का रूप है परन्तु **'सुपां सुलुक्'** इत्यादि से **'डा'** आदेश हो गया। **सायण** ने इसका अर्थ **'सेचनसमर्थौ युवानौ'** (युवा) किया है जबकि **अन्य विद्वानों** ने इसका अर्थ **'शक्तिशाली'** किया है।

कक्ष्यप्रा— कक्ष्य + √ प्रा-पूरणे **'अतोऽनुपसर्गे कः'** (3.2.3) से क प्रत्यय आया। प्रथमा द्वितीया विभक्ति, द्विवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ **'कक्ष्यप्रौ'** रूप बनना चाहिए था परन्तु **'सुपां सुलुक्'** इत्यादि से **'डा'** आदेश हो गया। **सायण** ने इसका अर्थ **'पुष्टाङ्गौ'** (शक्तिशाली) किया है जबकि **अन्य विद्वानों** ने इसका अर्थ सर्वत्र समाए हुए स्वर्ण वर्ण वाले' अथवा 'वहन करने वाले' किया है।

卐 卐 卐

यजुर्वेद–परमात्मा अध्याय 32

प्रस्तुत सूक्त शुक्ल यजुर्वेद के 32वें अध्याय से लिया गया है। इसका देवता 'परमात्मा' है। शुक्ल यजुर्वेद के इस अध्याय में 'परमात्मा' का 'पुरुष' और 'ब्रह्म' से अभेद दिखलाया गया है।

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद और सामवेद के पश्चात् यजुर्वेद का स्थान है। यजुर्वेद का अर्थ है **'यजुषां वेदः**। यजु शब्द अनेकार्थक हैं—

(1) **'इज्यतेऽनेनेति यजुः'**— अर्थात् जिन मन्त्रों से यज्ञ यागादि किए जाते हैं।

(2) **'अनियताक्षरावसानो यजुः'**— अर्थात् अनियमित अक्षरों से समाप्त होने वाले वाक्य को 'यजु' कहते हैं।

(3) **गद्यात्मको यजुः**— 'ऋक तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का नाम यजु है।'

(4) **शेषे यजुः**— इसका भी यही अर्थ है कि ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का नाम ही यजु है। इस प्रकार यजुर्वेद में उन गद्यात्मक वाक्यों का संग्रह है जिनका प्रयोग यज्ञ में किया जाता है।

(5) **यजुष् का अर्थ पूजा एवं यज्ञ भी है।**

जिस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों का विषय विभिन्न देवताओं की स्तुति है उसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्रों का विषय उन देवताओं के लिए यज्ञ सम्पन्न करना है। जहाँ ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञान से माना गया है वहाँ यजुर्वेद का सम्बन्ध कर्म से माना गया है।

यजुर्वेद संहिता **'अध्वर्यु'** नामक पुरोहित के लिए है जिसका अर्थ है **'अध्वरं युनक्ति'** अथवा **'अध्वरस्य नेता'** अर्थात् अध्वर्यु यज्ञ का संयोजन और सम्पादन करता है।

यजुर्वेद के दो भाग हैं— कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद में क्या अन्तर है, इसका उत्तर देने के लिए भिन्न-भिन्न मत दिए गए हैं (विस्तृत विवेचन के लिए देखें लेखिका का संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास) परन्तु महीधरकृत 'यजुर्वेदभाष्यभूमिका' में दी गई श्रुति के अनुसार एक दिन वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवलक्य से क्रुद्ध हो गए और उन्होंने उससे वह सब ज्ञान वापस करने को कहा जो उसने अपने गुरु से सीखा था। इस पर याज्ञवल्क्य ने उस ज्ञान का वमन कर दिया। वैशम्पायन के चार शिष्यों ने तीतर का रूप धारण कर उस का भक्षण कर लिया। यही उद्वान्त ज्ञान कृष्ण यजुर्वेद कहलाया। परन्तु याज्ञवल्क्य ने भी अपने ज्ञान और मान की रक्षा के लिए सूर्यदेव की उपासना कर शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त किया। सूर्य देवता ने 'वाजी' (घोड़े) का रूप धारण करके याज्ञवल्क्य को ज्ञान दिया था अत: इसे वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के 32वें अध्याय में सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् परमात्मा की महिमा का वर्णन है। पुरुषार्थ तो मनुष्य को स्वयं ही करना पड़ता है परन्तु परमात्मा पथप्रदर्शक के रूप में सदा उसके साथ रहता है। अन्धकार में दीपक ले कर मार्ग निर्देशन करता हुआ साथ-साथ चलता है तथा सहायता के लिए सदैव तत्पर रहता है। इस विषय में ज़ीसस क्राइस्ट की एक घटना उल्लेखनीय है। एक बार एक व्यक्ति ने देखा कि कुछ दूर तक तो दो व्यक्तियों के पद चिन्ह है परन्तु एक स्थान पर कुछ दूरी तक एक ही व्यक्ति के पदचिह्न दिखाई दे रहे थे। वह ज़ीसस से शिकायत करते हुए बोला कि विपत्ति में तो आप ने मेरा साथ ही छोड़ दिया। उस समय तो मैं अकेला ही रह गया। तब ज़ीसस ने कहा 'पुत्र जहाँ तुम्हें एक व्यक्ति के पदचिह्न दिखाई देते हैं वहाँ मैंने तुम्हें गोद में उठाया हुआ था।' वास्तव में ऐसा ही दयालु है 'परमात्मा'। ध्यान करने मात्र से ही वह भक्त की बुद्धि प्रकाश से आलोकित कर देता है। घनघोर निराशा में भी आशा की एक किरण दिखाई दे जाती है।

परमात्मा ही सबका कर्ता, धर्ता, संहर्ता है। वही सब का माता पिता बन्धु है। वह तो निरन्तर आनन्द की तथा सुखों की वर्षा करना रहता है। यह तो मनुष्य की अपनी सामर्थ्य है कि वह कितना ग्रहण कर पाता है। योगी जी के शब्दों में—

प्रभु तुझको देता यहाँ योगी भर कर रत्न।
पर तेरी झोली फटी प्रभु के व्यर्थ प्रयत्न।।

यही भाव तुलसी दास जी की इन पंक्तियों में भी हैं—

'सकल पदार्थ हैं जग माहीं भाग्यहीन नर पावत नाहीं'।

परमात्मा ने तो भरपूर दिया है। यह मनुष्य पर निर्भर है कि वह उसे प्राप्त करने के लिए कितना प्रयास, प्रयत्न परिश्रम और पुरुषार्थ करता है।

32वें अध्याय का संप्रेषित अर्थ यह भी है कि जब सब प्राणी उसी परमात्मा के हैं तो सबको स्नेह भाव से परस्पर मिल जुल कर रहना चाहिए। सबसे स्नेह, सौहार्द, सांमनस्य होना चाहिए। सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही कार्य करना चाहिए। परहितपरायण पुरुषार्थ में तत्पर मनुष्य सदा सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करता है।

शुल्कयजुर्वेद-32वाँ अध्याय

प्रस्तुत सूक्त शुक्ल यजुर्वेद के 32वें अध्याय में संगृहीत है। इसका देवता परमात्मा है, ऋषि ब्रह्मा है तथा छन्द अनुष्टुब् है। 'ब्रह्मा' √ बृह्-वर्धने से निष्पन्न है अर्थात् जिसका ज्ञान बढ़ा चढ़ा है। जो पर ज्ञानी है।

इन मन्त्रों का उच्चारण दस दिन तक चलने वाले सर्वमेध यज्ञ में किया जाता है जो सब प्राणियों के हित के लिए सम्पदित होता है।

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः।। 1।।

तत्। ए॒व। अ॒ग्निः। तत्। आ॒दि॒त्यः। तत्। वा॒युः। तत्। उ। च॒न्द्रमाः॑।
तत्। ए॒व। शु॒क्रम्। तत्। ब्रह्म॑। ताः। आपः॑। सः। प्र॒जाप॑ति॒रिति॑।

अन्वय— तत् एव अग्निः तत् आदित्यः तत् वायुः तत् उ चन्द्रमाः। तत् एव शुक्रम् तत् ब्रह्म ताः आपः सः प्रजापतिः।

सरलार्थ— वही (तत् एव) अग्नि है (अग्निः) वह (तत्) आदित्य है (आदित्यः) वह (तत्) वायु है (वायुः) वह (तत्) ही (उ) चन्द्रमा है (चन्द्रमाः)। वही (तत् एव) शुक्र है (शुक्रम्) वह (तत्) ब्रह्म है (ब्रह्म) वही (ताः) जल हैं (आपः) (और) वह (तत्) ही (उ) प्रजापति है।

महीधर भाष्य—पुरुषमन्त्रा उक्ताः। अथ सर्वमेधमन्त्रा उच्यन्ते प्रवायुमच्छेत्यस्मात्प्राक् (33.155)। स्वयंभुब्रह्मदृष्टा आत्मदेवत्याः सप्तमेऽहनि आप्तोर्यामसंज्ञिके सर्वहोमे विनियुक्ताः 'आप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति इत्युपक्रम्य

सर्व जुहोति सर्वस्यास्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै (13.17.1.9) इति श्रुतेः। द्वे अनुष्टुभौ विज्ञानात्मा परेणात्मना विशिष्टोऽग्न्यादिषु ओतप्रोतत्वेनोपास्योऽभिधीयते। अग्निः तदेव कारणं ब्रह्मैव आदित्यस्तदेव वायुस्तदेव चन्द्रमास्तत् तदेव। उ एवार्थे। शुक्रं शुक्लं तत् प्रसिद्धम्। ब्राह्म त्रयीलक्षणं तत् ब्रह्मैव। ताः प्रसिद्धाः आपः जलानि स प्रसिद्धः प्रजापतिरपि तदेव ब्रह्म।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, जल और प्रजापति वही परमात्मा है। इसका तात्पर्य यह है कि सभी देवता एक ही शक्ति के विभिन्न रूप हैं। 'सत्' तो एक ही है। विद्वान् उसे चाहें कितने ही विभिन्न नामों से क्यों न पुकार लें **'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'**। प्रस्तुत मन्त्र में अद्वैतवाद का सुन्दर प्रतिपादन है। समस्त सृष्टि के कारणभूत पञ्च महाभूत भी उसी परमात्मा के रूप हैं। जब ये पञ्च महाभूत ही उस परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं तो इनसे उत्पन्न होने वाले सभी प्राणी उस परमात्मा के ही अंश है। यह समस्त सृष्टि उसी से व्याप्त है **'ईशावास्यमिदं जगत्सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इत्यादि महावाक्य इसी सत्य का प्रतिपादन करते हैं।

उब्बट ने शुक्र को त्रयीलक्षणम् कहा है— शुक्ल, शीघ्रता करने वाला तथा शुद्ध इन तीन लक्षणों से युक्त शुक्र है।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।। 2।।

सर्वे। निमेषाऽइति। जज्ञिरे। विद्युतः। पुरुषात्। अधि।
न। एनम्। ऊर्ध्वम्। न। तिर्यञ्चम्। न। मध्ये। परि। जग्रभत्।

अन्वय— सर्वे निमेषाः विद्युतः पुरुषात् अधि जज्ञिरे। एनम् न ऊर्ध्वम् न तिर्यञ्चम् न मध्ये परि जग्रभत्।

सरलार्थ— सभी (सर्वे) निमेष करने वाले प्राणी (निमेषाः) प्रकाशमान (विद्युतः) पुरुष को आधार बना कर (पुरुषात् अधि) उत्पन्न हुए हैं (जज्ञिरे)। इसे (एनम्) न तो (न) ऊपर से (ऊर्ध्वम्) न (न) चारों दिशाओं में (तिर्यञ्चम्) (और) न ही (न) मध्य में (मध्ये) (कोई) (कोई) पकड़ पाया (परिजग्रभत्)।

महीधर भाष्य— सर्वे निमेषाः त्रुटिकाष्ठाघट्यादयाः कालविशेषाः अधिपुरुषसकाशात्

जज्ञिरे। कीदृशात्पुरुषात्। विद्युतः विशेषेण द्योतते विद्युत् तस्मात्। किंच कश्चिदपि एनं पुरुषमूर्ध्वमुपरिभागे न परिजग्रभत्परिगृह्णाति। तिर्यञ्चं चतुर्दिक्षु न परि मध्यदेशेऽपि न गृह्णाति। न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषय इत्यर्थः। 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते' इति श्रुतेः। जग्रभत् ग्रहेः शतरि जुहोत्यादित्वेन रूपम्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि पलक झपकने वाले सभी प्राणी भी इसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। इससे पूर्व मन्त्र में बतलाया गया था कि सब देवता उससे उत्पन्न होते हैं। वही सबका प्राणदाता है—**'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः'** (ऋग्वेद 10.121.2)। सब कुछ उसी के कारण है। वस्तुतः पुरुष का अर्थ ही यही है 'पुरि शेते इति पुरुषः' जो शरीर रूपी नगरी में शयन करता है। वह परमात्मा तो ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, दाएँ बाएँ सर्वत्र व्याप्त है तब उसे कोई कैसे पकड़ सकता है। वह तो सर्वगत है **'पुरुष एवेदं एर्वम्'**।

उसे कोई पकड़ नहीं सकता इसका तात्पर्य यह भी है कि वह इन्द्रियों द्वारा प्राप्य नहीं है। इन्द्रियाँ रूप, रंग, आकार, नाम आदि उपाधियों से युक्त विषयगत पदार्थों को ही ग्रहण कर सकती हैं परन्तु वह पुरुष, वह परमात्मा विषयीगत है अतः इन्द्रियों का विषय नहीं है। तुलनीय केनोपनिषद्—**'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्'** अर्थात् वहाँ न आँख जाती है न वाणी जाती है और न ही मन जाता है। हम नहीं जानते, विशेष रूप से नहीं जानते कि इसका उपदेश किस प्रकार दिया जाए'। वह तो अनुभव का विषय है।

उब्बट ने विद्युतः को पुरुष का विशेषण नहीं माना बल्कि इसका अर्थ किया है 'गरजने वाली बिजली बादल इत्यादि भी पुरुष से ही उत्पन्न होते हैं

परिजग्रभत— परि √ गृह + लुङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। सर्वप्रथम च्लिके स्थान पर 'चङि' (6.1.11) सूत्र से चङ् आदेश हुआ, धातु का द्वित्व हुआ। 'न माङ्योगेऽपि' (6.4.74) से अट् अभाव तथा 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' से 'ह्' के स्थान पर 'ञ्' आदेश हुआ।

न तस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑।

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इत्ये॒ष मा मा॑ हिंसीदित्ये॒षा यस्मा॒न्न जात इत्ये॒षः॥ 3॥

न। तस्य। प्रतिऽमा। अस्ति।
यस्य। नाम। महत्। यशः।
हिरण्यगर्भः। इति। एषः। मा। मा। हिंसीत्।
इति। एषा। यस्मात् न। जातः। इति। एषः।

अन्वय— तस्य प्रतिमा न अस्ति यस्य नाम महद् यशः। हिरण्यगर्भ इति एषः मा मा हिंसीत् एषा यस्मात् न जातः इति एषः।

सरलार्थ— उसका (तस्य) प्रतिमानभूत (प्रतिमा) नहीं है (नास्ति) जिसका (यस्य) नाम (नाम) महान् (महत्) यश (यशः) (है)। (जिसे) हिरण्यगर्भ कहते हैं (हिरण्यगर्भ इति) वह (एषः) मेरी (मा) हिंसा न करे (मा हिंसीत्) यह (एषा) (मेरी प्रार्थना है) जिससे बड़ा (यस्मात्) उत्पन्न नहीं हुआ (न जातः) यह (इति) वह है (एषः)।

महीधर भाष्य— द्विपदा गायत्री। तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानमुपमानं किंचिद्वस्तु नास्ति। अतएव नाम प्रसिद्धं महत् यशः यस्यास्ति। सर्वातिरिक्तयशा इत्यर्थः। हिरणयगर्भ इत्येषोऽनुवाकश्चतुर्ऋचः हिरण्यगर्भ यः प्राणतः यस्येमे च आत्मदा इति (25.10-13)। मा मा हिंसीज्जनितेत्येका एषा (12-102)। यस्मान्न जातः, इन्द्रश्च सम्राडिति। (8.36-37) द्व्यृचोऽनुवाकः) एताः प्रतीकचोदिताः पूर्व पठितत्वादादिमात्रेणोक्ताः ब्रह्मयज्ञे जपे च सर्वा अध्येयाः। **एवं सर्वत्र।**

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र का देवता हिरण्यगर्भ है तथा छन्द पंक्ति है। इसमें पाँच पंक्तियाँ होती हैं और प्रत्येक पंक्ति में 8-8 अक्षर होते हैं। हिरण्यगर्भ का अर्थ है—**'हिरण्यम् अस्ति गर्भे यस्य सः'** अथवा **'हिरण्ययः गर्भः अस्य'** इति। प्रस्तुत मन्त्र में हिरण्यगर्भ की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हिरण्यगर्भ के समान अन्य कोई देवता नहीं है क्योंकि वही तो समस्त सृष्टि का उत्पादक है। जो विशाल जल सर्वत्र विद्यमान थे उनमें उस हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई जिससे समस्त संसार उत्पन्न होने वाला था—**'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधानाः'** (ऋग्वेद 10.121.7) वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होते ही सब प्राणियों का एकमात्र स्वामी बन गया—

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम्।।

(ऋग्वेद 10.121.1)

अर्थात् हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही सब प्राणियों का अकेला स्वामी था। उसने पृथ्वी और स्वर्ग लोक को धारण किया। किस

अन्य देवता की हम हवि द्वारा पूजा करें अर्थात् किसी की भी नहीं।'

देवताओं का स्वामी भी वही है—**'विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः'**। जीवन मृत्यु भी उसी के हाथ में है **'यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः।'** उसकी महिमा अवर्णनीय है। उसके जैसा महान् न तो कोई उत्पन्न हुआ है और न ही उत्पन्न होगा। इसी कारण उसका नाम ही 'महान् यश' हो गया है।

ऐसा महान् और सर्वशक्तिमान् हिरण्यगर्भ मुझे किसी प्रकार का कष्ट न दे।

स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ सर्वथा भिन्न किया है— 'जो देहधारी नहीं है जिसका कोई परिमाण नहीं है, जिसकी आज्ञापालन ही जिसका नामस्मरण है, जो उपासना करने वालों पर उपकार करता है, वेदों में अनेक स्थानों पर जिसकी महत्ता का प्रतिपादन है, जो न मरता है, न खरीदा जा सकता है, न नष्ट होता है, उसी की उपासना निरन्तर करो, यदि किसी अन्य की उपासना करोगे तो महान् पाप के पात्र बनकर अनेक कष्टों से मारे जाओगे।—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो
ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः।। 4।।

एषः। ह। देवः। प्रऽदिशः। अनु। सर्वाः। पूर्वः
ह। जातः। सः। ऊँ इति। गर्भे । अन्तः।
सः। एव। जातः सः। जनिष्यमाणः। प्रत्यङ्।
जनाः। तिष्ठति। सर्वतःऽमुखः।।

अन्वय— एष देवः ह सर्वाः प्रदिशः ह पूर्वः जातः अनु गर्भे अन्तः सः उ। स एव जातः सः जनिष्यमाणः जनाः प्रत्यङ् प्रत्यङ् तिष्ठति सर्वतोमुखः।

सरलार्थ— यह (एषः) देव (देवः) निस्सन्देह (ह) सब दिशाओं व उपदिशाओं (सर्वाः प्रदिशः) में व्याप्त है (अनु) (यह) ही (ह) सबसे पहले (पूर्वः) उत्पन्न हुआ (जातः) वह (सः) ही गर्भ के अन्दर है (गर्भे अन्तः) वह (सः) ही (एव) उत्पन्न हुआ है (जातः) (और) वही (सः) उत्पन्न होगा (जनिष्यमाणः) हे मनुष्यों (जनाः) (वह) सब तरफ है (प्रत्यङ् तिष्ठति) (और) सर्वव्यापक है (सर्वतोमुखः)।

महीधर भाष्य— चतस्रस्त्रिष्टुभः। ह प्रसिद्धम्। एषो ह देवः सर्वाः प्रदिशः अनुतिष्ठति व्याप्य स्थितः हे जनाः, ह प्रसिद्धमेष पूर्वः प्रथमो जात उत्पन्नः। गर्भे अन्तः गर्भमध्ये स उ स एव तिष्ठति जातोऽपि स एव जनिष्यमाणः उत्पत्स्यमानोऽपि स एव। प्रत्यङ् प्रतिपदार्थमञ्चति प्रत्यङ्। सर्वतोमुखः सर्वतो मुखाद्यवयवा यस्य। अचिन्त्यशक्तिरित्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में त्रिष्टुव् छन्द है। इसमें उस शक्ति की जिसे पुरुष, परमात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, महिमा का वर्णन किया गया है। वह सर्वत्र व्याप्त है। ये दसों दिशाएँ उसी के द्वारा व्याप्त है—**'यस्येमाः प्रदिशः'** तथा **'यस्याः चतस्रः प्रदिशः'**। यही सबसे पहले उत्पन्न हुआ, वही गर्भ के अन्दर है, वही उत्पन्न है, वही उत्पन्न होगा। इस सबका अभिप्राय यह है कि वही परम शक्ति सर्वप्रथम उत्पन्न हुई और वही आत्मतत्त्व के रूप में सबके अन्दर विद्यमान है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होती। वह शक्ति जो व्यष्टि रूप में आत्मा तथा समष्टि रूप में परमात्मा कही जाती है, अजर, अमर, सनातन, शाश्वत और पुरातन है। एक शरीर को छोड़ कर दूसरा नया शरीर उसी प्रकार धारण कर लेता है जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है। इस प्रकार वह भूतकाल में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्यत् में भी रहेगा।

यह ऊपर नीचे, दाएँ बाएँ, आगे पीछे सर्वत्र विद्यमान है, सर्वगत है व सर्वव्यापक है। वही सबका कर्त्ता, धर्ता और संहर्ता है 'पुरुष एवेदं सर्वम् यद् भूतं यच्च भव्यम्'।

1. **जनिष्यमाणः—** √ जन् + लृट्लकार। सर्वप्रथम यहाँ 'स्यतासी लृलुटोः'(3.1.33) से 'स्य' आया पुनः 'लृटः सद्वा' (3.314) से लृट् के स्थान पर शानच् आया। जनिष्यमाणः प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग का रूप है।

यस्माज्जातं न पुरा किं चं नैव य
आंबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि
ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी।। 5।।

यस्मात्। जातम्। न। पुरा। किम्। चन। एव। यः। आ। बभूव। भुवनानि। विश्वा। प्रजाऽपतिः। प्रजया। समऽरराणः। त्रीणि। ज्योतींषि। सचते। सः। षोडशी।

अन्वय— यस्मात् पुरा किञ्चन न एव जातम् यः विश्वा भुवनानि आ बभूव। षोडशी सः प्रजापतिः प्रजया संरराणः त्राणि ज्योतींषि सचते।

सरलार्थ— जिससे (यस्मात्) पहले (पुरा) कुछ भी (किञ्चन) नहीं (न एव) उत्पन्न हुआ (जातम्) जो (यः) सब (विश्वा) प्राणियों में (भुवनानि) विद्यमान है (आवभूव) सोलह कलाओं से युक्त (षोडशी) वह (सः) प्रजापति (प्रजापतिः) प्रजा से (प्रजया) रमण करता हुआ (संरराणः) तीन (त्रीणि) ज्योतियों का (जयोतींषि) सेवन करता है (सचते)।

महीधर भाष्य— यस्मात् पुरा किंचन किमपि न जातमेव। यञ्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आबभूव समन्ताद्भावयामास। अन्तर्भूतो व्यर्थः। स षोडशी षोडशावयवलिङ्गशरीरी प्रजापतिः प्रजया संरराणः त्रीणि ज्योतींषि रविन्द्वग्निरूपाणि सचते सेवते।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि वही परमात्मा जिसे हिरण्यगर्भ अथवा पुरुष, अथवा ब्रह्म कहा जाए अथवा अन्य किसी नाम से अभिहित किया जाए, सबसे पहले उत्पन्न हुआ और सब प्राणियों का अधिष्ठाता देव बन गया **'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** तथा **'ईशावास्यमिदं जगत्सर्वम्'** आदि। उसे षोडश कलाओं वाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि उसने 16 वस्तुओं की रचना की। प्रश्नोपनिषद् में ये 16 वस्तुएँ— प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम हैं। यह समस्त षोडशात्मक जगत् परमात्मा में ही है। उसी के द्वारा निर्मित है व उसी के द्वारा पालित है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति'।

'प्रजा' का अर्थ है 'प्रजायाः पालको अधिष्ठातो' अर्थात् प्रजापति अपनी प्रजा के साथ रमण करता हुआ तीन ज्योतियों अर्थात् अग्नि, वायु, सूर्य अथवा सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का सेवन करता है। तात्पर्य यह है कि सब प्रजाओं में व्याप्त हुआ जीवों के कर्मां को देखता हुआ और उनके कर्मों के अनुरूप ही उनको फल प्रदान करता हुआ इस संसार में लीलामय आनन्द का अनुभव करता है। वस्तुतः यह संसार उस की लीला ही है। वह स्वयं तो प्रकाशमय, सुखस्वरूप है, सुख दुःख से रहित है। इस प्रकार उसका ही अंश जो जीव में है वह भी सुख दुःख का भोक्ता नहीं है परन्तु मनुष्य अज्ञान के कारण उस शुद्ध आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसे ही सुख-दुःख का भोक्ता मान लेता है। अज्ञान युक्त चैतन्य ही जीव है **'अज्ञानोपहितं चैतन्यं जीवः'**। सुख-दुःख शरीर

के गुण हैं, आत्मा के नहीं।

इस प्रकार वह परमात्मा सर्वगत, सर्वव्यापक व सर्वत्र विद्यमान है। वह अपनी लीला से ही रमण करता रहता है।

1. **विश्वा**— यहाँ 'विश्वानि' रूप होना चाहिए था। यह प्रथमा द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, नपुसंकलिङ्ग का रूप है परन्तु 'शेश्छन्दसि बहुलम्, (6.1. 70) से 'शि' का लोप हो गया।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।। 6।।

येन। द्यौः। उग्रा। पृथिवी। च। दृढा। येन। स्वः। इति। स्तभितम्। येन। नाकः।
यः। अन्तरिक्षे। रजसः। विऽमानः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

अन्वय— येन द्यौ उग्रा च पृथिवी दृढा येन स्वः स्तभितम् येन नाकः। यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः कस्मै देवाय हविया विधेम।

सरलार्थ— प्रस्तुत मन्त्र का देवता हिरण्यगर्भ है व छन्द त्रिष्टुप् है। यह मन्त्र ऋग्वेद के 10.121 में भी प्राप्त होता है।

जिसके द्वारा (येन) आकाश (द्यौः) उन्नत किया गया (उग्रा) और (च) पृथ्वी को (पृथिवी) स्थिर किया गया (दृढा) जिसके द्वारा (येन) सूर्य को (स्वः) स्थापित किया गया (स्तभितम्) (और) जिसके द्वारा (येन) स्वर्ग (नाकः) (स्थिर किया गया)। जो (यः) अन्तरिक्ष में (अन्तरिक्षे) विद्युत का (रजसः) निर्माता है (विमानः) किस अन्य देवता की (कस्मै देवाय) हवि द्वारा (हविषा) हम पूजा करें (विधेम) अर्थात् किसी की भी नहीं।

सायण भाष्य— येन प्रजापतिना द्यौरन्तरिक्षमुग्रोद्गूर्ण विशेषगहनरूपं वा। पृथिवी भूमिश्चदृळ्हा येन स्थिरीकृता। स्वः स्वर्गश्च येन स्तभितं स्तब्धं कृतम् यथाधो न पतति तथोपर्यवस्थापितमित्यर्थः। ग्रसितस्तस्कभिस्तभितेति निपात्यते। तथा नाक आदित्यश्च येनान्तरिक्षे स्तभितः। यश्चान्तरिक्षे रजस उदकस्य विमानो निर्माता। कस्मै। अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः। कमेर्डप्रत्ययः।। यद्वा कं सुखम्। तद्रूपत्वात् इत्युच्यते। अथवेन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदिदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीदित्यादिकं

ब्राह्मणमत्रानुसन्धेयम्। ऐ. ब्रा. 3.211. यदसौ किंशब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्येनेति द्रष्टव्यम्। सावेकाच इति प्राप्तस्य न गोश्वन्सावर्णस्येति प्रतिषेधः। क्रियागृहणं कर्तव्यमिति कर्मणः। संप्रदानत्वाच्चतुर्थी। कं प्रजापतिं देवाय देवं दानगुणयुक्तं हविषा प्रजापत्यस्य पशोर्वपारुपेणैककपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम्। विधतिः परिचरणकर्मा। (ऋग्वेद 10. 121.5 से उद्धृत)

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में हिरण्यगर्भ की स्तुति करते हुए कहा गया है कि आकाश को उसी ने ऊँचा उठाया, पृथ्वी को स्थिर किया, सूर्य की स्थापना की तथा स्वर्ग को भी स्थिर किया ताकि वह नीचे न गिर जाए। वस्तुतः द्यौ, स्वः और नाकः एक ही तत्त्व हैं जो सुख का बोध कराते है और तीनों ही स्वर्ग लोक के भी पर्यायवाची हैं। अतः यहाँ तीनों पदों का एक ही अर्थ न करके आकाश, सूर्य और स्वर्ग ये तीन पृथक्-पृथक् अर्थ कर दिए गए हैं। उसी हिरण्यगर्भ ने जीवनदायिनी विद्युत् को अन्तरिक्ष में बनाया। विद्युत जीवनदात्री सम्भवतः इस कारण से है क्योंकि यह वर्षा की सूचक है और कृषि प्रधान देश होने के कारण वर्षा का भारत में अत्यधिक महत्त्व है। ऐसे महान् देवता के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवता की हवि द्वारा पूजा नहीं की जा सकती।

टिप्पणियाँ

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा— **सभी पाश्चात्य विद्वानों ने** 'उग्रा' को क्रिया न मानकर 'द्यौः' का विशेषण माना है ओर 'दृढा' क्रिया को 'द्यौ' और पृथ्वी दोनों की संयुक्त क्रिया माना है। तदनुसार अर्थ किया है—'जिसके द्वारा भयङ्कर (उग्रा) आकाश और पृथ्वी को स्थिर किया गया।' परन्तु यह अर्थ करने पर 'दृढा' क्रिया में द्विवचन होना चाहिए था परन्तु यहाँ एकवचन है। **अथर्ववेद के** 4.2.4 में भी यही पद्यांश है वहाँ पर निस्सन्देह 'उग्रा' को 'द्यौः' का विशेषण माना गया है परन्तु 'दृढा' में द्विवचन का ही प्रयोग किया गया है **'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळहे'**।

परन्तु **सभी भारतीय विद्वानों** ने 'उग्रा' को द्यौः का विशेषण न मान कर क्रिया माना है और अर्थ किया है 'जिसके द्वारा आकाश उन्नत किया गया (उग्रा) और पृथ्वी स्थिर की गई।

रजसः— **सायण** ने इसका अर्थ 'उदक' किया। **वेंकटमाधव—** 'तेज'। **मुइर—** 'वायव्य आकाश'। **मैक्सूलर—** 'वायु'। **यास्क—** 'ज्योति, उदक, लोक, रक्त, दिन'।

विमानः— वि + √ माङ् + **'कृत्यल्युटो बहुलम्'** (3.3.113) से ल्युट् का आगम हुआ, प्रथमा विभक्ति, एक वचन पुल्लिङ्ग।

कस्मै— सायण के अनुसार 'क' प्रजापति का वाचक है। 'क' को प्रजापति क्यों कहा गया है इसके विषय में सायण ने तीन तर्क किए हैं—

(1) उसने सृष्टि के लिए कामना की **'सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः'**।

(2) 'क' सुख का वाचक है। **सुखस्वरूप होने के कारण प्रजापति भी 'क' है।**

(3) एक बार इन्द्र प्रजापति के पास गया और उससे कहा कि 'तुम अपना महत्त्व मुझे दे दो'। प्रजापति ने कहा कि अपना महत्त्व तुम्हें देकर मैं क्या रह जाऊँगा **'कः स्याम्'**। इस पर इन्द्र ने कहा कि आप 'क' ही रह जाएगें और तब से प्रजापति 'क' कहा जाने लगा।

शतपथ ब्रह्मण में भी 'क' को प्रजापति कहा गया है **'प्रजापतिर्वै कः'** (7.4.19)।

परन्तु यदि 'क' प्रजापति है तो यह व्यक्तिवाचक संज्ञा है। व्यक्तिवाचक संज्ञा में सर्वनाम प्रत्यय 'स्मै' का प्रयोग न होकर 'काय' रूप बनना चाहिए था। इस समस्या का समाधान दो प्रकार से किया गया है—

1. वेद में अनेक रूप ऐसे मिलते हैं जहाँ संज्ञा प्रत्ययों के स्थान पर सर्वनाम प्रत्ययों का तथा सर्वनाम प्रत्ययों के स्थान पर संज्ञा प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। यथा— परमस्याम्, मध्यमस्याम्, अवमस्याम् आदि। अतः 'क' में भी संज्ञा प्रत्यय के स्थान पर सर्वनाम प्रत्यय का प्रयोग सर्वथा उचित है।

2. 'सर्व' सर्वनाम है और प्रजापति भी सर्व (सब कुछ) है अतः इसकी भी सर्वनाम संज्ञा हो गई। तद्नुसार इसके वाचक 'क' की भी सर्वनाम संज्ञा हो गई अतः इसमें सर्वनाम प्रत्ययों का प्रयोग व्याकरण सम्मत है।

कस्मै में काकु द्वारा प्रश्न किया गया है कि हम किस (अन्य) देवता की हवि द्वारा पूजा करें अर्थात् किसी की भी नहीं।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।

यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम।। 7।।

यम्। क्रन्दसी इति। अवसा। तस्तभाने इति।
अभि। ऐक्षेताम्। मनसा। रेजमाने इति।
यत्र। अधि। सूरः। उत्ऽइतः। विऽभाति।
कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

अन्वय— अवसा तस्तभाने रेजमाने क्रन्दसी यम् मनसा अभि ऐक्षेताम्। यत्र अधि सूरः उदितः विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सरलार्थ— रक्षा के लिए (अवसा) स्थिर किए गए (तस्तभाने) (और) प्रकाशित होते हुए (रेजमाने) द्युलोक और पृथ्वीलोक ने (क्रन्दसी) जिसको (यम्) एकाग्र मन से (मनसा) देखा (अभि ऐक्षेताम्)। जिसके (यत्र) आश्रय से (अधि) सूर्य (सूरः) उदित होकर (उदितः) प्रकाशित होता है (विभाति) किस अन्य (कस्मै) देवता की (देवाय) हवि द्वारा (हविषा) हम पूजा करें अर्थात् किसी की भी नहीं।

सायण भाष्य— क्रन्दितवान् रोदितवान् अनयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ। श्रूयते हि। यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्। तै.ब्रा. 2.2.9.4। इति। ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थ तस्तभाने प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्यं सत्यौ यं प्रजापतिं मनसा बुद्ध्याभ्यैक्षेताम्। ईक्ष दर्शने। लङ्यडादित्वादाद्युदात्तत्वम्। कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ। रेजमाने राजमाने दीप्यमाने।। अकारस्य व्यत्ययेनैत्वम्। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। यद्वा। लिटः कानच्। फणां च सप्तानाम्। पा. 6.5.124। इत्येवाभ्यासलोपौ। छन्दस्युभयथेति सार्वधातुकत्वाच्छप्। अभ्यस्तानामादिः इत्याद्युदात्तत्वम्। यत्राधि यस्मिन्नाधारभूते प्रजापतौ सूरः सूर्य उदित उदयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते।। उत्पूर्वादेतेः कर्मणि निष्ठा। गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। तस्मै कस्मा इत्यादि सुज्ञानम्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र का भी देवता हिरण्यगर्भ है। इसमें वर्णित किया गया है कि जब हिरण्यगर्भ दो भागों में विभाजित हुआ तो एक से स्वर्ग लोक बना तो दूसरे से पृथ्वी लोक। इन दोनों को यथास्थान अवस्थित कर दिया गया। द्युलोक को ऊपर स्थिर किया गया ताकि वह नीचे न गिर जाए तो पृथ्वी लोक को नीचे। स्थिर हो जाने के पश्चात् इन दोनों ने उस हिरण्यगर्भ को एकाग्र मन से देखा और यह अनुभव किया कि हमारा महत्त्व इसी के कारण है और उसके प्रति श्रद्धाभाव अभिव्यक्त किया। ऐसे महान् देवता के अतिरिक्त अन्य कोई देवता

हमारी पूजा का पात्र नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में उस परम एकमात्र शक्ति को 'हिरण्यगर्भ' नाम से अभिहित किया गया है।

टिप्पणियाँ

1. क्रन्दसी—पृथ्वी लोक और द्युलोक को 'क्रन्दसी' अथवा 'रोदसी' कहा गया है क्योंकि प्रजापति ने इन दोनों के बीच क्रन्दन अथवा रोदन किया था '**क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी**'। तैतरीय ब्राह्मण 2.2.9.4 में भी कहा गया है '**यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्**'। वस्तुतः हिरण्ययर्भ के दो भागों में विभक्त होने पर उसकी चरमराहट की आवाज ही प्रजापति का 'रोदन' अथवा 'क्रन्दन' कहलाया।

2. **अवसा**— √ अव् + असुन् प्रत्यय, तृतीया विभक्ति, एकवचन।

3. **तस्तभाने**— √ स्तभ् + कानच्, प्रथमा द्वितीया विभक्ति, द्विवचन पुल्लिङ्ग। यहाँ '**लिटः कानज्वा**' (3.2.106) से 'कानच्' प्रत्यय आया।

4. रेजमाने— √ राज् दीप्तौ + कानच् प्रत्पय + प्रथमा द्वितीया विभक्ति, द्विवचन, पुल्लिङ्ग। यहाँ राजमाने रूप बनना चाहिए था। प्रथम '**लिटः कानज्वा**' (3.2.106) से 'कानच्' प्रत्यय आया। पुनः '**फणां च सप्तानाम्**' (6.4.125) से 'रा' के 'आ' का ''एत्व' हो गया तथा अभ्यास का लोप हो गया। 'कानच्' में लिट्वत व्यवहार होने के कारण धातु का द्वित्व प्राप्त था।

कस्मै— दृष्टव्य प्रथम मन्त्र।

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं संच विचैसित सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥8॥

वेनः। तत्। पश्यन्। निऽहितम्। गुहा। सत्।
यत्र। विश्वम्। भवति। एकनीडम्।
तस्मिन्। इदम्। सम्। च। वि। च।
एति। सर्वम्। सः। ओतः। प्रोतः। च। विऽभूः। प्रऽजासु।

अन्वय— वेनः गुहासत् निहितं तत् पश्यन् यत्र विश्वम् एकनीडम् भवति। तस्मिन् इदम् सर्वं सम् च विचैति च सः विभुः प्रजासु ओतः प्रोतः च।

सरलार्थ— वेदान्त के रहस्य को जानने वाला (वेनः) गुहा में स्थित (गुहासत्) छिपे हुए (निहितम्) उसे (तत्) (परमात्मा को) देखता है (पश्यन्)

जहाँ (यत्र) विश्व (विश्वम्) एक घर (एकनीडम्) होता है (भवति)। उसमें (तस्मिन्) यह (इदम्) सब (सर्वम्) लीन होता है और उससे ही प्रकट होता है (संचविचैति) वह (सः) सर्वव्यापक (विभुः) प्रजाओं में (प्रजासु) ओत प्रोत है (ओतः प्रोतश्च)।

महीधर भाष्य— वेनः पण्डितो विदितवेदान्तरहस्यः तत् ब्रह्म पश्यति। जानातीत्यर्थः। कीदृशं तत्। गुहा गुहायां रहः स्थाने निहितं स्थापितं दुर्ज्ञेयमित्यर्थः। सत् नित्यम्। यत्र ब्रह्माणि विश्वं कार्यजातमेकनीडं भवति। एकमेव नीडमाश्रयो यस्य तत्। अविभक्तमविशेषं कारणमेव भवतीत्यर्थः। तस्मिन्ब्रह्मणि इदं सर्व भूतजातं समेति च सङ्गच्छते संहारकाले। व्येति च निर्गच्छति सर्गकाले। स परमात्मा प्रजासु ओतः प्रोतश्च ऊर्ध्वतन्तुषु पट इव शरीरभावेन प्रोतश्च। कीदृशः। विभूः कर्यरूपेण विविधं भवतीति विभूः। सर्वः स एवेत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र मे बतलाया गया है कि वह ब्रह्म सबके द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो विद्वान् इह लौकिक और पारलौकिक सुखों से विमुख हैं, जिन्हें नित्य अनित्य का विवेक है, जिनमें शम दम आदि छः गुण हैं और जिन्हें वेदान्तों के रहस्य का ज्ञान है वही हृदय रूपी गुहा में निहित परमात्मा का अनुभव कर सकते हैं। वह परमात्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। केवल अनुभव का विषय है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है— **'जन्तोर्निहितो गुहायाम्'**। इसका तात्पर्य यह भी है कि वह दुर्बोध और दुर्ज्ञेय है।

वह परमात्मा संसार के कोने कोने में व्याप्त है। सबमें उसी की सत्ता है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ईशावास्यमिदं जगत्सर्वम्'**। इस शक्ति का अनुभव कर मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि जो आत्मा अथवा शक्ति मेरे अन्दर है वही सबके अन्दर है। यहाँ कोई भिन्नता नहीं है केवल नाम, रूप, रंग की बाह्य भिन्नता ही है। अन्ततोगत्वा सबमें एक ही शक्ति व्याप्त है। तब उसके लिए अनेकता समाप्त हो जाती है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना से प्रेरित उसे समस्त विश्व एक घर के समान प्रतीत होता है।

परमात्मा ही इस संसार का निमित्त और उपादान दोनों कारण है अतः संसार उससे पृथक् नहीं है। जिस प्रकार अग्नि से अङ्गारे उत्पन्न होते हैं ओर उसी में विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार प्रलय के समय सभी कुछ उस पर ब्रह्म में विलीन हो जाता है ओर सृष्टि के समय पुनः उत्पन्न हो जाता है। वही इस सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है। तुलनीय—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।।

उसे **'तज्जलन्'** कहा गया है जिसका अभिप्राय है— तज्ज, तदन्, तल्ल अर्थात् सब उसी से उत्पन्न होता है, उसी के सहारे रहता है और उसी में विलीन हो जाता है।

सब प्राणी उसी के भिन्न-भिन्न रूप व नाम हैं क्योंकि वही कारण है और वही कार्य (संसार) है। उपनिषद् में कहा भी गया है—**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**। पुरुष सूक्त में भी **'तस्माद्विराडजायत'** कह कर इस तथ्य की पुष्टि की गई है। जिस प्रकार तन्तु वस्त्र में, दूध दही में, सरसों तेल में ओत प्रोत है, उसी प्रकार वह शक्ति भी संसार में ओत प्रोत है। वह संसार से और संसार उससे पृथक् नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत मन्त्र में अद्वैतवाद का सुन्दर प्रतिपादन है।

संचविचैति— इस पद का अर्थ समेति और व्येति है। यह उपसर्गों का विशिष्ट प्रयोग है। यहाँ एक ही मुख्य क्रिया के साथ भिन्न-भिन्न अर्थ वाले उपसर्गों का 'च' के साथ प्रयोग किया गया है। यहाँ √इण्-गतौ में 'सम्' उपसर्ग 'समेति' के अर्थ में तथा 'वि' उपसर्ग 'व्येति' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

प्र तद् वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहासत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत्।। 9।।

प्र। तत्। वोचेत्। अमृतम्। नु। विद्वान्। गन्धर्वः। धाम। विऽभृतम्। गुहासत्। त्रीणि। पदानि। निऽहिता। गुहा। अस्य। यः। तानि। वेद। सः। पितुः। पिता। असत्।

अन्वय— गन्धर्वः विद्वान् गुहासत् धाम विभृतम् तद् अमृतं प्रवोचेत्। अस्य त्रीणि पदानि गुहा निहिता यः तानि वेद सः पितुः पिता असत्।

सरलार्थ— गन्धर्व (गन्धर्वः) विद्वान् (विद्वान्) गुहा में विद्यमान (गुहासत्) स्वरूप को (धाम) धारण करने वाले (बिभृतम्) उस (तद्) अमृत का (अमृतम्) उपदेश दे (प्रवोचेत्)। इसके (अस्य) तीन (त्रीणि) चरण (पदानि) गुहा में (गुहा) रखे हुए हैं (निहिता) जो (यः) उन्हें (तानि) जानता है (वेद) बह (सः) पिता के (पितुः) पिता को (पिता) जानता है (असत्)।

महीधर भाष्य— गां वेदवाचं धारयति विचारयतीति गन्धर्वः वेदान्तवेत्ता

विद्वान् पण्डितः नु क्षिप्रम् अमृतं शाश्वतम् तत् ब्रह्म प्रवोचेत् प्रब्रूयात्। गुहा गुहायां सत् विद्यमानम् धाम स्वरूपं बिभृतं विहतं सर्गस्थितिप्रलयरूपैर्विभक्तम्। किंच अस्यामृतस्य त्रीणि पदानि सर्गस्थितिप्रलयाः वेदाः काला वा ब्रह्मान्तर्यामिविज्ञानात्मानो वां। किंच यः तानि पदानि वेद जानाति स पितुः ब्रह्मणोऽपि पिता परमात्मा असत् भवति। परब्रह्मैव भवतीत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि गन्धर्व विद्वान् ही उस अमृत के परमार्थ स्वरूप का विवेचन कर सकता है जो उसके वास्तविक स्वरूप को जानता है और उसका वास्तविक स्वरूप यही है कि वह हृदय रूपी गुहा में विद्यमान है। गन्धर्व विद्वान् वही है जिसने वेदान्त के रहस्य को समझ लिया है। ऐसा विद्वान् ही यह जानता है कि वह परमात्मा इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि वह '**चतुष्कोटिर्विनिर्मुक्तः**' है। उसका कोई रूप , रंग व आकार न होने के कारण वह विषयगत नहीं है वह विषयीगत है। वह '**हस्तामलकवत्**' (हाथ में आँवले के समान) निर्देश्य नहीं है। उसका हृदय रूपी गुहा में उसी प्रकार अनुभव किया जा सकता है जिस प्रकार करेण्ट का केवल अनुभव ही किया जा सकता है। वस्तुतः इन्द्रियों का विषय न होने के कारण उसका उपदेश भी नहीं दिया जा सकता। केनोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है '**न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्**'। कठोपनिषद् में भी उसे हृदय रूपी गुहा में स्थित बतलाया गया है— '**जन्तोः निहितो गुहायाम्**'।

परमात्मा के तीन पैर सर्ग, स्थिति और प्रलय हैं अथवा तीन वेद हैं अथवा तीन काल हैं। जो इन्हें जानता है, वह पिता अर्थात् ब्रह्मा के पिता को भी जानता है। ब्रह्मा के पिता से तात्पर्य ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ 'परब्रह्म' से है। अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा' ब्रह्म, परब्रह्म के विषय में पूर्ण रूप से जान जाता है। कुछ विद्वानों ने पिता का अर्थ 'जन्म देने वाला' पिता किया है अर्थात् वह उनसे भी अधिक विद्वान् हो जाता है।

टिप्पणियाँ

1. निहिता— नि + √धा + क्त, प्रथमा द्वितीया विभक्ति बहुवचन, नपुसंकलिङ्ग।

'**दधातेर्हिः**' (7.4.42) से '**धा**' को '**हि**' आदेश हुआ। यहाँ '**निहितानि**' रूप होना चाहिए था परन्तु '**शेश्छन्दसि बहुलम्**'(6.1.70) से '**शि**' का लोप हो गया।

2. गुहा— यहाँ 'गुहायाम्' रूप होना चाहिए था। परन्तु 'सुपां सुलुक्' इत्यादि (7.1.39) सूत्र से विभक्ति लोप हो गया।

3. **प्रवोचेत्**— 'व्यवहिताश्च' (1.4.82) से धातु और उपसर्ग के बीच व्यवधान है।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।। 10।।

सः। नः। बन्धुः। जनिता। सः। विऽधाता। धामानि। वेद। भुवनानि। विश्वा।
यत्र। देवाः। अमृतम्। आनशानाः। तृतीये। धामन्। अध्यैरयन्त।

अन्वय— सः नः बन्धुः जनिता सः विधाता विश्वा धामानि भुवनानि वेद। यत्र देवाः अमृतम् आनशानाः तृतीये धामन् अध्यैरयन्त।

सरलार्थ— वह (सः) हमारा (नः) बन्धु है (बन्धुः) जनिता है (जनिता) (और) विधाता है (विधाता) वह (सः) सब स्थानों (धामानि) (और) भुवनों को (भुवनानि) जानता है (वेद)। जहाँ (यत्र) देव (देवाः) अमृत को (अमृतम्) प्राप्त करते हुए (आनशानाः) तृतीय (तृतीये) स्वर्ग में (धामन्) स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं (अध्यैरयन्त)।

महीधर भाष्य— स परमात्मा नोऽस्माकं बन्धुः बन्धुवन्मान्यः। जनिता जनयिता। जनिता मन्त्रे (पा. 6.4.53) इति णिचो लोपः। स च विधाता धारयिता। सः विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि धामानि स्थानानि च वेद। देवा अग्न्यादयः तृतीये धामन् धामनि स्थाने स्वर्गरूपे अध्यैरयन्त स्वेच्छया वर्तन्ते। कीदृशा देवाः। अमृतं मोक्ष-प्रापकं ज्ञानं यत्र ब्रह्मणि आनशानाः व्याप्नुवानाः अश्नुवते। आनशानाः 'बहुलं छन्दसि' (पा. 2.4.76) इत्यशेर्ह्लदित्वेन द्वित्वे शानचि अभ्यासस्य नुमागमः ब्रह्मनिष्ठं ज्ञानं प्राप्तः सन्त स्वर्गे देवा मोदन्त इति भावः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि वही परमात्मा हमारा बन्धु है, हमें उत्पन्न करने वाला है अर्थात् पिता भी है और हमें धारण करने वाला भी है (विधाता) । वह यह जानता है कि सभी प्राणी उस से भिन्न नहीं है और वह प्राणियों से भिन्न नहीं है। वही सब प्राणियों में आत्मा के रूप में विद्यमान है। व्यष्टि रूप में जिसे आत्मा कहा गया है समष्टि रूप में वही परमात्मा है। अग्नि इत्यादि देवता भी इसी के कारण अमृतत्व को प्राप्त कर सर्वोत्तम स्वर्ग में निवास करते हैं। वस्तुतः देवता भी उसी के कारण हैं। समस्त चराचर जगत्,

देवजगत, पशु पक्षी जगत् सभी का एकमात्र स्वामी वही है **'यस्य प्रशिषं देवा उपासते'**। वेद में तीन प्रकार के स्वर्ग का वर्णन प्राप्त होता है। सर्वोत्तम स्वर्ग पक्षियों की पहुँच से भी परे है। वहाँ मधु का उत्स है— **'मध्व उत्सः'** और देवता वहाँ आनन्द प्राप्त करते हैं— **'देवासो यत्र मदन्ति'**।

टिप्पणियाँ

1. **जनिता**— यहाँ **'जनयिता'** रूप होना चाहिए था परन्तु **'जनिता मन्त्रे'** (6.3.53) सूत्र से **'णिच्'** का लोप हो गया। √ जन् + तृच् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

2. **विश्वा**— यहाँ 'विश्वानि' रूप होना चाहिए परन्त 'शेश्छन्दसि बहुल्' (6.1.70) से 'शि' का लोप हो गया। प्रथमा, द्वितीया विभक्ति, बहुवचन, नपुसंकलिङ्ग।

3. **आनशानाः**— √ अश् + शानच् **'बहुलं छन्दसि'** (2.4.76) से 'श्लु' विकरण आया जिससे धातु का द्वित्व हुआ तथा अभ्यास को 'नुम्' का आगम हो गया।

4. **धामन्**— यहाँ 'धामनि' रूप होना चाहिए परन्तु **'सुपां सुलुक्'** इत्यादि (7.1.39) से विभक्ति का लोप हो गया।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश।। 11।।

परिऽइत्य। भूतानि। परिऽइत्य। लोकान्।
परिऽइत्य। सर्वाः। प्रऽदिशः। दिशः। च।
उपऽस्थाय। प्रथमऽजाम्। ऋतस्य।
आत्मना। आत्मानम्।। अभि। सम्। विवेश।

अन्वय— भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशः दिशः च परीत्य ऋतस्य प्रथमजाम् उपस्थाय आत्मना आत्मानम् अभि सं विवेश।

सरलार्थ— प्राणियों को (भूतानि) व्याप्त करके (परीत्य) लोकों को (लोकान्) व्याप्त करके (परीत्य) सब (सर्वाः) प्रदिशाओं (प्रदिशः) और (च) दिशाओं को (दिशः) व्याप्त करके (परीत्य) (ज्ञानी मनुष्य) ऋत की (ऋतस्य) प्रथमजा वाणी (प्रथमजाम्) अर्थात् वेदों का भलीप्रकार सेवन करके

(उपस्थाय) आत्मा के द्वारा (आत्मना) आत्मा में (आत्मानम्) प्रविष्ट हो जाता है (अभि सं विवेश)।

महीधर भाष्य— इदानीं सर्वभूतेष्वहमस्मि सर्वाणि भूतानि मयीति ज्ञानवतः सर्वमेधयाजिनो मुक्तिरुच्यते। किंच सर्वमेधग्रहोऽपि न ज्ञानं प्रधानम्। ब्रह्मज्ञानवतो यजमानस्याग्निहोत्रादयोऽपि यज्ञाः सर्वमेधा एवेत्याह परीत्य भूतानीति कण्डिकाभ्याम्। एवं ज्ञानवान् सर्वमेघयाजी आत्मना जीवरूपेण ऋतस्य यज्ञस्यात्मानं यज्ञाधिष्ठातारं परमात्मानमभिसंविवेश प्रविशति। ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः। किं कृत्वा। भूतानि परीत्य सर्वभूतानि ब्रह्मत्वेन विज्ञाय। लोकान् भूरादीन् परीत्य ब्रह्मरूपाञ्ज्ञात्वा। सर्वाः प्रदिशः विदिशः दिशश्च परीत्य तद्रूपाञ्ज्ञात्वा। प्रथमजां प्रथमोत्पन्नां त्रयीरूपां वाचमुपस्थाय संसेव्य। यज्ञादि कृत्वेत्यर्थः। 'अपिहि तस्मात् पुरुषाद् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत' इति श्रुतेः प्रथमजा वाक् वेदरूपा।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि वह विद्वान् अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है जो यह समझ लेता है कि मैं सब प्राणियों में और सब प्राणी मुझ में विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि जो विद्वान् यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि जो आत्मतत्त्व मुझ में है वही सबमें है तो उसके मन में नानात्व नहीं रहता। जो यह जान लेता है कि प्रत्येक कण-कण में वही विद्यामान है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** और यहाँ नानात्व नहीं है **'नेह नानास्ति किञ्चन'** तो ऐसा ज्ञानी मृत्यु के बाद उसी परमात्मा में लीन हो जाता है। जन्म और मृत्यु के चक्कर से हमेशा के लिए मुक्त हो जाता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।। (यजुर्वेद 40.6)

परीत्य— परि + √ इण्-गतौ ल्यप्।

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्।। 12।।

परि। द्यावापृथिवी। सद्यः। इत्वा। परि।
लोकान्। परि। दिशः। परि। स्वः
ऋतस्य। तन्तुम्। विऽततम्। विऽचृत्य। तत्।
अपश्यत्। तद्। अभवत् तद्। आसीत्।

अन्वय— सद्यः द्यावापृथिवी परि इत्वा लोकान् दिशः स्वः परि इत्वा ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य तत् अपश्यत् तत् अभवत् तत् आसीत्।

सरलार्थ— शीघ्र ही (सद्यः) द्युलोक और पृथ्वी लोक को (द्यावापृथिवी) व्याप्त करके (परि इत्वा) सब लोकों को (लोकान्), सब दिशाओं को (दिशः), सूर्य को (स्वः) व्याप्त करके (परि इत्वा) ऋत के (ऋतस्य) फैले हुए (विततम्) तन्तु को (तन्तुम्) समाप्त करके (विचृत्य) (ज्ञानी मनुष्य) उसका (तत्) साक्षात्कार करता है (अपश्यत्) तद्रूप हो जाता है (तदभवत्) तद् रूप तो वह था ही (तत् आसीत्)।

महीधर भाष्य— परीत्युपसर्ग इत्वेत्यनेन संबध्यते। सर्वमेधयाजी तत् ब्रह्म अपश्यत् पश्यति तत् अभवत् भवति तत् आसीत् वस्तुगत्या तदेवास्ति। अज्ञाननिवृत्तिरेव दर्शनं चेति भावः। किं त्वा। द्यावापृथिवी सद्यः परि इत्वा परीत्य तद्रूपेण ज्ञात्वा। लोकान् परीत्य दिशः परीत्य स्वरादित्यं च परीत्य। गुह्यं वस्तु पुनः पुनः कथितं चित्तमारोहतीति पुनरुक्तिः। ऋतस्य यज्ञस्य तन्तुमितिकर्तव्यतां विततं प्रसारितं यथा तथा विचृत्य समाप्य यज्ञं 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्ये' ति श्रुतेश्च ब्रह्मरूपस्य जीवस्या-ज्ञाननिवृत्तिरेव ब्रह्मप्राप्तिरिति।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि जो विद्वान् यह भली भाँति समझ लेता है कि यह द्युलोक और पृथ्वीलोक, अन्य सब लोक, दिशाएँ और तेज का महान् पुञ्ज सूर्य भी उसी परमात्मा के द्वारा व्याप्त है—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'

तो वह नानात्व नहीं देखता। उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि यज्ञ अर्थात् कर्मकाण्ड के द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह तो ज्ञानगम्य है **'विद्ययाऽमृतमश्नुते'** तो वह ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। वह हृदय रूपी गुहा में उसका साक्षात्कार करता है और यह अनुभव कर लेता है कि वही सर्वप्रेरक, सर्वव्यापक व अन्तर्यामी है। ऐसा ज्ञानी मृत्यु के पश्चात् जन्म मृत्यु के चक्कर से मुक्त होकर परमात्मा में ही विलीन हो जाता है। वस्तुतः व्यष्टि रूप आत्मा समष्टि रूप परमात्मा में मिल जाती है **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** तथा **'तत्त्वमसि'** महावाक्य इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। अपने अज्ञान के कारण ही वह स्वयं को उस परम तत्त्व से पृथक् समझता है। जब उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है तब वह तद् रूप हो जाता है जो वास्तव में पहले से ही तद् रूप था परन्तु समझ नही पाया था।

प्रस्तुत मन्त्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।

सनिं मेधामयासिषम् स्वाहा।। 13।।

सदसः। पतिम्। अद्भुतम्। प्रियम्। इन्द्रस्य। काम्यम्।

सनिम्। मेधाम्। अयासिषम्। स्वाहा

अन्वय— स्वाहा सदस्पतिम् अद्भुतम् इन्द्रस्य प्रियम् काम्यम्। सनिम् मेधाम् अयासिषम्।

सरलार्थ— (मैं) अपनी वाणी द्वारा (स्वाहा) सदस्पति (सदस्पतिम्) आश्चर्यजनक (अद्भुतम्) इन्द्र के (इन्द्रस्य) प्रिय (प्रियम्) काम्य (काम्यम्) (और) धन देने वाले को (सनिम्) मेधा (मेधाम्) (प्राप्त करने के लिए) प्राप्त करता हूँ (अयासिषम्)।

सायण भाष्य— मेधां लब्धुं सदसस्पतिमेतन्नामकं देवमयासिषम्। प्राप्तवानस्मि। कीदृशम्। अद्भुतमाश्चर्यम् इन्द्र प्रियं सोमपाने सहचारित्वात् काम्यं कमनीयं सनिं धनस्य दातारम्।। सदसः। षद्लृ विशरणादौ। सर्वधातुभ्योऽसुन्। नत्त्वादाद्युदात्तः पतिम् पातेर्डतिः। उ. 4.57। टिलोपः। प्रत्ययस्वरः। प्रियम्। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। इयङादेशः। प्रत्ययस्वरः। काम्यम्। कामयतेरचो यत्। णेरनिटीति णिलोपः। यतोनाव इत्याद्युदात्तत्वम्। सनिम्। षणु दाने। धात्वादेः षः सः। अच इरित्यनुवृत्तौ खनिकष्यंज्यसिवसिवनिसनिध्वनिग्रन्थिचरिभ्यश्च। उ. 4.1391 इति इप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः। यमरमनमातां सक् च। पा. 7.2.73। इति सिच इडागमः। धातो सामागमः। निघातः।। (ऋ. 1.18.6)।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सम्भवतः अग्नि की स्तुति की गई है क्योंकि अग्नि को 'सदस्पति' कहा गया है। 'सदस्' का अर्थ यज्ञ है और अग्नि यज्ञ का स्वामी है। वह अद्भुत शक्तिमान् है, इन्द्र का प्रिय मित्र है और अपने यजमानों को अतिशय धन देने वाला है (रत्नधातमम्)। इसका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के लगभग 200 सूक्तों में इसकी स्तुति की गई है।

'मैं अपनी वाणी द्वारा अग्नि को प्राप्त करता हूँ' का तात्पर्य यह है कि मैं अपनी स्तुतियों द्वारा अग्नि की स्तुति करता हूँ। वह अग्नि देवता मुझे मेधावी

बनाए। प्रकाशयुक्त होने के कारण अग्नि का सम्बन्ध ज्ञान, बुद्धि, मेधा आदि से स्थापित किया गया है। अगले मन्त्र में स्पष्ट रुप से अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह हमें मेधावी बनाए- **'तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु'।**

अयासिषम्— √ या+लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन यहाँ **'च्लेः सिच्'** (3.1.44) से लुङ् लकार में **'सिच्'** तथा **'यमरमनमातां सक् च'** (7.2.23) से इट् आया।

सदसः— √ षदलृ–सद्+असुन प्रत्यय, षष्ठी एकवचन, पुल्लिङ्ग।

काम्यम्— √ कम्+यत्। यहाँ **'अचो यत्'** (3.1.97) से यत् प्रत्यय आया, द्वितीया विभक्ति, एकवचन, नपुसंकलिङ्ग

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।। 14।।

याम्। मेधाम्। देवगणाः। पितरः। च। उपऽआसते।

तया। माम्। अद्य। मेधया। अग्ने। मेधाविनम्। कुरु। स्वाहा।

अन्वय— यां मेधां देवगणाः च पितरः उपासते अग्ने तया मेधया अद्य माम् स्वाहा मेधाविनम् कुरु।

सरलार्थ— जिस मेधा की (यां मेधाम्) देवता (देवगणाः) और (च) जगत् का पालन करने वाले ज्ञानी (पितरः) उपासना करते हैं (उपासते) हे अग्नि (अग्ने) उस (तया) मेधा से (मेधया) आज (अद्य) मुझे (माम्) (और) मेरी वाणी को (स्वाहा) मेधावी (मेधाविनम्) बना दो (कुरु)।

महीधर भाष्य— अनुष्टुप। हे अग्ने, तया मेधया अद्य मां मेधाविनं बुद्धियुक्तं कुरु। स्वाहा सुहुतमस्तु "अस्मायामेधास्रजो विनि." (5.2.121) इति विनिप्रत्ययः मेधास्यास्तीति मेधावी तम्। तया कया देवगणाः देवसमूहाः पितरश्च यां मेधामुपासते पूजयन्ति। देवपितृमाभ्या बुद्धिरस्माकमस्त्वित्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में अनुष्टुब् छन्द है। यहाँ अग्नि से प्रार्थना की गई है कि मुझे और मेरी वाणी को अग्नि देवता मेधावी बना दें क्योंकि मेधा, बुद्धि, प्रज्ञा के बिना यह जीवन व्यर्थ है। भर्तृहरि ने भी पशु और मनुष्य में अन्तर बुद्धि के कारण ही माना है। दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् अथवा देवता और जगत

का पालन करने वाले ज्ञानी भी अग्नि देवता से मेधा प्राप्त करने के लिए उपासना करते हैं। हे अग्नि देवता मुझे और मेरी वाणी को भी उसी बुद्धि से युक्त कर दो। वाणी और मन का अटूट सम्बन्ध है। मन के विचारों को प्रकट करने का माध्यम वाणी ही है। हम बुद्धि और प्रज्ञा से युक्त हों ताकि ज्ञानयुक्त बात करें, ज्ञानयुक्त बात सोचें और उन ज्ञानपूर्ण बातों की अभिव्यक्ति भी ज्ञानयुक्त वाणी द्वारा ही हो।

मेधाविनम्— 'मेधा अस्य अस्ति इति मेधावी तम्'। मेधा+विनि प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति, एक वचन पुल्लिङ्ग। यहाँ **'अस्मायामेधास्रजो विनिः'** (5.2.121) से 'विनि' प्रत्यय आया है।

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा।। 15।।

मेधाम्। मे। वरुणः। ददातु। मेधाम्। अग्निः। प्रजाऽपतिः।
मेधाम्। इन्द्रः। च। वायुः। च। मेधाम्। धाता। ददातु। मे। स्वाहा।

अन्वय— वरुणः मे मेधां ददातु अग्निः प्रजापतिः मेधाम्। इन्द्रः च वायुः मेधाम् धाता मेधाम् ददातु मे स्वाहा।

सरलार्थ— वरुण (वरुणः) मुझे (मे) मेधा (मेधाम्) दे (ददातु) अग्नि (अग्निः) (और) प्रजापति (प्रजापतिः) मेधा (मेधाम्) (प्रदान करें) इन्द्र (इन्द्रः) और (च) वायु (वायुः) मेधा (मेधाम्) दें धाता (धाता) मुझे (मे) मेधा (मेधाम्) दे (ददातु) मेरी वाणी भी (स्वाहा) (मेधावी हो)।

महीधर भाष्य— लिङ्गोक्तदेवतानुष्टुप्। वरुणो मे मह्यं ददातु। अग्निः प्रजापतिश्च मे मेधां ददातु। इन्द्रः वायुश्च मे मेधां ददातु। धाता मे मेधां ददातु सुहुतमस्तु।।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सभी देवताओं से सद्बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। बुद्धि से ही मनुष्य सर्वविध सुख प्राप्त कर सकता है। वैदिक ऋषि संतुलित जीवन में विश्वास रखते थे। वे एक तरफ देवताओं से भौतिक सुख की प्रार्थना करते थे तो दूसरी तरफ शुभ विचारों वाली, प्रमादरहित व सर्वहितकारी बुद्धि की भी प्रार्थना पौनः प्रन्येन की गई है (तुलनीय ऋग्वेद 7.100.2)। योगवसिष्ठ में भी कहा गया है—**'भोगयोगपरो भव'**।

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।

मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा।। 16।।

इदम्। मे। ब्रह्म। च। क्षत्रम्। च। उभे। श्रियम्। अश्नुताम्।

मयि। देवाः। दधतु। श्रियम्। उत्ऽतमाम्। तस्यै। ते। स्वाहा।

अन्वय— इदम् मे ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे श्रियम् अश्नुताम्। देवाः मयि उत्तमां श्रियम् दधतु तस्यै ते स्वाहा।

सरलार्थ— यह (इदम्) मेरा (मे) ज्ञान (ब्रह्म) और (च) बल (क्षत्रम्) दोनों (उभे) श्री को (श्रियम्) प्राप्त करें (अश्नुताम्)। देवता (देवाः) मेरे अन्दर (मयि) उत्तम (उत्तमाम्) श्री को (श्रियम्) स्थापित करें (दधतु) उस (तस्यै) तेरे लिए (ते) कल्याणमयी वाणी का अथवा यज्ञ का हम सम्पादन करते हैं (स्वाहा)।

महीधरभाष्य— मन्त्रोक्तदेवतानुष्टुप्। श्रीकामोऽनया श्रियं याच्यते। ब्रह्म ब्राह्मणजातिः क्षत्रं क्षत्रियजातिः इदमिमे उभे ब्रह्मक्षत्रे मे मम श्रियमश्नुताम्। देवाः मयि उत्तमां श्रियं दधतु स्थापयन्तु। तस्यै प्रसिद्धायै ते तुभ्यं श्रिये स्वाहा सुहुतमस्तु। चौ समुच्चयार्थौ। श्रीमेधे विना यज्ञासिद्धेस्ते प्रर्थ्येते।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सद्बुद्धि का फल बतलाया गया है। सुबुद्धि से युक्त मनुष्य का ही ब्रह्म तेज और क्षात्र तेज सुशोभित होता है। वही सर्वजनसुखाय और सर्वजनहिताय होता है। 'ब्रह्म' का अर्थ है ज्ञान और 'क्षत्र' का अर्थ है क्षत्रिय बल अर्थात् पराक्रम। ज्ञानी का ज्ञान विद्या के लिए और बल पररक्षा के लिए होता है। इसके विपरीत एक दुर्जन का ज्ञान विवाद के लिए और पराक्रम भी परपीडन के लिए होता है-

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परिपीडनाय।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय रक्षणाय च।।

ज्ञान और बल एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान के बिना बल चक्षुविहीन है और बल के बिना ज्ञान पङ्गु है। तुलनीय **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः'**।

यही सामञ्जस्य और समन्वय प्रस्तुत मन्त्र में दर्शाया गया है। मेरा बल और ज्ञान तेजस्विता और ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

सर्वकल्याण के पश्चात् निजकल्याण की कामना भी की गई है कि सब देवता मुझे भी श्री से युक्त करें। मुझे सद्बुद्धि, धन धान्य और ऐश्वर्य प्रदान करें।

प्रस्तुत मन्त्र से पुनः यह प्रमाणित होता है कि वैदिक आर्य पूर्ण रुप से संतुलित जीवन में विश्वास रखते थे। सभी प्राणियों के कल्याण के साथ साथ अपना हित भी चाहते थे। परार्थ और स्वार्थ दोनों ही संतुलित, और सामान्य जीवन के लिए अनिवार्य हैं।

卐 卐 卐

वरुण (अथर्ववेद 4.16)

यद्यपि वरुण की स्तुति ऋग्वेद के 12 सूक्तों मे ही विहित है तथापि यह महानतम् देवताओं में से एक है। लगभग 24 सूक्तों में इसका आह्वान संयुक्त रुप से मित्र के साथ भी किया गया है क्योंकि मित्र और वरुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है (मित्रावरुणौ)।

सायणाचार्य ने वरुण शब्द की व्युत्पति √ वृ-आवरणे से मानकर इसका अर्थ **'पापियों को बन्धन से परिवेष्टित करने वाला या बाँधने वाला किया है'**। कहीं कहीं उन्होंने वरुण की व्याख्या इस प्रकार भी की है **'जो संसार को अंधकार से आवृत करता है'**। अस्त होता हुआ सूर्य वरुण कहा जाता है सम्भवतः इस आधार पर सायण ने उक्त व्याख्या की हो। **यास्काचार्य** ने वरुण का निर्वचन √ वृञ्-वरणे से किया है क्योंकि वरुण सज्जनों का वरण करता है **'वरुणः वृणोतीति सतः'**। परन्तु **दुर्गाचार्य** ने इसे अन्तरिक्षस्थानीय देवता मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है— **'आवृणोति ह्ययं मेघजालेन वियत्'** अर्थात् जो बादलों के समूह से आकाश को व्याप्त कर देता है। **पाश्चात्य विद्वान् मैक्डॉनल, कीथ** आदि विद्वानों ने भी **'आकाश'** को ही वरुण माना है। परवर्तीकाल में समुद्र को आकाश कहा गया। अतः वरुण को समुद्र अथवा जल का देवता भी मान लिया गया। **पाश्चात्य विद्वान ओल्डेनबर्ग** के अनुसार **चन्द्रमा ही वरुण** है। **प्रो. हिलोब्राण्ड** भी इसी मत के समर्थक हैं। **प्रो. ओल्डेनबर्ग** के अनुसार मित्र और वरुण क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा है परन्तु इसकी पुष्टि का कोई आधार ऋग्वेद में नहीं है।

कुछ विद्वानों ने वरुण को रात्रि का देवता माना है। उनके अनुसार मित्र का सम्बन्ध सूर्य से व वरुण का सम्बन्ध रात्रि से है। सम्भवतया इसी आधार पर पश्चिम दिशा को जहाँ सूर्यास्त होता है, वारुणी दिशा के नाम से भी पुकारा गया है और सम्भवतः इसी आधार पर कि वरुण रात्रि के प्रारम्भ होने की सूचना देता है ओल्डेनबर्ग ने भी वरुण को चन्द्रमा मान लिया। **कुछ विद्वानों ने वरुण को वर्षा**

का देवता माना है क्योंकि जल से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। **वरुण को सूर्य मान लेने पर भी कोई असंगति प्रतीत नहीं होती** क्योंकि वरुण के चमकीले परिधान का उल्लेख अनेक बार प्राप्त होता है **'बिभ्रत् द्रापिं'**। यह वरुण रूपी सूर्य का स्वर्णिम परिधान भी हो सकता है। उसका रथ भी स्वर्णिम व द्युतिमान है। वरुण को सुपाणि व अपने द्युतिमान पाँवों द्वारा कपट दूर करने वाला कहा गया है **'स माया अर्चिना पदाऽस्तृणात्'** (ऋग्वेद, 8.41.8)। इससे सूर्य का अपनी किरणों द्वारा अन्धकार को दूर किए जाने का सङ्केत है। इस प्रकार वरुण को सर्वव्यापी आकाश, रात्रि का देवता, वृष्टि का नायक व सूर्य का समरूप भी माना जा सकता है। **अरविन्द घोष** के अनुसार आध्यात्मिक पक्ष में **'वरुण सर्वोच्च आवरक आकाश है आत्मा को घेरने वाला समुद्र, आकाशीय प्रभुत्व और अनन्त व्याप्ति है'**।

शारीरिक दृष्टि से वरुण के मुख, आँख, पैर तथा भुजाओं का वर्णन किया गया है। वह दूरदर्शी है। उसके हाथ सुन्दर व विशाल हैं (सुपाणि एवं पृथुपाणि)। वरुण के घर की भी कल्पना की गई है जो स्वर्णनिर्मित, सहस्त्रद्वारयुक्त व द्युलोक में स्थित है **'बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्त्रद्वारं जगमा गृहन्ते'** (ऋग्वेद 7.88.5)।

वरुण को सर्वोच्च नैतिक प्रशासक के रूप में मान्यता प्राप्त है। उसके नियम निश्चित और दृढ़ हैं। इसी कारण उसे **'धृतव्रत'** कहा गया है। स्वयं देवता भी इसके व्रत का पालन करते हैं **'वरुणस्य पुरो गये विश्वे देवा अनुव्रतम्'** (ऋग्वेद 8.41.7)। विधानों का उल्लङ्घन करने वालों तथा पाप करने वालों के प्रति इसका क्रोध भड़क जाता है तथा पाशों से बाँधकर यह उन्हें कठोर दण्ड देता है। पाशों का प्रयोग मुख्यतः वरुण की ही विशेषता है। तीन प्रकार के पाशों का वर्णन व उनसे मुक्ति की प्रार्थना अनेक मन्त्रों में की गई है—

उदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं चृतं

अवाधमानि जीवसे। (ऋग्वेद 1.25.21)

ये पाश वस्तुतः कर्मफल रूपी बन्धन ही प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद में स्पष्ट कहा गया है कि जुआरी के पासों के समान वरुण कर्मफलों को नियमित करता है **'अक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि'** (अथर्ववेद 4.16.5)। जो मनुष्य प्रायश्चित कर लेता है, वरुण उन पर कृपा व दया करता है। उन्हें उनके पितरों द्वारा किए

गए पापों से भी मुक्त कर देता है (ऋग्वेद 7.86.5)। **वरुण से अपराधों को क्षमा** करने की प्रार्थना पौनः पुन्येन की गई है। अपने नियमों की रक्षा करने के लिए वह सतत जागरूक रहता है।

इस प्रसङ्ग में उसके गुप्तचरों का उल्लेख भी हुआ है जिनके द्वारा वह सम्पूर्ण संसार को देखता है। इसके गुप्तचर स्वर्गलोक से लेकर पृथ्वी लोक तक घूमते हैं और हजारों आँखों वाले वे भूमि को अच्छी प्रकार से देखते हैं—

'दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम्'।

(अथर्ववेद 4.16.4)

इसी कारण उसे **सहस्राक्षः, सहस्रचक्षाः** व **उरुचक्षाः** कहा गया है।

वरुण **'ऋत'** अर्थात् प्राकृतिक व्यवस्था का भी शाश्वत रक्षक है **'ऋतस्य गोपा'**। इसी के नियमों के कारण पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और सितारे अपने अपने स्थान पर टिके रहते हैं। वह ऋतुओं का भी नियन्ता है (ऋग्वेद 1.25. 8)। आकाश में उड़ते हुए पक्षियों व समुद्र में चलने वाली नावों का भी उसे ज्ञान है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः (वही 1.25.7) दूरगामी वायु का मार्ग भी उसे ज्ञात है **'वेद वातस्य वर्तिनम्'**। वरुण की इस अनिर्वचनीय शक्ति का नाम **'माया'** है। अतः उसे **'मायावी'** या **'मायिन्'** भी कहा गया है। **'असुर'** विशेषण भी वरुण व मित्र के लिए उत्तम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस सार्वभौमिक सत्ता के कारण उसे **'क्षत्र'** भी कहा गया है। वरुण के पास मृत्यु को दूर भगाने के सैंकड़ों उपचार हैं।

वरुण का समुद्र से भी **घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह जलों का अधिपति है।** ऐसा प्रतीत होता है कि वरुण का वास्तविक सम्बन्ध अन्तरिक्षीय जलों से है। इसी कारण **निघण्टु के पाँचवें अध्याय में वरुण की गणना अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय दोनों प्रकार के देवताओं में की गई है।**

वरुण वस्तुतः भारोपीय काल का देवता है। इसकी तुलना **अवेस्ता के 'अहुरमज़्दा'** से की जा सकती है जिसमें नामगत समानता तो नहीं है परन्तु चरित्रगत समानता अवश्य है। **ग्रीस देश में 'यूरेनस'** के रूप में वरुण की कल्पना की गई है। वैदिक वरुण का स्वरूप व कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक व विशाल था।

यह पाप पुण्यों का द्रष्टा, गुण दोषों का अन्वीक्षक व कर्मानुसार फल देने वाला था परन्तु पौराणिक युग में इसे जल या समुद्र का देवता मात्र ही बना दिया गया और इस प्रकार इस युग में वरुण का अर्थ सङ्कुचित हो गया।

वरुण (अथर्ववेद 4.16)

प्रस्तुत मन्त्र समूह अथर्ववेद के **चतुर्थ काण्ड के 16वें सूक्त** से लिया गया है। इसका **देवता वरुण** है तथा **ऋषि ब्रह्मा** है। प्रथम मन्त्र में अनुष्टुब् छन्द है 2, 3, 4, 5 तथा 6 में त्रिष्टुब् छन्द है। सातवें में जगती है, आठवें में बृहती तथा नवें में गायत्री छन्द है।

वरुण जैसा कि वरुण देवता की टिप्पणी में स्पष्ट किया जा चुका है ऋग्वेद के महानतम देवताओं में से एक है। वैसे तो वरुण की अनेक विशेषताएँ हैं परन्तु उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशिष्टता उसका न्यायप्रिय होना है। वह नैतिकता का देवता है इसके नियम निश्चित और सुदृढ़ हैं। अपने गुप्तचरों की सहायता से यह समस्त संसार को देखता है। स्वयं देवता भी इसके नियमों का पालन करते हैं। पापियों को व नियमों का उल्लङ्घन करने वालों को वह दण्ड देता है।

प्रस्तुत सूक्त में वरुण के चरित्र के इसी पक्ष को उजागर किया गया है। वह संसार के शासक व नियामक के रूप में वर्णित है। प्रत्येक व्यक्ति की गतिविधियों पर वह नज़र रखता है। कोई भी इसकी दृष्टि से बच नहीं सकता। दुष्कर्म करते समय मनुष्य चाहें अन्य लोगों को धोखा दे दे परन्तु वरुण अपनी दिव्य दृष्टि से सब कुछ जान लेता है। अपराध करके यदि कोई दूर तक भागने का प्रयत्न भी करता है तो सर्वत्र विद्यमान वरुण के गुप्तचर उसे पकड़ लेते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में वरुण का अर्थ है मनुष्य की अन्तश्चेतना, अन्तरात्मा। मनुष्य पापकर्म करके चाहें सबकी नज़र से बच जाए परन्तु उसकी अन्तश्चेतना उसे धिक्कारती रहती है। किसी अन्य के द्वारा दण्डित न होने पर भी अपराधबोध की भावना से वह निरन्तर ग्रसित रहता है। चैन से न जी सकता है और न ही मर सकता है। उसके लिए यही सबसे बड़ा दण्ड है जो वह जीवनपर्यन्त भोगता रहता है।

ब्रह्मा शब्द √ बृह्-वृद्धौ से निष्पन्न है। जो विद्या और हृदय दोनों से महान् है, वही ब्रह्मा है और वही इस सूक्त का ऋषि है।

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः।। 1।।

बृहन्। एषाम्। अधिऽस्थाता। अन्तिकात्। इव। पश्यति।
यः। तायत्। मन्यते। चरन्। सर्वम्। देवाः। इदम्। विदुः।

अन्वय— एषाम् अधिष्ठाता बृहन् इव अन्तिकात् पश्यति यः चरन् तायत् मन्यते इदम् सर्वम् देवाः विदुः।

सरलार्थ— इन प्राणियों का (एषाम्) नियन्ता (अधिष्ठाता) महान् (बृहन्) (वरुण) मानो (इव) निकट से (अन्तिकात्) देखता है (पश्यति)। जो (यः) इधर-उधर घूमता हुआ (चरन्) चोरी को (तायत्) (गुप्त) मानता है (मन्यते) इस (इदम्) सब को (सर्वम्) देवता (देवाः) जानते हैं (विदुः)।

सायण भाष्य— बृहन् महान् परिबृढो यः वरुणः एषाम् दुरात्मनां शत्रूणाम् अधिष्ठाता नियन्ता सन् तैः कृतं सर्वम् अन्याय्यम् अन्तिकादिव पश्यति समीपदेशादिव जानाति। न तस्य व्यवधायकं किंचिद् अस्तीत्यर्थः। यो वरुणः तायत् सान्तत्येन वर्तमानं स्थिरवस्तु चरत् चरणशीलं नश्वरं च वस्तु मन्यते। स्थावरजङ्गमात्मकं सर्वं जगज्जानातीत्यर्थः। स बृहन् इति संबन्धः। तायत् इति। तायु सन्तानपालनयोः। अस्मात् लटः शत्रादेशः। ईदृग्विधज्ञानसद्भावं वरुणस्य उपपादयति सर्वम् इति। व्यवहितं विप्रकृष्टं स्थिरं नश्वरं स्थूलं सूक्ष्मम् इति एतादृग् इदं सर्वम् अतिरोहितज्ञानत्वाद देवाः विदुः जानन्ति। विद ज्ञाने। 'विदो लटो वा' (पा. 3.4.83) इति झेः उसादेशः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि सब प्राणियों का नियन्ता, अधिष्ठाता और स्वामी वह वरुण ही है। वह सर्वव्यापक तथा अन्तर्यामी है अतः मानों सबके कार्यों को समीप से देखता है अर्थात् उसे सबके द्वारा किए गए कार्यों की पूर्ण जानकारी रहती है। चोरी करने वाला चोर यह समझता है कि उसके इस कुकर्म को कोई भी नहीं देख रहा परन्तु यह उसका भ्रम ही है। वरुण जो नैतिकता का देवता है, अपनी दिव्य दृष्टि से सब कुछ देख लेता है और उस चोर को उसके अपराध के अनुरूप ही दण्ड देता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य चोरी छिपे चाहें कोई भी कार्य करे, वरुण की अन्तर्दृष्टि सब कुछ जान लेती है।

सायण ने एषाम् का अर्थ 'दुरात्मा शत्रुओं का' किया है परन्तु यह अर्थ अधिक उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि वरुण केवल शत्रुओं का ही अधिष्ठाता

देव नहीं है परन्तु हम सब का भी अधिष्ठाता देव है। **पुनः सायण ने तीसरा चरण वरुण के पक्ष में ही माना है और अर्थ किया है** 'वह वरुण निरन्तर रहने वाली स्थिर वस्तु को और नश्वर वस्तु को भी जानता है **अर्थात् स्थावर और जङ्गम समस्त जगत को जानता है।'**

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि श्रेष्ठ शासक वही है जो सजग व सचेत रहता है। उसकी गुप्तचर व्यवस्था इतनी दृढ़ और कर्त्तव्यनिष्ठ होनी चाहिए कि कोई भी अपराधी उसकी दृष्टि से बच न पाए और उसे अपने द्वारा किए गए अपराध के अनुरूप ही दण्ड मिले।

दूसरी तरफ मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह कभी भी नियमों का उल्लङ्घन न करे। सारी सृष्टि नियमबद्ध है। नियमों का पालन करने वाला मनुष्य ही नित्य, अनित्य, उत्तम अनुत्तम, सद् ओर असद् में अन्तर करने में सक्षम होता है और परिणामस्रूप सुख और आनन्द की प्राप्ति करता है।

अध्यात्मिक पक्ष में वरुण अन्तश्चेतना है। जब भी मनुष्य कुछ दुष्कर्म अथवा अनुचित कार्य करता है तो उसकी अन्तश्चेतना, उसकी अन्तरात्मा उसे ऐसा करने से रोकती है। वह बात दूसरी है कि वह उसे सुनता है अथवा नहीं।

टिप्पणियाँ

विदुः— √ विद्–ज्ञाने **'विदो लटो वा'** (3.4.83) से लट्लकार के अर्थ में लिट्लकार के प्रत्ययों का प्रयोग हुआ तथा **'विदन्ति'** के स्थान पर **'विदुः'** रूप बना। प्रथम पुरुष, बहुवचन।

तायत्— √ तायृ–सन्तानपालनयोः + शतृ + प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः।। 2।।

यः। तिष्ठति। चरति। यः। च। वञ्चति। यः। निऽलायम्। चरति। यः। प्रतङ्कम्। द्वौ। सम्ऽनिषद्य। यत्। मन्त्रयेते इति। राजा। तत्। वेद। वरुणः। तृतीयः।

अन्वय— यः तिष्ठति चरति च यः वञ्चति यः निऽलायम् चरति यः प्रतङ्कम्। द्वौ सम्ऽनिषद्य यत् मन्त्रयेते तत् तृतीयः राजा वरुणः वेद।

सरलार्थ— जो (यः) दुष्ट) खड़ा है (तिष्ठति) (जो) चल रहा है (चरति) और ~~(च)~~ छिपकर (निऽलायम्) दुष्टतापूर्ण कार्य कर रहा है (चरति)

जो (यः) दूसरों को आतङ्कित कर रहा है (प्रतङ्कम्)। दो मनुष्य (द्वौ) समीप बैठकर (सम्ऽनिषद्य) जो (यत्) सलाह कर रहे हैं (मन्त्रयेते) वह सब (तत्) तीसरा (तृतीयः) राजा (राजा) वरुण (वरुणः) जानता है (वेद)।

सायण भाष्य— पूर्वस्यां ऋचि एषां इत्युक्तम्। तत्र इदमा के पुनः प्रतिनिर्दिश्यन्त इति तान् 'निर्दिशाति' यस्तिष्ठिति' इति पूर्वार्धेन। यः शत्रुस्तिष्ठति अभिमुखं अवतिष्ठते यश्चरति गच्छति यश्च वञ्चति कौटिल्येन प्रतारयति यः शत्रुः निलायं निलयनेन अनिर्गमनेन चरति। यद्वा निलीनः अदृश्यः सन् चरति। अयतेर्निस्पूर्वात् णमुल। निपूर्वात् लीयतेर्वा। उभयथाऽपि समानोऽर्थः। उपसर्गस्यायतौ'। पा. 8.2. 19। इति लत्वम्। यः शत्रु प्रतङ्कं प्रकर्षेण कृच्छ्रजीवनं प्राप्य चरति वर्तते। तकि कृच्छ्रजीवने। अस्मात् प्रपूर्वात् णमुल्। एषां शत्रूणां इति पूर्वेण सम्बन्धः। अन्तिकादिव पश्यतीति यद् उक्तं तदपि समर्थयते। द्वौ संनिषद्येत्युत्तरार्धेन। द्वौ पुरुषौ रहसि संनिषद्य उपविश्य यत् कार्यं मन्त्रयेते गुप्तं, भाषेते। मत्रि गुप्तभाषणे इति धातुः। तयोर्गुप्तं भाषमाणयो तृतीयः त्रित्वसंख्यापूरकः सन् राजा वरुणः स्वसार्वज्ञेन तत् सर्वं वेद। जानातीत्यर्थः। ततश्च अकार्यचिन्तावसर एव तान् निग्रहीतुं वरुणः शक्नोतीत्यर्थः। त्रेः सम्प्रसारणं च। पा. 5.2.55। इति पूरणार्थे तीयप्रत्ययः संप्रसारणं च।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इस संसार में कोई भी कार्य अथवा वस्तु ऐसी नहीं है जो उसे ज्ञात नहीं है क्योंकि वह तो चहुँ दिशा में विद्यमान् है। संसार का कोई भी कोना ऐसा नहीं है जहाँ वह पहले से ही न पहुँचा हुआ हो। अतः कोई भी दुष्ट व्यक्ति चाहें बिना हिले-डुले स्थिर हो कर कार्य करे अथवा गतियुक्त हो कर कार्य करे, चाहें वह दूसरों के साथ छलकपटपूर्ण व्यवहार करे, चाहें वह सबकी नजर से छिप कर कार्य करे और चाहें वह दूसरों को आतङ्कित करके, डरा-धमका कर कार्य करे और चाहें वह किसी अन्य व्यक्ति के साथ चुपचाप सलाह मशवरा कर के कार्य करे, सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता वरुण सब कुछ जान जाता है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचकर कि 'मुझे तो कोई भी नहीं देख रहा' कार्य करता है तो यह उसका अज्ञान और भ्रम ही है क्योंकि सब को आवृत करने वाला वरुण अपनी दिव्य चक्षु व गुप्तचरों के द्वारा सब कुछ देख रहा है, वह सब जानता है।

सायण ने 'यः' सर्वनाम के शत्रु के लिए प्रयुक्त किया है। निलायम् के उन्होंने दो अर्थ किए हैं (1) जो शत्रु निकले बिना अपना कार्य करता है और

(2) जो छिपकर कार्य करता है।

सातवलेकर ने **निलायम्** का अर्थ '**गुप्त व्यवहार**' और '**प्रतङ्कम्**' का अर्थ '**खुला व्यवहार**' किया है अर्थात् जो गुप्त व्यवहार करता है अथवा खुला व्यवहार करता है।

श्रीकण्ठ ने '**निलायम्**' का अर्थ 'जो छिपकर सेंध इत्यादि लगाता है किया है जबकि '**प्रतङ्कम्**' का अर्थ है 'जो बेधड़क डाके इत्यादि डालता है।

आधिभौतिक पक्ष में इस मन्त्र का अर्थ है कि एक कुशल शासक को अपनी प्रजा के विषय में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए कि कौन क्या कर रहा है। यदि कोई दो व्यक्ति परस्पर मिल कर कोई योजना भी बना रहे हैं, उसकी सूचना भी राजा को तुरन्त मिल जानी चाहिए। यदि राज्य की गुप्तचर व्यवस्था उत्तम है और राजा भी कुशल शासक है तो यह सब आसान व सम्भव है। इससे यह सङ्केत भी प्राप्त होता है कि अन्तः कोप बाह्य कोष की अपेक्षा कहीं अधिक खतरनाक है।

आध्यात्मिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का भाव यह है कि मनुष्य दुष्कर्म करते समय चाहें अन्य लोगों की दृष्टि में न आ पाए परन्तु उसकी अन्तरात्मा, उसकी अन्तश्चेतना जो सदा उसके साथ रहती है, अवश्य ही उसे अनुचित कार्य करने से रोकती है परन्तु वह दुष्ट उसकी आवाज को अनसुना करके दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाता है॥

टिप्पणियाँ

निलायम्— निस् + √ अय् + णमुल प्रत्यय। सर्वप्रथम् 'निस्' का 'स्' 'र्' में परिवर्तित हुआ। फिर '**उपसर्गस्यायतौ**' 8.2.19 से 'र्' का 'ल्' बना। इस प्रकार निल् + अय् + णमुल (अम्) होने पर आदि वृद्धि होकर 'निलायम्' रूप सिद्ध हुआ।

प्रवेद— प्र + √ विद्-ज्ञाने '**विदो लटो वा**' (3.4.83) से लट्लकार के अर्थ में लिट्लकार के प्रत्ययों का प्रयोग हुआ तथा '**वेत्ति**' के स्थान पर '**वेद**' रूप बना। यह प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौ बृहती दूरे अन्ता।
इतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः।। 3।।

उत। इयम्। भूमिः। वरुणस्य। राज्ञः। उत। असौ। द्यौः। बृहती। दूरे। अन्ता।
उतो इति। समुद्रौ। वरुणस्य। कुक्षी इति। उत। अस्मिन्। अल्पे। उदके। निऽलीनः।

अन्वय— उत इयम् भूमिः इत दूरे अन्ता असौ बृहती द्यौः राज्ञः वरुणस्य उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उत अस्मिन् अल्पे उदके निलीनः।

सरलार्थ— और (उत) यह (इयम्) भूमि (भूमिः) ओर (उत) दूर तक किनारों वाला (दूरे अन्ता) वह (असौ) विशाल (बृहती) आकाश (द्यौः) राजा वरुण के हैं (राज्ञः वरुणस्य)। और (उतो) दोनों समुद्र (समुद्रौ) वरुण के (वरुणस्य) दो उदर हैं (कुक्षी) और (उत) (वह) इस (अस्मिन्) अल्प (अल्पे) जल में (उदके) छिपा है (निलीनः)।

सायण भाष्य— उत शब्दः अप्यर्थे। इयं सर्वाधिष्ठानत्वेन निहिता भूमिः अपि राज्ञः ईश्वरस्य दुष्टनिग्रहे अधिकृतस्य वरुणस्य वशे वर्तते। उत अपि च असौ विप्रकृष्टा बृहती महती दूरे विप्रकृष्टे देशे अन्ते अन्तिके च भवतीति दूरे अन्ता। यत एवं व्याप्य वर्तते अतो बृहतीति भावः। एवं रूपा द्यौश्च वरुणस्य राज्ञो वशे वर्तते। बृहती दूरे अन्तेति विशेषणद्वयं भूम्या अपि योज्यम्। अत एव दूरे अन्ते इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम्। निघं. 3.30। उतो अपि च समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ वरुणस्य राज्ञः कुक्षी दक्षिणोत्तरपार्श्वभेदेन अवस्थिते द्वे उदरे। एवं भूम्यादिकं कृत्स्नं जगद् व्याप्त वर्तमानोऽपि अस्मिन् अल्पेऽति उदके तडाक ह्रदादिगते निलीनः अन्तर्हितो भवति।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि वरुण 'ऋत' अर्थात् प्राकृतिक नियमों का भी नियामक व अधिष्ठाता देव है। यह समस्त संसार उस सर्वव्यापक वरुण के अधिकार में ही है। इस विस्तृत भूमि अर्थात् पृथ्वी लोक पर उसका ही प्रभुत्व है। दूर तक फैले हुए किनारों वाले आकाश पर भी उसका ही अधिकार है। वस्तुतः वरुण अन्तरिक्षस्थानीय देवता माना गया है अतः 'द्यौः' का अर्थ विद्वानों ने आकाश ही किया है। पूर्व और पश्चिम में विद्यमान दो विशाल समुद्र वरुण की दो कोख अर्थात् उदर हैं। इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं (1) ये दोनों समुद्र उसके लिए इतने छोटे हैं जितना कि उसका उदर (2) जिस प्रकार उदर पर मनुष्य का अपना अधिकार होता है उसी प्रकार विशाल पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों पर वरुण का ही अधिकार है। और वह इस अल्प जल में छिपा है, इसका तात्पर्य यह है कि एक तरफ विशाल जल राशि के समूह समुद्र

उसके अधिकार में हैं तो दूसरी तरफ पानी की एक छोटी सी बूँद में भी वह विद्यमान् है। महान् से महान् और अणु से अणु प्रत्येक वस्तु में उसकी सत्ता है। कठोपनिषद में भी ब्रह्म की सर्वव्यापकता 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' कह कर प्रतिपादित की गई है।

सायण ने 'बृहती दूरे अन्ता' से भूमि का अर्थ भी ग्रहण किया है 'बृहती दूरे अन्तेति विशेषणद्वयं भूम्या अपि योज्यम्'। 'अल्प जल' का अर्थ सायण ने तालाब सरोवर आदि किया है।

समुद्रों का अभिप्राय अन्य सभी विद्वानों ने पूर्वी और पश्चिमी समुद्र से लिया है केवल यास्क ने इसे पार्थिव और अन्तरिक्षीय समुद्र माना है।

अधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि दूर-दूर तक फैले हुए साम्राज्य पर भी राजा का पूर्ण नियन्त्रण, शासन व अधिकार होना चाहिए। सर्वत्र उसके द्वारा विहित नियमों का पालन किया जाना चाहिए क्योंकि नियम भङ्ग करके कोई भी सुखी और सफल नहीं हो पाता। राज्य की सुख समृद्धि में भी वृद्धि नहीं हो पाती।

आध्यात्मिक पक्ष में भूमि को शरीर, द्यौः को आत्मा, समुद्र को राष्ट्र तथा अल्प उदक को सामाजिक और पारिवारिक जीवन माना गया है। वरुण नियमों का प्रतीक है। सार रूप में शरीर, आत्मा, राष्ट्र, समाज तथा पारिवार की प्रगति केवल नियमों का पालन करने से ही हो सकती है।

टिप्पणी

निलीनः— नि + √ लीन्-श्लेषणे + क्त, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्।। 4।।

उत। यः। द्याम्। अतिऽसर्पात्। परस्तात्। न। सः। मुच्यातै। वरुणस्य। राज्ञः। दिवः। स्पशः। प्रऽचरन्ति। इदम्। अस्य। सहस्रऽअक्षाः। अति। पश्यन्ति। भूमिम्।

अन्वय— उत यः द्याम् परस्तात् अतिसर्पात् सः राज्ञः वरुणस्य न मुच्यातै। अस्य स्पशः दिवः इदम् प्रचरन्ति। सहस्राक्षाः भूमिम् अतिपश्यन्ति।

सरलार्थ— और (उत) जो कोई भी (यः) (भागकर) द्युलोक के (द्याम्) परे भी (परस्तात्) चला जाए (अतिसर्पात्) तो (भी) वह (सः) राजा

वरुण के (राज्ञः वरुणस्य) (पाशों से) नहीं छूटता (न मुच्यातै)। इसके (अस्य) गुप्तचर (स्पशः) स्वर्गलोक से लेकर (दिवः) इस (इदम्) (पृथ्वीलोक तक) घूमते हैं (प्रचरन्ति) हजारों आँखों वाले (सहस्राक्षाः) भूमि को (भूमिम्) अच्छी प्रकार से देखते हैं (अति पश्यन्ति)।

सायण भाष्य— उत अपि च यः शत्रुः अनर्थकारी अस्माकं पुरस्तात् द्याम् अन्तरिक्षप्रदेशम् अतिसर्पात् अतिक्रम्य सर्पेद् गच्छेत् यद्वा सुकृतप्राप्यं द्यां स्वर्गम् अतिक्रम्य अपथे प्रवर्तेतेत्यर्थः। स शत्रुः वरुणस्य राज्ञः पाशेभ्यो न मुच्यातै न मुच्येत्। तैर्बद्ध एव वर्तताम् इत्यर्थः। मुचेः कर्मणि लेटि आडागमः। वैतोन्यत्र। पा. 3.9.96। इति ऐकारः। कथं द्युलोकस्थो वरुणः मनुष्यकृतमपराधं जानातीति तत्राह-दिवः स्पशः इति द्विवः द्युलोकान्निर्गताः अस्य वरुणस्य स्पशः चरा इदं पार्थिवं स्थानं प्रचरन्ति प्राप्य सञ्चरन्ति। ते च सहस्राक्षाः सहस्रसङ्ख्याकैः दर्शनोपायैर्युक्ताः सन्तः भूमिं अति पश्यन्ति। भूलोकवृत्तान्तं सर्वम् अतिशयेन साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि वरुण के नियम अत्यन्त दृढ़ हैं अतः यदि कोई यह सोचे कि अपराध करके वह बहुत दूर चला जाएगा और वरुण की नजर से बच जाएगा तो यह उसका भ्रम ही है। वह भागकर चाहें द्युलोक से परे भी क्यों न चला जाए तब भी वह सर्वव्यापी और अन्तर्दृष्टि रखने वाले वरुण से छिप नहीं सकता। वह जहाँ भी जाएगा वरुण तो वहाँ पहले से ही विद्यमान होगा। जो कुछ भी अपराध उसने किया है उसका फल तो उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। उपनिषदों में भी कहा गया है—**'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'** अर्थात् बिना भोगे हुए तो कर्म सौ करोड़ कल्पों में भी नष्ट नहीं होता। वरुण के असंख्य गुप्तचर सर्वत्र सजग सावधान होकर घूमते रहते हैं, सबको भली-भाँति देखते हैं और पापी का पता वे लगा ही लेते हैं।

वरुण के गुप्तचरों का उल्लेख वैदिक साहित्य में अनेकशः हुआ है **'परिस्पशो निषेदिरे'** (ऋग्वेद 1.25.13) ये गुप्तचर अपराधियों के विषय में वरुण को सूचना देते रहते हैं। फलतः वरुण उनके अपराध के अनुरूप उन्हें पाशों से बाँधकर दण्ड देता है।

सायण ने द्याम् का अर्थ अन्तरिक्ष किया है और **अतिसर्पात् परस्तात्** का अर्थ 'सुकृत से प्राप्त स्वर्ग लोक को भी पार करके चला जाए' किया है।

आधिभौतिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ यही है कि एक राजा की

शासन व्यवस्था और गुप्तचर व्यवस्था ऐसी हो कि यदि कोई अपराध करके, सबकी नजर बचाकर राज्य से भाग जाना चाहता है तो सब पर कड़ी नजर रखने वाले राजा के गुप्तचर उसे पकड़ कर राजा के सम्मुख लाएँ ताकि अपराधानुरूप उसे दण्ड दिया जा सके। शास्त्रों में लिखा है कि राज्य में कोई भी अपराधी अदण्डित नहीं बचना चाहिए—

अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति।।

आध्यात्मिक पक्ष में इस का अर्थ है कि मनुष्य जब कोई दुष्कर्म करता है तो उसके प्रभाव से वह स्वयं भी नहीं बच पाता। उसकी अन्तःचेतना और अन्तरात्मा उसके अपराध का बोध उसे करवाती रहती हैं। किसी अन्य के द्वारा दण्डित न होने पर भी अपराधबोध की भावना से ग्रसित वह निरन्तर कुण्ठा से युक्त रहता है। यही उसका दण्ड है।

टिप्पणियाँ

अति सर्पात् परस्तात्— **सायण** ने इसके दो अर्थ किए हैं :

(1) अपराधी चाहें स्वर्ग से भी परे चला जाए।

(2) जो अच्छे कार्य द्वारा प्राप्य स्वर्ग को छोड़कर कुपथगामी हो जाए। अति + √ सृप्-सर्पणे, लेट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। यहाँ **'लेटोऽडाटौ'** से आट् आया तथा **'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु'** से तिप् के 'इ' का लोप हो गया।

मुच्यातै— √ मुच्-मोचने + कर्मवाच्य, आत्मनेपद, लेट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। कर्मवाच्य के कारण 'य' का आगम हुआ। **'लेटोऽडाटौ'** से आट् आया तथा **'वैतोऽन्यत्र'** से 'ए' के स्थान पर 'ऐ' आदेश हुआ।

सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
सङ्ख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि।। 5।।

सर्वम्। तत्। राजा। वरुणः। वि। चष्टे। यत्। अन्तरा। रोदसी इति। यत्। परस्तात्। सम्ऽख्याताः। अस्य। निऽमिषः। जनानाम्। अक्षान्ऽइव। श्वऽघ्नी। नि। मिनोति। तानि।

अन्वय— राजा वरुणः तत् सर्वम् विचष्टे यद् रोदसी अन्तरा यत् परस्तात् जनानां निमिषः अस्य सङ्ख्याताः श्वघ्नि अक्षान् इव तानि नि मिनोति।

सरलार्थ— राजा वरुण (राजा वरुणः) वह (तत्) सब (सर्वम्) विशेष

रूप से (वि) देखता है (चष्टे) जो (यद्) पृथ्वीलोक और द्युलोक के (रोदसी) मध्य है (अन्तरा) (और) जो (यत्) उससे भी परे है (परस्तात्)। प्राणियों के (जनानाम्) निमेष (निमिषः) इसके (अस्य) गिने हुए हैं (सङ्ख्याताः) जुआरी के (श्वघ्नी) पासों के (अक्षान्) समान (इव) उनको अर्थात् कर्मफलों को (तानि) नियमित करता है (नि मिनोति)।

सायण भाष्य— रोदसी अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये यत् प्राणिजातं वर्तते तथा पुरस्तात् स्वस्य पुरोभागे यत् प्राणिजातं अस्ति तत् सर्वं वरुणो राजा वि चष्टे विशेषेण पश्यति। तस्मात् तेषां जनानां प्राणिनां निमिषः निमेषणव्यापारस्य उपलक्षणम् एतत्। अक्षिपरिस्पन्दोषलक्षितस्य अस्य साध्वसाधुकर्मणः संख्याता परिमाणयिता वरुणः तानि पापिनां शिक्षाकर्माणि तत्तत्पापानुसारेण नि मिनोति निक्षिपति। डुमिञ् प्रक्षेपणे। तत्र दृष्टान्तःअक्षानिव इति। श्वघ्नी स्वम् आत्मानं स्वकीयं धनं च हन्तीति कितवः स्वघ्नी। तथा च यास्कः-**श्वघ्नी कितवो भवति। स्वं हन्ति। नि. 5.22।** इति। यथा कितवः अक्षान् आत्मनो जयार्थं निक्षिपति तद्वद् इत्यर्थः।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मंत्र में वरुण की सर्वव्यापकता ओर सर्वज्ञता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वरुण केवल उस सबको ही नहीं देखता, केवल उस सब को ही नहीं जानता जो इस द्युलोक से लेकर पृथ्वी लोक तक होता है अपितु उसे भी देखता है और उसके विषय में भी जानता है जो इन लोकों से भी परे होता है। एक प्राणी की पलक झपकने की क्रिया को भी गिन कर वह रखता है अर्थात् उसे पता है कि कौनसा प्राणी कितनी बार पलक झपक चुका है और कितनी बार उसे पलक और झपकानी है। तात्पर्य यह है कि उसकी कितनी आयु व्यतीत हो चुकी है और कितनी शेष है। वरुण को आयु प्रदान करने वाला भी कहा गया है—**'प्र ण आयूंषि तारिषत्'। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जब पलक झपकने जैसी सूक्ष्म क्रिया का ज्ञान भी उसे है तो बड़ी क्रियाओं का तो कहना ही क्या।** उनके विषय में ज्ञान होना तो बिल्कुल भी विस्मयास्पद नहीं है।

जिस प्रकार जुआरी जुए के पासों को बहुत सोच विचार कर, सुव्यवस्थित करके द्यूतपटल पर फेंकता है, उसी प्रकार वरुण भी प्राणियों को उनके कर्मों का फल बहुत सोच विचार कर ही देता है। अच्छे कर्मों का शुभ और बुरे कर्मों का अशुभ फल प्राप्त होना निश्चित है।

सायण ने **'परस्तात्'** के स्थान पर **'पुरस्तात्'** पाठ मानकर अर्थ किया है **'अपने सामने'**। उन्होंने **'सङ्ख्याता'** को बिना विसर्गों के प्रथमा एकवचन में

वरुण का विशेषण मानकर और **'निमिषः'** को षष्ठी एकवचन मान कर अर्थ किया **'वह पलक झपकने जितने छोटे से भी साधु ओर असाधु कर्म का परिगणयिता होकर पापियों को उनके पाप के अनुसार फल देता है'**।

'श्वघ्नी' का निर्वचन सायण ने इस प्रकार किया है— **'स्वम् आत्मानं स्वकीयं धनं च हन्ति'** जो अपने को और अपने धन को नष्ट करता है।

यास्क ने भी कहा है— **श्वघ्नी कितवो भवति** (निरुक्त, 5.22)

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि एक शासक को केवल अपने ही राज्य के विषय में पता होना पर्याप्त नहीं है। उसे पड़ौसी देशों के विषय में भी पूर्ण जानकारी होनी चाहिए क्योंकि उसका राज्य उन देशों की गतिविधियों से भी प्रभावित होता है। उसके गुप्तचर विभाग को प्रजा द्वारा किए गए छोटे से छोटे कार्य का भी ज्ञान होना चाहिए चाहें वह कार्य राष्ट्र हित में हो अथवा राष्ट्र अहित में। राष्ट्र हित करने वालों को पुरस्कृत तथा राष्ट्र अहित करने वालों को दण्डित करना आवश्यक है। इसी से राज्य में सुव्यवस्था व अनुशासन बना रहता है। परन्तु पुरस्कार तथा दण्ड दोनों ही किए गए कार्य के अनुरूप होने चाहिए। न जरा भी ज्यादा और न जरा भी कम। रघुवंशी राजाओं द्वारा यथापराध दण्ड दिया जाना उनका गुण था **'यथापराधदण्डानाम्'** (रघुवंश 1.6)।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि मनुष्य कोई भी अपराध करके अन्य व्यक्तियों की आँख में धूल झोंक कर चाहें कितनी भी दूर भाग जाए परन्तु अपने आप से वह दूर नहीं भाग पाता। उसकी अन्तश्चेतना उसे धिक्कारती रहती है व बार-बार अपराधबोध से ग्रस्त करवाती रहती है। आत्मग्लानि से युक्त हुआ वह नैराश्यपूर्ण एवं कुण्ठित जीवन व्यतीत करता है। उसकी अन्तरात्मा उसके द्वारा किए गए छोटे से छोटे कार्य की भी साक्षी है।

टिप्पणियाँ

रोदसी— 'रोदसी' स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक को कहते हैं। सायण के अनुसार प्रजापति इन दोनों के बीच रोया था अथवा उसने इन दोनों के बीच क्रन्दन किया था। इसी कारण इन दोनों लोकों को रोदसी अथवा क्रन्दसी कहा जाता है— **'रोदितवान् क्रन्दितवान् अनयोः प्रजापतिरिति'**। तैतरीय ब्राह्मण में भी कहा गया है **'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्'** (तैतरीय ब्राह्मण 2.2.9.4) वस्तुतः हिरण्यगर्भ जब दो भागों में विभक्त हुआ तो उसके टूटने से जो चरमराहट की

आवाज हुई वही प्रजापति का रोदन अथवा क्रन्दन कहलाया।

निमिषः— निमिष् + अच्, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

निमिनोति— नि + √ मि + श्नु विकरण + लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन।

ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।।। 6।।

ये। ते। पाशाः। वरुण। सप्तऽसप्त। त्रेधा। तिष्ठन्ति। विऽसिताः। रुशन्तः।
छिनन्तु। सर्वे। अनृतम्। वदन्तम्। यः। सत्यऽवादी। अति। तम्। सृजन्तु।।

अन्वय— वरुण ये त्रेधा विऽसिताः रुशन्तः ते सप्तऽसप्त पाशाः तिष्ठन्ति सर्वे अनृतम् वदन्तम् छिनन्तु यः सत्यऽवादी तम् अति सृजन्तु।

सरलार्थ— हे वरुण (वरुण) जो (ये) तीन प्रकार के (त्रेधा) बँधे हुए (विऽसिताः) हिंसा करने वाले (रुशन्तः) तुम्हारे (ते) सात सात (सप्तऽसप्त) फंदे (पाशाः) विद्यमान हैं (तिष्ठन्ति) (वे) सब (सर्वे) झूठ (अनृतम्) बोलने वाले को (वदन्तम्) नष्ट कर दें (छिनन्तु) (और) जो (यः) सच बोलने वाला है (सत्यवादी) उसे (तम्) मुक्त कर दें (अति सृजन्तु)।

सायण भाष्य— हे वरुण ये ते त्वदीयाः पाशाः सप्त सप्त उत्तममध्यमाधमभेदेन प्रत्येकं त्रेधा त्रिप्रकारं विसिताः तत्र तत्र पापिनां निग्रहाय जालवद् बद्धाः। एतच्च त्रैविध्यम् 'उदुतमं वरुण। ऋ. 1.24.15। इति मन्त्रान्तरादप्यवसितम्। रुशन्तः तत्तत्पापानुसारेण पापिष्ठान् हिंसन्तः तिष्ठन्ति सर्वे ते ते पाशाः अनृतं वदन्तं पापकृतं अस्मदीयं शत्रुं छिनन्तु छिन्दन्तु। यस्तु सत्यवादी सत्यवदनशीलः पुण्यकृत तं अति सृजन्तु विमुञ्चन्तु।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन किया गया है कि वरुण के सात-सात फंदे हैं जो मनुष्य को ऊपर से, मध्य भाग से और नीचे से बाँधते हैं और उनकी हिंसा करते हैं अर्थात् कष्ट पहुँचाते हैं। वरुण के उत्तम, मध्यमं ओर अधम पाशें का उल्लेख अन्यत्र भी है—

उदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं चृत।
अवाधमानि जीवसे।। (ऋग्वेद 1.25.21)

झूठ बोलने वाले मनुष्य को ये पासे जो सात-सात की संख्या में ऊपर,

बीच में और नीचे बँधे हुए हैं, नष्ट कर दें परन्तु जो मनुष्य सच बोलने वाला है उसे छोड़ दें। संस्कृत वाङ्मय में सत्य का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है—**'मन वचन और कर्म की अकुटिलता ही सत्य है'**। जो मनुष्य मनसा, वाचा कर्मणा अकुटिल है, किसी की भावनाओं को आहत नहीं करता, वही सच बोलने वाला है।

आधिभौतिक पक्ष में इस मन्त्र का अर्थ है कि कुशल शासक अपने गुप्तचरों द्वारा समस्त प्रजा के क्रियाकलापों तथा गतिविधियों की जानकारी रखे। जो झूठ बोलने वाले हैं अर्थात् पापयुक्त दुष्कर्म करते हैं उन्हें वह समुचित दण्ड दे और जो राष्ट्रहित में तत्पर होकर शुभ और श्रेष्ठ कार्य करते हैं उन्हें उचित पुरस्कार दे। तभी शासन व्यवस्था सुव्यवस्थित रहती है।

आध्यात्मिक पक्ष में ऊपर अर्थात् मुखमण्डल पर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात पाश हैं। बीच में अर्थात् कबन्धनामक मध्य भाग में दो हाथ, दो फेफड़े यकृत, हृदय और प्लीहा (तिल्ली) ये सात पासे हैं तथा नीचे पुनः दो पैर, दो गुर्दे, मलेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय ओर प्रजननेन्द्रिय ये सात पासे हैं। ये पासे अपनी मोहमाया में हमें बाँधे रखते हैं। दुष्कर्मी तो नीचे गर्त में गिर जाते हैं परन्तु सुकृत् इन पासों की पकड़ से, मुक्त होकर उत्तम फल को प्राप्त करते हैं **'सुकृत्तमा मधुरं भक्षमाशत्'** तथा **'सत्यमेव जयते नानृतम्'**।

टिप्पणियाँ

त्रेधा तिष्ठन्ति— पाशें तीन प्रकार से स्थित हैं। इसकी व्याख्या कुछ विद्वानों ने उत्तम, मध्यम तथा अधम पाश की है। उत्तम पाश आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी है, मध्यम पाश विज्ञानमयमनोमय प्राणमयशरीर सम्बन्धी है तो अधम पाश अन्नमयशरीरसम्बन्धी पाश है।

अथवा ये **पाश तीन ऋण** हैं— देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋण अथवा ये **व्यक्ति, समाज ओर राष्ट्र के सम्बन्ध में किए गए दोषों के सूचक हैं।**

अति सृजन्तु— अति + √ सृज्-विसर्गे, लोट्लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। **'व्यवहिताश्च'** सूत्र से धातु और उपसर्ग के मध्य व्यवधान है।

पाशाः— √ पश्-बाधनस्पर्शनयोः, बन्धने + घञ्, प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

विशिताः— वि + √ षिञ्-बन्धने + क्त, प्रथमा विभक्ति बहुवचन,

पुल्लिङ्ग। इसका अर्थ है '**विशेषेण बद्धाः**' अथवा '**विविधं बद्धाः**'।

रुशन्तः— √ रुश्-हिंसायाम् + शतृ + प्रथमा विभक्ति, बहुवचन, पुल्लिङ्ग।

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोशं इवाबन्धः परिकृत्यमानः।। 7।।

शतेन। पाशैः। अभि। धेहि। वरुण। एनम्। मा। ते। मोचि। अनृतऽवाक्। नृचक्षः। आस्ताम्। जाल्मः। उदरम्। श्रंशयित्वा। कोशःऽइव। अबन्धः। परिऽकृत्यमानः।।

अन्वय— वरुण एनम् शतेन पाशैः अभि धेहि नृचक्षसः ते अनृतवाक् मा मोचि। जाल्मः उदरम् श्रंशयित्वा आस्ताम् इव अबन्धः परिकृत्यमानः कोशः।

सरलार्थ— हे वरुण (वरुण) इस (असत्य बोलने वाले को) (एनम्) सौ (शतेन) पासों से (पाशैः) बाँध दो (अभि धेहि) मनुष्यों को देखने वाले (नृचक्षसः) तुमसे (ते) झूठ बोलने वाला (अनृतवाक्) मुक्त न हो (मा मोचि)। (वह) घातक (जाल्मः) अपने पेट को (उदरम्) शिथिल करके (श्रंशयित्वा) बैठा रहे (आस्ताम्) जैसे (इव) कोई बन्धनरहित (अबन्धः) काटा जाता हुआ (परिकृत्यमानः) कोश (कोशः)।

सायण भाष्य— हे वरुण शतेन शतसङ्ख्याकैस्त्वदीयैः पाशैः एनं अनृतवादिनं शत्रुं अभि धेहि बधान। बद्ध्वा निगृहाणेत्यर्थः। अभिपूर्वो दधातिर्बन्धते वर्तते यथा अश्वामिधानीम् आ दत्ते। तै. 5.1.2.1 इति। हे नृचक्षः नृणां मनुष्याणां साध्वसाधुचरित्राणां विवेकेन द्रष्टः। चक्षिङः असुनि 'असनयोश्च'। पा. 2.4.54। इति ख्याञादेशाभावः। ईदृश हे वरुण अनृतवाक् अनृतं ब्रुवन् पुरुषः ते त्वत्तः मा मोचि विमुक्तो विसृष्टो मा भूत्। किं तु जाल्मः असमीक्ष्यकारी स्वकीयम् उदरं स्रंसयित्वा जलोदररोगेण स्रस्तं कृत्वा अबन्धः बन्धरहितः प्रान्तेषु अकृतबन्धनः असेः कोश इव परिकृत्यमानः आस्ताम् त्वत्पाशे बद्ध एव वर्तताम्। अत एवान्यत्राम्नातम्—'अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति'। तै.ब्रा. 1.7.2.6। इति। परिकृत्यमान इति। कृती छेदने। अस्मात् कर्मणि यक्।

स्पष्टीकरण— प्रस्तुत मन्त्र में सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी वरुण से प्रार्थना की गई है कि वह सबको जानता है अतः जो भी झूठ बोलता है वह उसे अपने असंख्य पाशों से बाँध ले।

'झूठ बोलना' सम्भवतः सब पापकर्मों का उपलक्षण है। यहाँ 'शतेन पाशैः'

असंख्य का उपलक्षण है। वह सभी मनुष्यों को देखने वाला है अतः उससे प्रार्थना की गई है कि कोई भी मिथ्यावादी उसकी नजर से बच न पाए। उसे तो दण्ड अवश्य मिलना ही चाहिए। तैतरीय ब्राह्मण में भी कहा गया है– **अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति'**। (तैतरीय ब्राह्मण !.7.2.6)। पापकर्म करने वाला वह व्यक्ति घातक उदररोग से पीड़ित हो कर बैठा रहे, कुछ कार्य करने में समर्थ न हो जिस प्रकार चमड़े के मशक इत्यादि से जिसे चारों तरफ से काटा जा रहा हो पानी निकल जाने पर,उसके शिथिल हो जाने पर वह किसी काम का नहीं रह जाता। यहाँ 'उदररोग' कुछ विद्वानों ने जलोदर रोग माना है जिसमें पेट में जल भर जाता है ओर व्यक्ति कुछ भी कर पाने में असमर्थ हो जाता है।

परन्तु यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि जलोदर रोग में तो उदर में पानी भर जाने से वह अत्यधिक सख्त हो जाता है जबकि चर्म के पात्र मशक की जो उपमा दी गई है, वह पानी से रहित है। अतः उदर रोग कोई ऐसा रोग होगा जिसमें उदरका सारा पानी निकल जाता होगा। और वह बहुत शिथिल हो जाता होगा। सम्भवतः यह वर्तमान युग का Dehydration हो।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि यदि कोई मनुष्य राजद्रोह करता है अथवा अन्य पापयुक्त अपराध करता है तो राजा को उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए जिससे वह कुछ भी कर पाने में असमर्थ हो जाए। यहाँ सम्भवतः उस दण्ड की तरफ सङ्केत है जिसके अनुसार मनुष्य जिस अङ्ग से अपराध करता था उसका वही अङ्ग कटवा दिया जाता था। अङ्गभङ्गविकल वह भविष्य में कुछ करने के योग्य ही नहीं रह जाता था।

आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है कि मनुष्य की अन्तश्चेतना व अन्तरात्मा उसे दुष्कर्म करने से रोकती है परन्तु वह उसकी आवाज न सुनता हुआ मनमानी करता है। परिणाम यह होता है कि उसकी अन्तरात्मा उसे पग-पग पर धिक्कारती रहती है। अन्तश्चेतना रूपी पाशों से वह स्वयं को बँधा हुआ अनुभव करता है। उसका आत्मविश्वास समाप्त हो जाता है। वह सदा इस बात से आशङ्कित रहता है कि कहीं वह पकड़ा न जाए, कहीं उसके द्वारा किया गया अनुचित कार्य किसी को पता न चल जाए। इस प्रकार अपराधभावना से ग्रस्त हुआ भयभीत सा वह इधर-उधर घूमता रहता है।

टिप्पणियाँ

नृचक्षः— नृ + √ चक्षिङ् + असुन् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन,

पुल्लिङ्ग।

मा मोचि— मा + √ मुच् + कर्मवाच्य, लुङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। 'न माङ्योगे' से अट् का निषेध हुआ।

जाल्मः— सायण ने इसका अर्थ 'असमीक्ष्यकारी' किया है।

विहट्नी ने इसका अर्थ दुष्ट किया है।

कोशः— कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ चमड़े का पात्र 'मशक' किया है। सायण ने इसका अर्थ 'तलवार की म्यान' किया है जिसके किनारे बन्धनरहित है और जो अधिक काटती जाती है। उदर के प्रसङ्ग में यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

विहट्नी ने इसका अर्थ 'पात्र' किया है तो ग्रिफिथ ने इसका अर्थ लकड़ी का पात्र किया है जो रस्सियों इत्यादि से बँधा हो और द्रव्य रखने के लिए प्रयुक्त होता हो।

परिकृत्यमानः— परि + √ कृती-छेदने, कर्मवाच्य + शानच्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, पुल्लिङ्ग।

श्रंशयित्वा— √ स्रंस्-अवस्रंसने + क्त्वा । सम्भवतः 'स्' ही श् में परिवर्तित हो गया अथवा पहले यह 'श्' ही रहा होगा और परवर्तीकाल में 'स्' हो गया होगा।

यः स॒मा॒म्यो॒ ३ वरु॑णो॒ यो व्या॒म्यो॒ ३ यः स॒न्दे॒श्यो॒ ३ वरु॑णो॒ यो वि॒दे॒श्यः।
यो दै॒वो वरु॑णो॒ यश्च॒ मानु॑षः।। 8।।

यः। स॒म्ऽआम्यः। वरु॑णः। यः। विऽआ॒म्यः। यः। स॒म्ऽदे॒श्यः। वरुणः। यः। विऽदे॒श्यः।
यः। दै॒वः। वरु॑णः यः। च॒। मानु॑षः।

अवन्य— वरुणः यः समाम्यः यः व्याम्यः वरुणः यः सन्देश्यः यः विदेश्यः वरुणः यः दैवः च यः मानुषः।

सरलार्थ— वरुण सम्बन्धी (वरुणः) जो (यः) (पाश) समाम्य है (समाम्यः) जो (यः) व्याम्य है (व्याम्यः) वरुण सम्बन्धी (वरुणः) जो (यः) (पाश) सन्देश्य है (सन्देश्यः) जो (यः) विदेश्य है (विदेश्यः) वरुण सम्बन्धी (वरुणः) जो (यः) (पाश) दैव हे (दैवः) और (च) जो (यः) मानुष है (मानुषः) (उन सब पाशों से मैं तुम्हें बाँधता हूँ।)

सायण भाष्य— (8वाँ, 9वाँ मन्त्र) समानं आमयति व्याधितो भवति पुरुषोऽनेनेति समाम्यः। ईदृशो यो वरुणः। लुप्ततद्धितोऽयं निर्देशः। वारुणः। पाश इत्यर्थः। विगमनेन विविधं वा अमयति पुरुषोऽनेनाति व्याम्यो यः पाशः। तथा यो वरुणसम्बन्धी पाशः सन्देश्यः समानदेशे भवः यश्च विदेश्यः विदेशे भवः यश्च वरुणः वरुणसम्बन्धी पाशो दैवः देवेषु भवः यश्च वरुणपाशो मानुषः मनुष्येषु प्रयुक्तः। तैस्त्वा सर्वैः इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्ध।। असौ इत्यस्य स्थाने सम्बुदध्या शत्रुनामग्रहणम्। आमुष्यायणेति गोत्रतो निर्देशः। अमुष्याः। पुत्रेति अदः शब्स्थाने मातृनामनिर्देशः तद् अयं अर्थः-हे देवदत्तायाः पुत्र गार्ग्यं यज्ञशर्मन् त्वा त्वां तैः पूर्वस्याम् ऋषि उक्तैः सर्वैः पाशैः अभिष्यामि अभिदधामि। बध्नामीत्यर्थः। तथा हे शत्रो ते तुभ्यं तान् सर्वान् पाशान् अनुलक्ष्यीकृत्य सन्दिशामि संप्रयच्छामि।

स्पष्टीकरण— सायण, सातवलेकर आदि विद्वानों ने प्रस्तुत मन्त्र का सम्बन्ध अगले मन्त्र से स्थापित किया है जिसमें कहा गया है कि मैं तुझे इन सब पाशों से बाँधता हूँ जो इस प्रकार के हैं। सायण ने इस मन्त्र में वरुण को लुप्ततद्धित मानकर इसका अर्थ **'वारुणः'** **(वरुण सम्बन्धी पाश)** किया है। **'समाम्य' वह पाश है जिससे मनुष्य के सारे शरीर में समान रूप से रोग होता है,** 'समानम् आमयति व्याधितो भवति पुरुषोऽनेनेति'। **'व्याम्यः' वह पाश है जिससे मनुष्य विविध प्रकार से रोगी होता है विविधं आमयति पुरुषोऽनेनेति। 'सन्देश्य'** का अर्थ है **'समान देश में'** तथा **'विदेश्य' का अर्थ है 'वरुण का जो पाश विदेश में सक्रिय है।** देवताओं के लिए प्रयुक्त होने वाला पाश **दैव पाश** है तो मनुष्यों को दण्ड देने के लिए प्रयुक्त होने वाला पाश **मानुष पाश है। 'तैस्त्वा सर्वैः'** यह पद अगले मन्त्र में है। उन सब पाशों से जिनका इस मन्त्र में उल्लेख है मैं अमुक वंश में उत्पन्न को बाँधता हूँ।

परन्तु कुछ अन्य विद्वानों ने इस मन्त्र का सम्बन्ध इससे पूर्व मन्त्र से माना है। पूर्व मन्त्र में उनके अनुसार यह कहा गया था कि वरुण किसी भी मिथ्यावादी को अपने पाशों से मुक्त नहीं करता। उनके अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में बतलाया गया है कि वरुण किस प्रकार का है। उनके अनुसार इस मन्त्र का अर्थ है जो **वरुण संगत है, जो (पदार्थों से) वियुक्त है, जो एक समान देश में रहने वाला है, जो विदेश में (भी) रहने वाला है, जो देवसम्बन्धी है और जो मनुष्य सम्बन्धी है'।**

अनावृष्टि, अत्यावृष्टि, भूकम्प इत्यादि दैवागत दुःख है तथा चौरादि भय

मानुष दुःख है।

इन विद्वानों के अनुसार वरुण सर्वव्यापक व सर्वज्ञ है अतः उसमें सब पदार्थ आकर मिलते हैं (समाम्यः) तथा उसमें से ही वे सब पदार्थ निकलते भी है। (व्याम्यः) जो हमारे साथ-साथ रहता है (सन्देश्यः) जो अन्यत्र दूर के स्थानों पर भी रहता है (विदेश्यः) जो अपने अलौकिक दिव्य-गुणों से तो युक्त है ही (दैवः) परन्तु जो मनुष्य सम्बन्धी भी है अर्थात् मनुष्य के सब कार्यों का संचालक भी है (मानुषः)।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' यह सृष्टि का शाश्वत नियम है। यदि यह नियम न हो तो सर्वत्र अराजकता, अस्तव्यस्तता, अनुशासनहीनता, अव्यवस्था व उच्छ्रंखलता का साम्राज्य हो जाएगा। मनुष्य का यह विश्वास कि अच्छे कर्म से अच्छा फल और बुरे कर्म से बुरा फल मिलता है, उसे शुभ कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ है कि नियमों का उल्लङ्घन करने वाला मनुष्य सदा ही दुःखी रहता है क्योंकि या तो राजा द्वारा पहले ही दण्डित किया जा चुका होता है अथवा दण्डित होने की आशङ्का से सर्वदा भयभीत रहता है। मानसिक रूप से अशान्त मनुष्य शरीर से भी स्वस्थ नहीं रहता क्योंकि मन और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आध्यात्मिक पक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ है कि जब मनुष्य अनुचित कार्य करता है तो उस का मन अनेक विकारों से युक्त होकर अशान्त हो जाता है। ये मानसिक आधियाँ व्याधियों में परिणत हो जाती हैं। समस्त व्याधियों का मूलभूत कारण मनोविकार ही हैं। समाम्य का अर्थ शरीर और मन को व्याप्त करने वाले रोग हैं। व्याम्य शरीर और मन से उत्पन्न विशिष्ट रोग हैं। सन्देश्य पश्चाताप जनित दुःख है और विदेश्य विपरीतपरिस्थिति जनित दुःख हैं। अतः मनुष्य को प्रिय ओर ऋत का पालन करने वाला होना चाहिए।

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि।। 9।।

तैः। त्वा। सर्वैः। अभि। स्यामि। पाशैः। असौ।
आमुष्यायण। अमुष्याः। पुत्र। तान्। ॐ इति। ते। सर्वान्। अनुऽसम्ऽदिशामि।

अन्वय— असौ आमुष्यायण आमुष्या पुत्र त्वा तैः सर्वैः पाशैः अभिष्यामि। तान् सर्वान् उ ते सन्दिशामि।

सरलार्थ— अमुक गोत्र के (असौ आमुष्यायण) अमुक माता के (अमुष्याः) पुत्र (पुत्र) तुमको (त्वा) उन सब (तैः सर्वैः) पाशों से (पाशैः) बाँधता हूँ (अभिष्यामि) उन सब को (तान् सर्वान्) तेरे लिए (ते) लक्ष्य करके देता हूँ (अनुसन्दिशामि)

सायण भाष्य— इसका सायण भाष्य 8वें मन्त्र के साथ है।

स्पष्टीकरण— सायण के अनुसार यहाँ वे सब पाशे हैं जिनका उल्लेख पूर्वोक्त मन्त्र में हुआ है। जो शरीर में समान रूप से रोग उत्पन्न करते हैं (समाम्य) जो शरीर में विविध रूप से रोग उत्पन्न करते हैं (व्याम्य) जो अपने देश में सक्रिय हैं (सन्देश्य) और जो विदेश में सक्रिय हैं (विदेश्य) जो देवताओं के लिए प्रयुक्त होते हैं (दैव) तथा जो मनुष्यों के लिए प्रयुक्त होते हैं (मानुष)।

प्रस्तुत मन्त्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य को उसके कार्य का फल अवश्य मिलता है। भारतीय दर्शन का यही कर्म सिद्धान्त मनुष्य को शुभ और श्रेष्ठ कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। जो मनुष्य पापयुक्त दुष्कर्म करता है उसे सर्वव्यापी, नियमों का पालक, न्यायप्रिय, कठोर अनुशासन में विश्वास रखने वाला अन्तर्यामी वरुण अपने विभिन्न प्रकार के पाशों से बाँधकर दण्ड अवश्य देता है।

टिप्पणियाँ

अमुष्यायण— **सायण** ने इसका अर्थ **'अमुक गोत्र का'** किया है। जबकि सातवलेकर ने **'अमुक पिता के पुत्र'** यह अर्थ किया है।

त्वा— यहाँ त्वाम् रूप होना चाहिए था परन्तु वेद में **'सुपां सुलुक्'** इत्यादि सूत्र से द्वितीया विभक्ति एकवचन के स्थान पर **'डा'** का आदेश हो गया।

卐 卐 卐

सूत्र सूची

रथाद्यत् - 4.3.121
लटः शतृशानचावप्रथमा समानाधिकरणे - 3.2.124
लिङर्थे लेट् - 3.4.47
लिङ्निमित्ते लृङ् - 3.3.139
लिटः कानज्वा - 3.2.106
लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः - 6.4.71
लुङि च - 2.4.43
लृटः सद्वा - 3.3.14
लेटोऽडाटौ - 3.4.94
लोपस्त आत्मनेपदेषु - 7.1.41
वर्तमाने लट् - 3.2.121
वच उम - 7.4.20
वधेश्चित्तविकारे (वर्तिक)
व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राज्छषां षः - 8.2.36
वा छन्दसि - 3.4.88 तथा 6.1.106
विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् - 3.3.161
विड्वनोरनुनासिक स्यात् - 6.4.41
विदो लटो वा - 3.4.83
विभाषा परावराभ्याम् - 5.3.29
विशाखयोश्च - 1.2.62
व्रीह्यादिभ्यश्च - 5.2.116
वेः पादविहरणे - 1.3.41
वैतोऽन्यत्र - 3.4.96
व्यत्ययो बहुलम् - 3.1.85
व्यवहिताश्च - 1.4.82
शकि णमुल्कमुलौ - 3.4.12
शल इगुपधादनिंटः क्सः - 3.1.45
शीङः सार्वधातुके - 7.4.21
शीर्षंच्छन्दसि - 6.1.60
श्रीग्रामण्योश्छन्दसि - 7.1.56
शेश्छन्दसि बहुलम् - 6.1.70

श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि - 6.4.102
षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा - 1.4.9
स उत्तमस्य - 3.4.98
संख्या - 6.2.35
संख्या सु पूर्वस्य - 5.4.140
समः समि - 6.3.93
समः सुटि - 8.3.5
समानकर्तृकयोः पूर्वकाले 3.4.21
समानकर्तृकेषु तुमुन् - 3.3.158
समासस्य - 6.1.223
समाहारः स्वरितः - 1.2.31
समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् - 7.1.37
समोगमृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः - 3.1.29
सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च - 3.1.56
सार्वधातुकमपित् - 1.2.4
सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु - 7.2.16
सिध्यतेरपारलौकिके - 6.1.49
सिब्बहुलं लेटि - 3.1.34
सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः (वार्तिक)
सुप आत्मनः क्यच् - 3.1.8
सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः - 7.1.39
सृपितृदोः कसुन् - 3.4.17
सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छल्ये - 3.2.78
सेर्ह्यपिच्च - 3.4.87
सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् - 6.1.134
स्यतासी लृलुटोः - 3.1.33
स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् - 1.2.39
हुश्नुवोः सार्वधातुके - 6.4.87
हृग्रहोर्भश्छन्दसि (वार्तिक)
हेतु हेतुमतोर्लिङ् - 3.3.156

उणादि सूत्र

卐 卐 卐

पदपाठ के नियम

संहिता पाठ को पद पाठ में परिवर्तित करते समय कुछ प्रमुख नियम निम्नलिखित है—

1. पदपाठ में सभी पदों को पृथक्-पृथक् कर के लिखा जाता है तथा प्रत्येक पद के पश्चात् पूर्ण विराम डाला जाता है। जैसे संहिता पाठ में **'यदि वा दधे यदि वा न'** है तो पदपाठ में इसे **'यदि। वा। दधे। यदि। वा। न।'** इस प्रकार पृथक् पृथक् करना होगा।
2. प्रत्येक पद का संधि विच्छेद करके ही लिखना होगा। यथा **'त्वामग्ने मानुषीरीळते विशो'** को पदपाठ में **'त्वाम्'। अग्ने। मानुषी:। ईळते। विश:।** इस प्रकार संधिविच्छेद करके दिखाना होगा।
3. समास को अवग्रह के द्वारा चिह्नित करना होगा। यथा **'रत्नधातमम्'** को पदपाठ में **'रत्नऽधातमम्' 'उरुगाय:'** को **'उरुऽगाय:'** करके दिखाना होगा। इसका कारण यह है कि समास एकपद हो जाता है अत: उसे पृथक-पृथक् दो पद नहीं मान सकते। परन्तु यह स्पष्ट करने के लिए कि यहाँ समास हुआ है और ये दो पद हैं, उन दो पदों के बीच अवग्रह का प्रयोग किया जाता है।
4. समास में दो, तीन अथवा अधिक पद होने पर अन्तिम पद से पूर्व ही अवग्रह लगता है यथा **'प्रजापतिऽसृष्ट:'**।
5. देवता द्वन्द्व तथा नञ् समास को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता। जैसे— **द्यावापृथिवी, अवीरा:, अयोद्धा** इत्यादि।
6. व्यञ्जन अथवा ह्रस्व स्वर के पश्चात् आने वाली भकारादि विभक्तियों (भ्याम्, भ्यस्, भिस्) तथा सप्तमी विभक्ति बहुवचन के 'सु' को अवग्रह द्वारा पृथक् करते हैं। यथा **पत्ऽभ्याम्, चतु:ऽभि:, पत्ऽसु, अप्ऽसु, राजऽसु** इत्यादि। परन्तु **पादाभ्याम्** ओर **दिक्षु** में अवग्रह नहीं है।
7. संहिता पाठ में अन्तिम ह्रस्व 'अ' यदि दीर्घ हो गया है तो पदपाठ में उसे ह्रस्व कर देते हैं। यथा **रास्वा, युङ्क्ष्वा** के स्थान पर **रास्व** तथा **युङ्क्ष्व** हो जाएगा।

8. तद्धित प्रत्ययों में भी अवग्रह का प्रयोग होता है। यथा— **वीरऽवत्, गोऽमत्, पुरुऽतर, रत्नधाऽतमम्** इत्यादि।
9. पदपाठ में उपसर्ग और धातु को भी अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाएगा। यथा **व्यक्रामत्** को पदपाठ में **विऽअक्रामत्** इस प्रकार लिखना होगा। एक से अधिक उपसर्गों का प्रयोग होने पर केवल प्रथम उपसर्ग अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है। यथा **अनुऽसंप्रयाहि, अभिऽनिविशते** इत्यादि।
10. प्रगृह्य संज्ञक शब्दों के पश्चात् पदपाठ में 'इति' पद का प्रयोग किया जाता है। यथा **क्रन्दसी इति, युयुधाते इति, वायो इति**। क्रन्दसी, युयुधाते और वायो **'ईदूदेद्द्विचनं प्रगृह्यम्'** से प्रगृह्य संज्ञक हैं।
11. नामसंज्ञक में र् को विसर्ग हो गया हो तो इति जोड़ा जाता है। यथा **पुनः पुनरिति**। परन्तु यदि र् ही हो तो वहाँ र् को केवल विसर्ग ही कर दिया जाएगा। यथा **प्रातरग्निम्** का पदपाठ में **प्रातः अग्निम्** हो जाएगा।
12. अस् धातु के विसर्गान्त रूपों में भी पदपाठ में 'इति' लगता है। जैसे **स्युः** का पदपाठ में **स्युरिति, आसीः** का आसीरिति हो जाएगा।
13. **स्वः** शब्द के पश्चात् भी 'इति' जोड़ते हैं। जैसे **स्वरिति**।
14. **जब सम्बोधन के अन्त में ओ हो तब भी पदपाठ में 'इति' जोड़ते हैं।** जैसे विष्णोरिति।
15. **अस्मे, युष्मे, त्वे** के पश्चात् भी इति लगता है। जैसे **अस्मे इति, युष्मे इति**।
16. उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त स्वरित बन जाता है। यथा **'उप॑ ते स्तोमा॑न्'**। यहाँ उप का उ उदात्त है और प का अ वास्तव में अनुदात्त है परन्तु उदात्त 'उ' के पश्चात् अनुदात्त प का अ स्वरित बन गया। इसी प्रकार 'स्तोमान्' में तो का ओ उदात्त है और मा का आ अनुदात्त है। उदात्त ओ के पश्चात् अनुदात्त 'आ' स्वरित बन गया। इस विषय में निम्न बातें दृष्टव्य हैं—
    (क) ऋग्वेद में उदात्त अचिन्हित होता है, अनुदात्त पड़ी पाई— से चिन्हित किया जाता है तो स्वरित खड़ी पाई (1) से ।
    (ख) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित केवल स्वरों पर ही चिह्नित होते हैं। परन्तु सुविधा के लिए 'तो' को उदात्त, 'मा' को अनुदात्त कह

दिया जाता है। वस्तुतः 'तो' का 'ओ' उदात्त है और 'मा' का 'आ' अनुदात्त है।

(ग) स्वरों पर ही स्वराङ्कन होता है। अतः संयुक्त अक्षरों पर कोई चिह्न नहीं लगता।

(घ) मूल रूप में उदात्त ओर अनुदात्त दो ही स्वर है। स्वरित वास्तव में अनुदात्त ही है जो उदात्तपूर्वक स्वर होने पर स्वरित बन जाता है।

17. स्वरित के पश्चात् आने वाले सभी अनुदात्तों की एकश्रुति हो जाती है अर्थात् उन्हें चिह्नित नहीं किया जाता '**स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्**'। यथा 'रास्वा पितः मरुतां' में वा स्वरित है। अतः उसके पश्चात् आने वाले सभी अनुदात्त अचिह्नित हैं। उनकी एकश्रुति हो गई।

18. परन्तु यदि स्वरित के पश्चात् उदात्त दिखलाना हो तो अन्तिम अनुदात्त को चिह्नित कर दिया जाता है। यथा '**रास्वा पितर्मरुतां: सुम्नमस्मे**' में 'न' को उदात्त दिखलाना है अतः स्वरित के बाद अन्तिम अनुदात्त 'सु' को अनुदात्त चिह्नित कर दिया गया। यदि सु को अनुदात्त चिह्नित नहीं किया जाता तो 'न' भी अनुदात्त ही बन जाता। अतः अनुदात्तों की सीमा निश्चित करने के लिए ही अन्तिम अनुदात्त चिह्नित कर दिया जाता है।

यह दृष्टव्य है कि '**सुम्नमस्मे**' का न उदात्त है और म अनुदात्त है। अतः उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं किया गया क्योंकि म का अगला अक्षर 'मे' उदात्त है। यदि 'म' को स्वरित कर दिया जाता तो 'मे' अनुदात्त बन जाता।

निष्कर्ष यह है कि स्वरित के बाद आने वाले अचिह्नित स्वर अनुदात्त हैं परन्तु स्वतन्त्र स्वरित्त अथवा अनुदात्त के पश्चात् आने वाला अचिह्नित स्वर उदात्त है।

19. संहिता पाठ और पदपाठ में स्वर की इकाई भिन्न होती है। संहिता पाठ में संधि तथा स्वर की दृष्टि से प्रत्येक मन्त्र में केवल दो ही इकाई होती हैं। प्रथम दो पंक्तियाँ एक इकाई है तो अन्तिम दो पंक्तियाँ दूसरी इकाई हैं इस प्रकार इन दो इकाईयों में आने वाले स्वर और संधि एक दूसरे को प्रभावित करेगें जबकि पदपाठ में स्वर और संधि की दृष्टि से प्रत्येक पद स्वतन्त्र है। किसी भी पूर्व पद अथवा परवर्ती पद का

उस पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी कारण संहितापाठ और पदपाठ में स्वर परिवर्तन हो जाता है। यथा '**रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमुस्मे**' संहिता पाठ है। पदपाठ करते समय यह '**रास्व। पितः। मरुताम्। सुम्नम्। अस्मे इति**' इस प्रकार हो जाएगा।

संहिता पाठ में '**पितर्मरुतां**' को अनुदात्त चिह्नित नहीं किया गया क्योंकि एक इकाई होने के कारण 'पि' को पूर्ववर्ती 'वा' का स्वरित दिखाई दे रहा है। अतः उनकी एक श्रुति हो गई परन्तु पदपाठ करते समय 'वा' और 'पि' के मध्य पूर्णविराम रूपी बड़ी सी दीवार खड़ी हो गई जिस कारण 'पि' को 'वा' का स्वरित दिखाई ही नहीं दे रहा। इसका पदपाठ इस प्रकार होगा।

रास्व। पितः। मरुताम्। सुम्नम्। अस्मे इति।

उपरिलिखित कुछ मुख्य नियम हैं जो संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तित करते समय सहायक होते हैं।

卐 卐 卐

वैदिक व्याकरण

भाषा की दृष्टि से वैदिक भाषा और लौकिक भाषा में पर्याप्त अन्तर है। वैदिक भाषा जनसाधारण की बोल चाल की भाषा थी अतः व्याकरण की दृष्टि से वह कहीं अधिक समृद्ध व लोचदार थी। जबकि लौकिक भाषा जनसाधारण की भाषा न रह कर साहित्यिक भाषा बन गई थी। साहित्यक भाषा व जनसाधरण की भाषा में सबसे बड़ा अन्तर यही होता है कि साहित्यिक भाषा व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई होती है जबकि जनसाधारण की भाषा में व्याकरण के नियमों का इतना अधिक ध्यान नहीं रखा जाता। बोलते समय मुँह से जो निकल गया, निकल गया। वह व्याकरण की दृष्टि से उचित है अथवा नहीं, इस बात का इतना अधिक महत्त्व नहीं होता।

वैदिक साहित्य में कुछ रूप ऐसे प्राप्त होते हैं जो लौकिक व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं परन्तु आर्ष प्रयोग होने के कारण उन्हें अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। ऐसे रूपों को भी सिद्ध करने के लिए पाणिनि ने कुछ नियम बना दिए जो वैदिक व्याकरण के अन्तर्गत आते हैं। यह ध्यातव्य है कि ये नियम केवल उन्हीं रूपों को सिद्ध करने के लिए हैं जो वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। इनके आधार पर नए शब्दों की रचना नहीं की जा सकती। उदाहरणस्वरूप वेद में 'जनासः' देवासः' रूप प्राप्त होते हैं जो अकारान्त प्रातिपदिक, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन पुल्लिङ्ग के रूप हैं। परन्तु लौकिक भाषा में केवल जनाः और देवाः' ही प्राप्त होता है। अतः 'जनासः और देवासः को भी सिद्ध करने के लिए पाणिनि ने **आज्जसेरसुक्'** सूत्र बना दिया जिसका तात्पर्य है कि अकारान्त प्रातिपदिक के जस् को पुल्लिङ्ग में 'असुक्' का आदेश विकल्प से हो जाता है। परन्तु यह सूत्र उन्हीं रूपों के लिए प्रयुक्त होगा जो वेद में प्राप्त होते हैं। इसके आधार पर यदि हम नए शब्दों की रचना करना चाहें तो नहीं कर सकते।

इस प्रकार वैदिक व्याकरण नियमों का वह समूह है जो वेद में प्राप्त होने वाले उन रूपों को सिद्ध करने के लिए बनाया गया है जो लौकिक व्याकरण की दृष्टि से गलत हैं, परन्तु आर्ष प्रयोग होने के कारण उन्हें गलत नहीं कहा जा सकता। वैदिक व्याकरण के नियमों से नए रूपों की रचना नहीं की जा सकती। पाणिनि ने ऐसे सूत्रों में 'छन्दसि' का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया हैं कि ये नियम केवल आर्ष वैदिक रूपों को सिद्ध करने के लिए ही हैं। यथा बहुलं छन्दसि, वा छन्दसि, छन्दस्युभयथा, शेश्छन्दसि बहुलम् इत्यादि।

लौकिक व्याकरण के सभी नियम वैदिक भाषा पर भी लागू होते ही हैं।

卐 卐 卐

सुबन्त अथवा शब्द रूप
(DECLENSION)

लौकिक संस्कृत के समान वैदिक भाषा में भी तीन लिङ्ग, तीन वचन और आठ कारक विभक्तियाँ है। लौकिक संस्कृत के सुबन्त रूपों के अतिरिक्त वैदिक भाषा में कुछ अन्य सुबन्त रूप भी मिलते हैं जिनकी व्याख्या निम्नलिखित नियमों के द्वारा की जा सकती है।

वेद में पुनर्वसु शब्द एकवचन में भी प्रयुक्त होता है जबकि लौकिक भाषा में यह केवल द्विवचन में ही प्रयुक्त होता है। इसीलिए वेद में पुनर्वसु (एकवचन) पुनर्वसू (द्विवचन) दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं।

(छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्)

इसी प्रकार 'विशाखा' जो लौकिक संस्कृत में द्विवचन में ही प्रयुक्त होता है वेद में एक वचन में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—विशाखा (एकवचन) विशाखे 'द्विवचन' (**विशाखयोश्च**)।

वेद में 'शिरस्' के स्थान पर शीर्षन् का भी आदेश हो जाता है। जैसे— शीर्ष्णः जगति (**शीर्षंच्छन्दसि**)।

1. **प्रथमा द्वितीया विभक्ति**—दीर्घ प्रातिपदिक के पश्चात् यदि जस् (प्रथमा बहुवचन) हो या इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ऐ, औ औ से प्रारम्भ होने वाला प्रत्यय हो तो प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश हो जाता है जैसे :—नारी + जस् —नारीः। वाराही + औ = वाराही। (**वा छन्दसि**) जहाँ यह सूत्र लागू नहीं होगा वहाँ लौकिक संस्कृत की तरह ही नार्यः और वाराह्यौ रूप ही बनेगें।
2. वेद में सुधी और भू प्रातिपदिक में इयङ् और उवङ् आदेश होने के अतिरिक्त यण् आदेश भी विकल्प से होता है जबकि लौकिक संस्कृत में यण् आदेश न होकर केवल इयङ् ओर उवङ् आदेश ही होते हैं। इस प्रकार वैदिक भाषा में सुधियः और सुध्यः, विभुवौ ओर विभ्वौ दोनों

ही रूप प्राप्त होते हैं। **(छन्दस्युभयथा)**, परन्तु लौकिक भाषा में सुधियः और विभुवौ रूप ही प्राप्त होते हैं।

3. तनु आदि शब्दों में यण् और इयङ्, उवङ् दोनों ही आदेश होते हैं। जैसे– तनुवं, तन्वम्। परन्तु लौकिक भाषा में केवल तनुवं रूप ही प्राप्त होता है **(तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्)**।
4. अकारान्त प्रातिपदिक के पश्चात् यदि जस् (प्रथमा वि. बहुवचन) हो तो जस् को विकल्प से असुक् का आगम हो जाता है जैसे– देवासः, जनासः इत्यादि। लौकिक भाषा में केवल देवाः और जनाः रूप ही प्राप्त होते हैं। **(आज्जसेरसुक)**।
5. 'शि' जो नपुसंकलिङ्ग में जस् (प्रथमा बहुवचन) और 'शस् (द्वितीया बहुवचन) के स्थान पर प्रयुक्त होता है, वेद में विकल्प से लुप्त हो जाता है जैसे– भुवनानि के स्थान पर भुवना, विश्वानि के स्थान पर विश्वा इत्यादि। **(शेश्छन्दसि बहुलं)**

तृतीया विभक्ति– वेद में भिस् (तृतीया बहुवचन) का ऐस् आदेश बहुल से होता है अर्थात् जहाँ होना चाहिए वहाँ नही भी होता और जहाँ नहीं होना चाहिए वहाँ हो भी जाता है। जैसे– देवेभिः और नद्यैः। देवेभिः में ऐस् आदेश होना चाहिए था परन्तु नहीं हुआ। जबकि नद्यैः में ऐस् आदेश नहीं होना चाहिए था परन्तु हो गया। **(बहुलं छन्दसि)** लौकिक भाषा में केवल देवैः और नदीभिः रूप ही प्राप्त होते हैं।

वेद में अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि प्रातिपदिकों के पश्चात् यदि हल से प्रारम्भ होने वाला कोई भी विभक्ति प्रत्यय आए तो अनङ् आदेश हो जाता है। जबकि लौकिक भाषा में यह आदेश तभी होता है जब तृतीया विभक्ति का अच् से प्रारम्भ होने वाला प्रत्यय आए। जैसे– वेद में अस्थिभिः के स्थान पर अस्थभिः रूप भी मिलता है। **(छन्दस्यपि दृश्यते)**।

अस्थि और अक्षि के पश्चात् हल् से प्रारम्भ होने वाला कोई भी विभक्ति प्रत्यय आए तो द्विवचन में इसका अन्तिम अक्षर 'ई' में परिवतर्तित हो जाता है जैसे– अक्षीभ्याम्। जब कि लौकिक भाषा में अक्षिभ्याम् रूप ही प्राप्त होता है। **(ई च द्विवचने)**

षष्ठी विभक्ति– वैदिक भाषा में पति शब्द अकेला भी घि संज्ञक होता है यदि वह षष्ठी विभक्ति वाले पद के साथ आए अतः वेद में क्षेत्रस्य पत्या,

क्षेत्रस्य पतिना दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं। (**षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा**) परन्तु लौकिक भाषा में पति शब्द समास में ही घि संज्ञक होता है अकेला नहीं।

ऋ में समाप्त होने वाले प्रातिपदिक के पश्चात् यदि आम् (षष्ठी बहुवचन) हो तो वह विकल्प से दीर्घ हो जाता है जैसे धातृणाम् या धातृणम्।

(**छन्दस्युभयथा**) लौकिक संस्कृत में केवल दीर्घ रूप ही प्राप्त होता है।

वेद में श्री और ग्रमणी शब्दों के पश्चात् यदि आम् (षष्ठी बहुवचन) हो तो नुट् का आगम भी हो जाता है जैसे— श्रीणाम् ओर ग्रमणीनाम्। (**श्रीग्रामण्योश्छन्दसि**)

वैदिक चरण के अन्त में गो की षष्ठी विभक्ति में नुट् का आगम विकल्प से हो जाता है। यथा गोनाम्। लौकिक भाषा में केवल गवाम्, रूप ही प्राप्त होता है (**गोः पदान्ते**)।

सुबन्त प्रत्ययों के सामान्य रूपः—

वैदिक भाषा में सुबन्त प्रत्ययों के स्थान पर सु लुक पूर्व सवर्ण दीर्घ, आ, आत् शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् आदेश भी होते हैं।

(**सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः**)

जैसे— सु— पन्स्थानः के स्थान पर पन्थाः।

लुक — व्येम्नि के स्थान पर व्योमन्।

पूर्वसवर्ण दीर्घ — धीत्या के स्थान पर धीती।

आ — यौ के स्थान पर या। उभयौ के स्थान पर उभया।

आत् — नतम् के स्थान पर नतात्।

शे — अस्मभ्यम् के स्थान पर अस्मे।

या — उरुणा के स्थान पर उरुया। धृष्णुना के स्थान पर धृष्णुया।

डा — नाभौ के स्थान पर नाभा।

ड्या — अनुष्ठया के स्थान पर अनुष्ठ्या।

याच् — साधो के स्थान पर साधुया।

आल् —वसन्ते के स्थान पर वसन्ता।

उपरिलिखित आदेशों के आतिरिक्त वेद में सुबन्तो के स्थान पर इयाच, डियाच् और ई आदेश भी होते हैं जैसे :—

इयाच्— उरुणा, के स्थान पर उर्विया।

डियाच् — सुक्षेत्रिणा के स्थान पर सुक्षेत्रिया।

ई—सरसि के स्थान् पर सरसी।

(इयाडियाजीकराणामुपसंख्यानम्)

उपरिलिखित सभी नियम वेद में प्राप्त होने वालेरूपों को ही सिद्ध करने के लिए है। इनके आधार पर नए रूपों का निर्माण नहीं किया जा सकता इन सब नियमों के अतिरिक्त लौकिक भाषा के सभी नियम वैदिक भाषा पर भी लागू होते हैं।

卐 卐 卐

क्त्वा
(GERUNDS)

एक वाक्य में दो अथवा अधिक धातुओं का प्रयोग होने पर यदि पहली क्रिया की समाप्ति पर बाद वाली क्रिया निर्भर हो और दोनों क्रियाओं का कर्त्ता एक ही हो तो पहली क्रिया की अभिव्यक्ति क्त्वा प्रत्यय जोड़कर की जाती है। **(समानकर्तृकयोः पूर्वकाले)** जैसे— **यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्।**

यहाँ हन् एवम् अरिणात् दो धातुएँ हैं। दोनों का कर्ता 'यः' ही है और हनन् क्रिया निष्पन्न हो जाने पर ही अरिणात् क्रिया निष्पन्न हुई है अतः पूर्ववर्ती धातु हन् में क्त्वा का प्रयोग हुआ है।

लौकिक भाषा में इस अर्थ को प्रकट करने के लिए (क्त्वा) त्वा प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है और नञ् समास से भिन्न समास पूर्ववर्ती होने पर त्वा के स्थान पर ल्यप् (य) का प्रयोग होता है **(समासेऽनञपूर्वे क्त्वो ल्यप)।**

जैसे— निषद्य, आदाय इत्यादि।

लौकिक भाषा में प्राप्त होने वाले सभी रूप वैदिक भाषा में भी प्राप्त होते हैं परन्तु कुछ रूप वैदिक भाषा में ही प्राप्त होते हैं। इनका विवेचन ही यहाँ किया जाएगा—

1. कुछ वैदिक शब्दों में ल्यप् (य) के अन्तिम अ का दीर्घ हो जाता है। जैसे— निषद्या, आवृत्या इत्यादि।
2. समास पूर्व होने पर भी वैदिक भाषा में ल्यप् (य) के स्थान पर क्त्वा (त्वा) प्रत्यय का प्रयोग भी प्राप्त होता है जैसे— परिधापयित्वा, प्रत्यर्पयित्वा इत्यादि। **(क्त्वापिच्छन्दसि)**। लौकिक भाषा में परिधाप्य तथा प्रत्यर्प्य रूप ही प्राप्त होते हैं।
3. वेद में त्वा प्रत्यय के पश्चात् यक् (य) का आगम भी हो जाता है। **(क्त्वो यक्)** जैसे— गत्वाय, दृष्टवाय, जगध्वाय इत्यादि।
4. वेद में त्वा के अर्थ में त्वी का प्रयोग भी होता है जैसे— गत्वी, कृत्वी, जनित्वी इत्यादि।
5. पाणिनि ने इष्ट्वीनम् को इष्ट्वा के अर्थ में निपात माना है।

(इष्ट्वीनमिति च)

6. काशिका में पीत्वीनम् को पीत्वा के अर्थ में निपात माना गया है (पीत्वीनमित्यपीष्यते)
7. पाणिनि के अनुसार यद्यपि अर्थ की दृष्टि से णमुल् (अम्) पूर्णतः क्त्वा (त्वा) के अर्थ को प्रकट नहीं करता तथापि उससे मिलते-जुलते अर्थ को अभिव्यक्त करता है जैसे– शाखां समालम्भं रोहेत् अर्थात् शाखा का सहारा लेकर चढ़े।

卐 卐 卐

तुमुन्
(INFINITIVES)

तुमुन् (तुम्) प्रत्यय का प्रयोग 'करने के लिए' अर्थ में होता है। जब एक ही कर्त्ता को दो क्रियाएँ करनी हैं एक भविष्यत् काल में और एक वर्तमान काल में। और जब वर्तमान कालीन क्रिया भविष्य कालीन क्रिया के समीप हो तो भविष्य में की जाने वाली क्रिया में तुमुन् (तुम्) का प्रयोग होता है। (**तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्**)

यह तुमुन् अर्थ भाववाची शब्द के चतुर्थयन्त रूप से भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। (**भाववचनाश्च**)

लौकिक भाषा में तुमुन् का प्रयोग अन्य कई स्थानों पर हो सकता है परन्तु वैदिक व्याकरण में उन्हीं शब्दों का विवेचन किया गया है जो केवल वेद में ही मिलते हैं अतः लौकिक भाषा के सूत्रों का यहाँ निर्देश नहीं किया गया है।

लौकिक संस्कृत में एक ही प्रत्यय तुमुन् का ही प्रयोग होता है। लेकिन वैदिक भाषा में तुमुन् के अर्थ में अनेक प्रत्यय हैं। इनमें से अनेक प्रत्यय ऐसे भी हैं जो प्रत्यय की दृष्टि से एक होते हुए भी स्वर की दृष्टि से भिन्न हैं।

इन तुमुन् प्रत्ययों के विषय में पाणिनि और पाश्चात्य विद्वानों में परस्पर मतभेद हैं। पाणिनि के अनुसार ये प्रत्यय तुमुन् के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं परन्तु पाश्चात्य विद्वान इन्हें स्वतन्त्र प्रत्यय न मानकर तु (तुमुन्) प्रत्ययान्त के ही विभिन्न रूप मानते हैं जैसे– जीवितुम् में पाणिनि के अनुसार तो तुमुन् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह 'तु' का ही द्वितीयानत रूप है।

पहले इन प्रत्ययों का विवेचन पाणिनि के अनुसार किया जाएगा और तत्पश्चात् पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार।

पाणिनि का मत—

1. पाणिनि के अनुसार वेद में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन् अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन् शध्यै, शध्यैन्, तवै तवेङ् और तवेन् प्रत्ययों का प्रयोग भी होता है जैसे—

से — वक्षे।

सेन् — चक्षे

क्से — जिषे, स्तुषे

कसेन् — भियसे, वृधसे।

यद्यपि प्रत्यय की दृष्टि से यह चारों समान हैं क्यों कि सबमें 'से' प्रत्यय ही है लेकिन स्वर और गुण वृद्धि की दृष्टि से इनमें भेद है जो नित् है वह आद्युदात्त होता है और जो कित् है उसमें गुण और वृद्धि नहीं होती।

असे — चरसे, जीवसे।

असेन् — अयसे, चक्षसे।

कसेन — भियसे, वृधसे

प्रत्यय की दृष्टि से ये तीनों ही समान हैं लेकिन असे और असेन् में स्वर का अन्तर है तो कसेन् में गुण नहीं होता। असेन् 'नित्' होने के कारण आद्युदात्त है।

अध्यै — चरध्यै, तरध्यै।

अध्यैन् — गमध्यै, वहध्यै।

कध्यै — इयध्यै।

कध्यैन् — श्रियध्यै।

शध्यै — मादयध्यै।

शध्यैन् — पिबध्यै।

यद्यपि ये छः प्रत्यय, प्रत्यय की दृष्टि से समान हैं तथापि कध्यैन् नित् होने के कारण आद्युदात्त है कध्यै और कध्यैन् कित् होने के कारण गुण और वृद्धि से रहित है जबकि शध्यै और शध्यैन् में सार्वधातुक होने के कारण सार्वधातुक के निमित्त होने वाले परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं जैसे—पा पिब् बन जाता है।

तवै — एतवै, पातवै, दातवै।

तवेङ् — सूतवे,

तवेन् — कर्तवे, मन्तवे इत्यादि।

यहाँ तवेङ् ङित् होने के कारण गुण ओर वृद्धि से रहित है और तवेन् नित् होने के कारण आद्युदात्त है।

(तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन् तवैतवेङ्तवेनः)

2. तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में प्रयै (प्रयातुम्), रोहिष्यै (रोढुम्), अव्यथिष्यै (अव्यथितुम्), शब्द निपात से सिद्ध होते हैं। (**प्रयैरोहिष्यैअव्यथिष्यै**)
3. दृशे (द्रष्टम्), विख्ये (विख्यातुम्) शब्द भी तुमुन् के ही अर्थ में निपात है। (**दृशेविख्ये च**)
4. यदि उपपद में शक् का प्रयोग हो तो तुमुन् के ही अर्थ में णमुल् और कमुल् प्रत्यय भी होते हैं।
   जैसे— विभाजं नाशकत् और अवलुपं नाशकत्। यहाँ विभाजं का प्रयोग विभक्तुम् के अर्थ में णमुल् प्रत्यय के साथ हुआ है। और अवलुपं का प्रयोग अवलोप्तुम् के अर्थ में कमुल् प्रत्यय के साथ हुआ है। (**शकि णमुल्कमुलौ च**)
5. ईश्वर शब्द के उपपद में रहने पर वेद में तुमुन के अर्थ में तोसुन और कसुन् ये दो प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं जैसे —ईश्वरो विचरितोः। ईश्वरो विलिखः।
   यहाँ विचरितोः, विचरितुम् के लिए आया है और विलिखः विलेखितुम् के लिए आया है। (**ईश्वरो तोसुन्कसुनौ**)
6. भावलक्षण में विद्यमान स्था, इण्, कृञ्, वदि, चरि, हु, तनि और जनि धातुओं के साथ तुमुन् के अर्थ में तोसुन् का प्रयोग होता है यथा— संस्थातोः, एतोः, कर्तोः, चरितोः, इत्यादि। (**भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतनिजनिभ्यस्तोसुन्**)
7. वेद में भावलक्षण में विद्यमान सृप् और तृद् धातुओं में तुमुन् के अर्थ में कसुन् (अस्) का प्रयोग भी होता है। जैसे आतृदः, विसृपः इत्यादि (**सृपितृदोः कसुन्**)।

पाश्चात्य विद्वानों का मत—

उपर्युक्त पाणिनि के सूत्र और उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने तुम, से, असे, कसुन्, आदि शब्दों को तुमर्थक माना है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान इन्हें प्रत्यय न मानकर विधिवत् 'तु' अङ्ग के विभिन्न विभक्ति रूप मानते हैं जैसे उनके अनुसार √ गम् धातु में कृदन्त प्रत्यय 'तु' जोड़कर 'गन्तु' शब्द बना और 'गन्तुम्' इसी का द्वितीया विभक्ति का रूप है 'गन्तवे' चतुर्थी विभक्ति का रूप है तो 'गन्तोः' पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति का।

संक्षेप में, इन विद्वानों के अनुसार प्राचीन काल में इन गन्तु इत्यादि के सभी रूप रहे होंगे परन्तु क्रमशः इनके कुछ रूप ही शेष रह गए जिन्हें अब अव्यय मान लिया गया।

तुमर्थक प्रत्ययों का वर्गीकरण पाश्चात्य विद्वानों ने उपलब्ध रूपों को देखकर द्वितीयान्त, चतुर्थ्यन्त, पञ्चम्यन्त, षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त विभक्तियों के आधार पर किया है। इनके उदष्टरण इस प्रकार है—

द्वितीयान्त— ये शब्द दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं :—

1. अम्— जिन शब्दों में अम् मिलता है जैसे— विभाजम् अवलुपम् इत्यादि। लेकिन पाणिनि ने इनमें णमुल् और कमुल् प्रत्यय माना है।
2. तुम्— जैसे अत्तुम्, कर्तुम्, गन्तुम् इत्यादि। पाणिनि इनमें तुमुन् प्रत्यय मानते हैं जबकि पाश्चात्य विद्वान् इनमें अद्, कृ, और गम् धातु में तु प्रत्यय लगाकर इन्हें द्वितीया विभक्ति एक वचन का रूप मानते हैं।

चतुर्थ्यन्त— चतुर्थ्यन्त तुमर्थक शब्द वैदिक भाषा में सबसे अधिक मिलते हैं। प्रत्ययों और अङ्गों के आधार पर इनका वर्गीकरण इस प्रकार है।

1. ए. प्रत्यय जोड़कर कुछ रूप बनते हैं जैसे— दृशे, भुजे, विख्ये इत्यादि। परन्तु पाणिनि इन्हें निपात मानते हैं।
2. ऐ प्रत्यय जोड़कर कुछ रूप बनते हैं जैसे— प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै इत्यादि। परन्तु पाणिनि ने इन्हें निपात माना है।
3. से— जिषे, चक्षसे, जीवसे इत्यादि। पाणिनि के अनुसार इनमें से प्रत्यय लगा है।
4. असे— अर्हसे इत्यादि।
5. अये— दृशये पीतये इत्यादि।
6. तये— इष्टये ऊतये इत्यादि।
7. तवे— गन्तवे, सूतवे, कर्तवे इत्यादि।
8. तवै— कर्तवै गन्तवै इत्यादि। पाणिनि ने इनमें तवै प्रत्यय माना है जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने इसे चतुर्थ्यन्त माना है।

पञ्चम्यन्त और षष्ठ्यन्त :—

अस् ओर तोस् प्रत्ययान्त तुमर्थक, पञ्चम्यन्त ओर षष्ठयन्त माने गए हैं।

जैसे– आतृदः, अवसृपः, विलिखः इत्यादि। पाणिनि के अनुसार इनमें कसुन् प्रत्यय है। तोस्-एतोः, गन्तोः, विचरितोः, इत्यादि तोस् में समाप्त होने वाले कुछ उदाहरण है। पाणिनि ने इनमें तोसुन् प्रत्यय माना है।

सप्तम्यन्त तुमर्थक–

इस वर्ग में आने वाल तुमर्थकों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है

1. हलन्त अङ्गों से सप्तम्यन्त। जैसे– सचक्षि, बुधि इत्यादि।
2. तृ अङ्गों से, धर्तरि इत्यादि।
3. सन् प्रत्ययों से– जैसे– नेषणि, पर्षणि इत्यादि।

卐 卐 卐

वैदिक स्वर
(VEDIC ACCENT)

ग्रीक भाषा की भाँति वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है उसका स्वर युक्त होना। वेदों के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वरों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। चारों वेद, तैतरीय ब्राह्मण ओर उसके आरण्यक ग्रन्थ तथा शतपथ ब्राह्मण स्वरों से चिह्नित है। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण समान बल से नही किया जाता। वर्ण के उच्चारण में जिस बल का प्रयोग होता है वह स्वर कहलाता है। वेद में तीन प्रकार के स्वर हैं। उदात्त– तालु इत्यादि ऊर्ध्व भागों से निष्पन्न होने वाला अच् उदात्त कहलाता है (**उच्चैरुदात्तः**)

अनुदात्त– जिस स्वर के उच्चारण में गात्र नीचे की तरफ खिंचे उसे अनुदात्त कहते हैं (**नीचैरनुदात्तः**)

स्वरित– जिस स्वर के उच्चारण में गात्र पहले ऊपर की ओर खिंचे और तदन्तर नीचे की ओर खिंचे तो उसे स्वरित कहते हैं (**समाहारः स्वरितः**)।

वैदिक साहित्य का स्वराकन सर्वत्र एक सा नहीं है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयी संहिता, ओर तैतरीय संहिता में अनुदत्त नीचे पड़ी पाई (–) और स्वरित ऊपर खड़ी पाई (।) से चिह्नित किया जाता है जबकि उदात्त अचिह्नित रहता है जैसे– अ॒ग्निना॑ में अ अनुदात्त है ग्नि का इ उदात्त है और ना का आ स्वरित है।

स्वतन्त्र स्वरित (जो उदात्त पर अश्रित नहीं है) के पश्चात् यदि उदात्त आता है तो वह संख्यावाची १ से चिह्नित किया जाता है यदि स्वरित का स्वर ह्रस्व है और यदि स्वरित का स्वर दीर्घ है तो वह ३ से चिह्नित होता है जैसे– वीर्य १॑ मिन्द्रु और त॒न्वा ३॑ सं। (स्वतन्त्र स्वरित पर विस्तृत टिप्पणी आगे है)।

स्वराङ्कन के सामान्य नियम

प्रत्येक शब्द में एक उदात्त के अतिरिक्त सभी अनुदात्त होते हैं

(अनुदात्तं पदमेकवर्जम्)

अपवाद – परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं जो निम्नलिखित हैं।

1. देवता द्वन्द्व समास में जहाँ दोनों पद द्विवचनान्त होते हैं दो उदात्त होते हैं जैसे मित्रावरुणा यहाँ त्रा और व उदात्त है **(देवता द्वन्द्वे च)**
2. अलुक षष्ठी समास में भी दो उदात्त होते हैं। जैसेः– बृहस्पतिः। यहाँ बृ ओर प में उदात्त हैं। **(उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्)**
3. तुमुन् के अर्थ में लगने वाले प्रत्यय 'तवै' में समाप्त होने वाले शब्दों में दो उदात्त होते हैं जैसे– दातवै। यहाँ दा और वै में उदात्त है **(तवै चान्तश्च युगपत्)**

कुछ शब्द ऐसे हैं जिनमें उदात्त होता ही नहीं।

1. च, उ, व, इव, ई इ इत्यादि अव्यय उदात्त रहित होते हैं (**चादयोऽनुदात्ताः**)
2. त्व, सम् और एन के सभी रूप अनुदात्त होते हैं (**द्वितीयाटौस्स्वेनः**)।
3. वाक्य के प्रारम्भ में न आने वाला सम्बोधन सर्वानुदात्त होता है जैसे– स जनास इन्द्रः (**आमन्त्रितस्य च**)।
4. मुख्य वाक्य की क्रिया जब वाक्य के प्रारम्भ में न हो तो सर्वानुदात्त होती है। जैसे– अग्ने आ गहि। (**तिङ्तिङः**)
5. 'अस्य' जब वाक्य के प्रारम्भ में न हो और पहली संज्ञा के बदले में प्रयुक्त हो तो सर्वानुदात्त होता है। जैसे– अस्य– जनिमानि।
6. 'यथा' जब इव के अर्थ में प्रयुक्त होता है और वाक्य के अन्त में आता है तो सर्वानुदात्त होता हैं जैसे– तायवो तथा।

2. उदात्त के पश्चात् यदि अनुदात हो तो उस अनुदान का स्वरित बन जाता है।

3. स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्तों को चिह्नित नहीं किया जाता। उनकी एक श्रुति हो जाती है (**स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्**) परन्तु यदि स्वरित के पश्चात् उदात्त दिखलाना हो तो अन्तिम अनुदात्त को चिह्नित कर देते हैं जैसे जनास इन्द्रः।

यहाँ ज के बाद आने वाले सारे अनुदात्त है इसीलिए इन्हें चिह्नित नहीं किया गया परन्तु द्र को उदात्त चिह्नित करना है अतः अन्तिम अनुदात्त 'इ' को चिह्नित किया गया है।

तिपदिकों या संज्ञा शब्दों का स्वर विधान—

1. जिन संज्ञा शब्दों के अन्त में 'अस्' आता है यदि वे नपुसंकलिङ्ग हो तो मूल शब्द पर उंदात्त होता है। जैसे— अर्पः (कर्म) लेकिन यदि वे पुल्लिङ्ग है तो उदात्त प्रत्यय पर होता है। जैसे— अ॒पः (जल)।
2. इष्ठन् तथा ईयसुन् से समाप्त होने वाले शब्दों में उदात्त प्रथम अक्षर पर होता है जैसे— यजिष्ठा तथा जवीयांस परन्तु यदि शब्द से पूर्व उपसर्ग लगा हो तो उदात्त उपसर्ग पर होता है। जैसे— आगीगिष्ठ ओर प्रतिच्यवीयांस।
3. मन् प्रत्यय में समाप्त होने वाले नपुसंकलिङ्ग में मूल शब्द पर उदात्त होता है। जैसे— कर्मन्।
4. इन् प्रत्यय में समाप्त होने वाले शब्दों में उदात्त इन् पर होता है जैसे— आ॒श्विन्।
5. मान्त शब्दों में उदात्त म पर होता है जैसे अ॒ष्ट॒म।
6. तरप् और तमप् प्रत्यय में समाप्त होने वाले शब्दों में उदात्त तरप् ओर तमप् प्रत्यय पर होता है जैसे— दातरं तथा धा॒तमम्।

समास में स्वर विधान

1. आम्रेडित पदों के समास में पूर्व पद पर उदात्त होता है। जैसे— अहरहः। **(अनुदात्तं च)**
2. बहुव्रीहि समास में उदात्त पूर्व पद पर होता है जैसे— राजपुत्रः **(बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्)**
3. कर्मधारय में अन्तिम पद में उदात्त होता है जैसे प्र॒थ॒म परन्तु क्त, क्तवतु प्रत्यम में उदात्त प्रथम पद पर होता है जैसे— दुहिता। **(कर्मधारयेऽनिष्ठा)**
4. तत्पुरुष समास में उदात्त अन्तिम अक्षर पर होता है जैसे— गो॒त्र॒भिद् तथा रा॒ज॒पु॒त्रः।

5. परन्तु कृत्यान्त समासों में उदात्त पूर्वपद पर होता है। जैसे—शुक्रबभ्रुः तथा इन्द्रप्रसूत इत्यादि।

6. द्वन्द्व समास में उदात्त अन्तिम अक्षर पर होता है। इष्टापूर्तम् तथा द्रोषावस्तः इत्यादि (समासस्य)।

7. परन्तु देवता द्वन्द्व में दो उदात्त होते हैं जैसे—मित्रावरुण (देवता द्वन्द्वे च)

8. द्वन्द्व समास में संख्यावात्ती पूर्व पद पर उदात्त होता है जैसे—एकादश। (संख्या)

9. अव्ययीभाव में अन्तिम पद पर उदात्त होता है जैसे अनुकामम्

तिङ्न्त शब्दों में स्वर विधान

1. लुङ् लङ् और लृङ् में अट् उदात्त होता है। जैसे— अभवत्, अभूत्, अभरिष्यत् (लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड्दात्तः)।

2. वर्तमानकाल में भ्वादि और दिवादिगण में धातु पर उदात्त होता है जैसे— भवति। लेकिन तुदादिगण में उदात्त विकरण पर होता है तुदति।

3. लुङ् में स और इस् में अन्त होने वाल रूपों में धातु पर उदात्त होता है। जैसे—वंसि तथा शंसिषम् इत्यादि।

4. लृट्लकार में हमेशा ही 'स्य' पर उदात्त होता है जैसे—एष्यति।

5. चुरादिगण ओर णिजन्त में धातु में उदात्त होता है जैसे—पातयति।

6. यङ्तम, नाम धातु तथा कर्मवाच्य में उदात्त य पर होता है जैसे—मुच्यते। नेनीयते

7. सनन्त में अभ्यास पर उदात्त होता है जैसे—पिप्रीषति

8. ल्यप् ओर क्त्वा में धातु पर उदात्त होता है जैसे—श्रुत्य तथ श्रुत्वा।

उपसर्गों में स्वर विधान

1. प्रधान वाक्य में उपसर्ग में उदात्त होता है जैसे—आगमत्।

2. लेकिन गौण वाक्य में उपसर्ग अनुदात्त होता है। जैसे— परिप्रयाथ।

3. यदि प्रधान वाक्य में दो उपसर्ग हो तो पहला उपसर्ग ही उदात्त होता है जैसे उपप्रयाहि।

सन्धि में स्वर विधान

1. दीर्घ ओर गुण सन्धि में यदि दोनों में से कोई भी स्वर उदात्त है तो एकादेश दीर्घ या गुण अक्षर में उदात्त ही होगा। जैसे–इह + अस्ति इहास्ति।
2. यण् सन्धि में जब उदात्त इ, उ, ऋ, लृ, य्, व्, र्, ल् में परिवर्तित हो जाते हैं तो परवर्ती अनुदात्त, स्वरित हो जाता है। जैसे– वि + आनट् व्या३नट् नु + इन्द्रः – न्वि१न्द्रः ।
3. यदि ए ओ के पश्चात् उदात्त अ का पूर्वरूप हो तो अ का उदात्त ए ओ पर चला जाता है जैसे–सूनवे + अग्ने –सूनवेऽग्ने।
4. परन्तु यदि ए, ओ उदात्त हो ओर पश्चाद्वर्ती अ अनुदात्त हो तो पूर्वरूप होने पर ए पर स्वतन्त्र स्वरित हो जाता है जैसे– सो + अब्रवीत् = सो ३ ब्रवीत्।

卐 卐 卐

स्वरित

उदात्त और अनुदात्त का समाहार स्वरित कहलाता है **'समाहारः स्वरितः'**। उदात्त के पश्चात् यदि अनुदात्त आता है तो उस अनुदात्त का स्वरित बन जाता है, यदि उसके पश्चात् उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित न हो। यदि अनुदात्त के पश्चात् उदात्त है तो अनुदात्त को स्वरित चिह्नित नहीं कर सकते क्योंकि तब वह उदात्त अनुदात्त ही मान लिया जाएगा। कारण यह है कि स्वरित के पश्चात् आने वाले सभी अनुदानों की एकश्रुति हो जाती है **'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्'** अर्थात् उनको चिह्नित नहीं किया जाता।

आधुनिक विद्वानों के अनुसार स्वरित के दो भेद हैं—

(1) **आश्रित स्वरित** और (2) **स्वतन्त्र स्वरित**

(1) **आश्रित स्वरित**— वास्तव में स्वरित एक आश्रित स्वरित है जो उदात्त पर आश्रित होता है। जब उदात्त के बाद अनुदात्त आता है तो वह अनुदात्त स्वरित बन जाता है; यदि उसके बाद उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित न हो। यथा अग्निना में नि का 'इ' उदात्त है अतः उसके बाद आने वाला 'ना' का अनुदात्त 'आ' स्वरित बन गया। इस प्रकार उदात्त + अनुदात्त के मेल से बनने वाले स्वरित को आश्रित स्वरित कहते हैं।

(2) **स्वतन्त्र स्वरित**— परन्तु कभी-कभी सन्धि के नियमों से दो स्वरों का एकादेश होने पर उदात्त स्वर का लोप हो जाता है और तब जब उदात्त के पूर्ववर्ती न होने पर भी अनुदात्त स्वरित बन जाता है तो उसे **'स्वतन्त्र स्वरित'** कहते हैं।

प्रातिशाख्यों ने स्वतन्त्र स्वरित के निम्न भेद दिए हैं—

(क) जात्य अथवा नित्य स्वरित

एक पद में संयुक्त व्यञ्जन का अन्तिम अक्षर यदि मकार अथवा वकार है और उसके बाद आने वाले स्वरित से पहले उदात्त है अथवा नहीं है तो उसे जात्य स्वरित कहते हैं। यथा 'क्व'। यहाँ कु + अ मूलरूप में था। कु उदात्त था तथा

'अ' अनुदात्त था तो अनुदात्त 'अ' उदात्त कु के कारण स्वरित बन गया था। परन्तु यण् सन्धि होने पर क्व् + अं बन गया। यहाँ संयुक्त व्यञ्जन क्व् का अन्तिम अक्षर 'व्' है ओर उसके बाद आने वाले स्वरित अर्थात् 'अ' से पहले अब उदात्त नहीं है फिर भी 'अ' स्वरित ही रहा। इसी प्रकार स्वः में मूल रूप सु + अः था। यण् सन्धि होने पर स्व् + अः हो गया। इसमें में भी संयुक्त व्यञ्जन स्व् का अन्तिम अक्षर 'व्' है। उदात्त के पूर्ववर्ती न होने पर भी अनुदात्त 'अ' स्वरित हो गया। इसी प्रकार कन्या में मूल रूप कनि + आ है। यहाँ 'नि' उदात्त पूर्ववर्ती होने के कारण पश्चाद्वर्ती अनुदात्त 'आ' स्वरित हो गया। परन्तु यण् सन्धि होने पर कन्य् + आ बन गया। यहाँ संयुक्त अक्षर न्य् का अन्तिम अक्षर 'य्' है और इसके पश्चात् स्वरित आ है। इस आ के पूर्व उदात्त अक्षर न होने पर भी स्वरित बन गया। पहले दो उदाहरणों में उदात्त अथवा अनुदात्त दोनों के ही अभाव में 'अ' स्वरित हो गया था जबकि तीसरे उदाहरण में अनुदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त स्वरित बन गया।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के भाष्य में उब्बट ने लिखा है कि उदात्त और अनुदात्त की सङ्गति के बिना जाति (स्वरूप) से ही जो स्वरित उत्पन्न हुआ है वह जात्य अथवा नित्य स्वरित कहलाता है।

(ख) क्षैप्र स्वरित

यण् संधि का स्वतन्त्र स्वरित **क्षैप्र स्वरित** कहलाता है। यण् संधि में जब उदात्त इक् यण् में परिवर्तित होता है तो परवर्ती अनुदात्त स्वतन्त्र स्वरित बन जाता है। यदि बाद वाला स्वर ह्रस्व है तो वह संख्यावाची १ से चिह्नित किया जाता है और यदि बाद वाला स्वर दीर्घ है तो वह संख्यावाची ३ से चिह्नित किया जाता है। यथा नु + इन्द्रः = न्वि १ न्द्रः तथा वि + आनट् = व्या ३ नट्।

यहाँ प्रथम उदाहरण में नु उदात्त है और इसका पश्चाद्वर्ती 'इ' अनुदात्त है अतः इ स्वरित बन गया। परन्तु यण् सन्धि होने पर न्व् + इन्द्रः बन गया। अब इ से पूर्व उदात्त न होने पर भी 'इ' स्वरित हो गया अतः यह स्वतन्त्र स्वरित कहा जाएगा। और चूंकि 'इ' ह्रस्व है अतः यह संख्यावाची १ से चिह्नित होकर न्वि १ न्द्रः बनेगा।

दूसरे उदाहरण में वि उदात्त पूर्ववर्ती होने पर पश्चाद्वर्ती अनुदात्त 'आ' स्वरित हो गया। परन्तु यण् सन्धि होने पर व्य् + आनट् हो गया। अब अनुदात्त आ से पूर्व उदात्त नहीं है परन्तु तब भी यह स्वरित बन जाएगा। और उदात्त पर

आश्रित न होने के कारण यह स्वतन्त्र स्वरित कहलाएगा। परवर्ती 'आ' दीर्घ है अतः उसे संख्यावाची ३ से चिह्नित किया जाएगा और रूप बनेगा व्या ३ नट्। यण् संधि का स्वतन्त्र स्वरित **क्षैप्र स्वरित** कहलाता है।

(ग) अभिनिहित स्वरित

अभिनिहित अर्थात् पूर्वरूप संधि में जब उदात्त ए ओ के साथ पश्चाद्वर्ती अनुदात्त अ का पूर्वरूप होता है तो ए ओ पर स्वतन्त्र स्वरित हो जाता है। जैसे— सो + अब्रवीत् = सो३ ब्रवीत्। इसे **अभिनिहित स्वरित** कहते हैं।

(घ) प्रश्लिष्ट स्वरित

जब प्रश्लिष्ट अर्थात् दीर्घ सन्धि में पूर्ववती उदात्त पद का पश्चाद्वर्ती अनुदात्त पद के साथ दीर्घ एकादेश होता है और जब वह अनुदात्त उदात्त न होने पर भी स्वरित बन जाता है तो ऐसा स्वतन्त्र स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहलाता है। यथा— दिक्षु + उपदधाति = दिक्षू ३ पदधाति।

卐 卐 卐

तिङन्त

वैदिक भाषा धातुओं के प्रयोग तथा प्रत्यय की दृष्टि से लौकित संस्कृत की अपेक्षा अधिक समृद्ध भाषा है। लौकिक संस्कृत के समान ही इसमें भी आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों ही उपलब्ध हैं। कुछ धातुओं में केवल परस्मैपद और कुछ में केवल आत्मनेपद का प्रयोग होता है। कुछ धातुएँ दोनों पदों में ही प्रयुक्त होती हैं। यथा कृणोति, कृणुते।

विकरणों अथवा अङ्गों की दृष्टि से वैदिक भाषा में वैसी नियमितता नहीं है जैसी लौकिक संस्कृत में है। इसी कारण पाणिनि ने कई विकरणों के पश्चात् 'बहुलं छन्दसि' का विधान किया। धातुओं के गणों में भी परिवर्तन हो जाता है। किसी गण की धातु किसी अन्य गण की धातु के समान प्रयुक्त हो जाती है

प्रत्येक कालवाची तिङन्त तथा भाववाची तिङन्त में एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन हैं। प्रथम, मध्यम तथा उत्तम ये तीन पुरुष भी हैं। मैक्डॉनल के अनुसार लोट् लकार के उत्तम पुरुष के रूप प्राप्त नहीं होते।

पाणिनि ने लट्, लिट्, लुट लृट लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् के लिए सामान्यत: 'ल्' का प्रयोग किया है और 'ल्' के स्थान पर तिप् तस् झि इत्यादि विभक्तियों का आदेश किया है। इस प्रकार पाणिनि के अनुसार ये लकार हैं।

पाश्चात्य विद्वान् इनका विभाजन कालवाची तथा भाववाची अर्थ को ध्यान में रखते हुए करते हैं। पाश्चात्य विद्वान लट्, लङ्, लिट्, लुङ्, लृट् तथा लुट् को कालवाची मानते हैं। द्योतक, लेट्, विधिमूलक भाव, लिङ् तथा लोट् भाववाची लिङन्त हैं।

पणिनि ने विशेष रूपों के आधार पर विशेष विकरणों की कल्पना करके उनका विभाजन 10 गणों में किया है

1. भ्वादिगण का विकरण	शप् है	भू+शप्+ति–भवति
2. अदादिगण का विकरण	लुक् है	अद्+ति–अत्ति
3. जुहोत्यादिगण का विकरण	श्लु (द्वित्व) है	हु+श्लु+ति–जुहोति
4. दिवादिगण का विकरण	श्यन् (य) है	दीव्+श्यन्+ति–दीव्यति

5.	स्वादिगण का विकरण	श्नु (नु) है	सु+श्नु+ति-सुनोति
6.	तुदिदिगण का विकरण	शः (अ) है	तुद्+श+ति-तुदति
7.	रुधादिगण का विकरण	श्नम् (न) है	रुध्+श्नम्+ति-रुणद्धि
8.	तनादिगण का विकरण	उ है	तन्+उ+ति-तनोति
9.	क्रयादिगण का विकरण	श्ना (ना)है	क्री+श्ना+ति-क्रीणाति
10.	चुरादिगण का विकरण	अय् है	चुर्+अय+ति-चोरयति

वैदिक भाषा में एक धातु कई गणों में भी प्रयुक्त होती थी। पाणिनि भी इस प्रवृति से अनभिज्ञ न थे तथा उन्होंने गणों के विकल्प के लिए निम्नलिखित सूत्रों की रचना की-

बहुलं छन्दसि

वेद में अदादिगण की धातुओं में शप् का लोप विकल्प से होता है। यथा वृत्रं हनति (हन्ति के स्थान पर) तथा अहिः शयते (शेते के स्थान पर)।

जुहोत्यादि गण की धातुओं में श्लु विकरण विकल्प से होता है। श्लु न होने से द्वित्व नहीं होता। जैसे दाति (ददाति के स्थान पर) धाति (दधाति के स्थान पर)

जो धातु जुहोत्यादिगण की नहीं है उनमें भी कई बार श्लु होकर द्वित्व हो जाता है। विवष्टि (वष्टि के स्थान पर)

व्यत्ययो बहुलम्

कई स्थानों पर इस सूत्र से भी गणों का व्यत्यय मान लिया गया है।

प्रत्यय

पाणिनि सामान्यतः ल् के स्थान पर तिप् तस् झि इत्यादि प्रत्ययों की कल्पना करते हैं। विभिन्न स्थानों पर लकारों तथ अङ्गों के अनुसार उनका परिवर्तन यथास्थान करते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने प्रत्ययों की दृष्टि से अङ्गों का दो मुख्य भागों में विभाजन किया है। (1) ऐसे अङ्ग जो लिट् अङ्ग कहलाते हैं (2) लिट् अङ्गों से भिन्न।

परस्मैपद लिट् भिन्न अङ्ग

लट्—	ति	तस्	झि (अन्ति)
	सि	थस्	थ (धन)
	मिप्	वस्	मस्

लिङ्	ईत्	आताम्		ईयुः	यात	याताम्	युः
	ईस्	आताम्		ईत	यास्	यातम्	यात
	ईयम	ईव		ईम	याम्	याव	याम
लेट्	अति,	अत्	अतस्	अन्			
	असि	अस्	अथस्	अथ			
	आनि	आ	आव	आम			
लिट्	अ	अतुस्	उस्				
	थ	अथुस्	अ				
	अ	व	म				
लङ्	त्	ताम्	अन्				
	स्	तम्	त, तन				
	अ(म्)	व	म				
लोट्	तु		ताम्	अन्तु			
	तात् हि धि		तम	त तन			
		—		—			

आत्मनेपद

लटलकार	ते	आते	अन्ते
	से	आथे	ध्वे
	ए	वहे	महे
लङ् लकार	त	आताम्	अत
	थास्	आथाम्	ध्वम्
	इ	वहि	महि
लिङ्	ईत	ईयाताम्	ईरन्
	ईथाः	ईयाथाम्	ईध्वम्
	ईय	ईवहि	ईमहि
लेट्	अते अतै	एते	अन्तै अन्त
	असे असै	ऐथे	अध्वै
	ऐ	आवहै	आमहे आमहै
लोट्	ताम्	आताम्	अन्ताम्
	स्व	आथाम्	ध्वम्
	—	—	—

लिट्	ए	आते	इरे
	से	आथे	ध्वे
	ए	वहे	महे

भाववाची तिङन्त

भाववाची तिङन्त के विशेष प्रत्यय कालवाची अङ्गों के ही अभिन्न अङ्ग हैं। इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् प्रत्येक कालवाची तिङन्तों के साथ ही उनके भाववाची रूप भी उद्धृत करते हैं।

द्योतक भाव

प्रत्येक कालवाची तिङन्त का सामान्य द्योतक होता है इसके अतिरिक्त चार मुख्य भाववाची तिङन्त हैं जिनका विवरण इस प्रकार है

लोट् (Imperative)

लोट् भाव केवल आज्ञा अर्थ को ही अभिव्यक्त नहीं करता परन्तु इसके साथ इच्छा, अनुरोध इत्यादि के अर्थ भी सम्बद्ध रहते हैं। 'देवाँ इह आवह' में प्रार्थना है, अहेलमानो बोधि (क्रुध मत हो) में इच्छा है, छिन्धि में आज्ञा है। मैक्डॉनल महोदय के अनुसार वास्तविक लोट् लकार का प्रयोग निषेधात्मक नहीं था। इसी कारण सम्भवतः इसका निषेधात्मक शब्द 'मा' के साथ कभी प्रयोग नहीं हुआ। लोट् के प्रत्पयों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) पाणिनि 'सि' के स्थान पर 'हि' का आदेश करते हैं और इसे अपित् मानते हैं (सेर्ह्यपिच्च) परन्तु **'वा छन्दसि'** से वेद में 'हि' को विकल्प से अपित् मानते है। अपित् पक्ष में यह ङिद्वद् होकर गुण वृद्धि का निषेध करता हैं। यथा गृभ्णाहि, गृभ्णीहि (अपित्)

(2) श्रु शृणु, पृ, कृ, वृ धातुओं में 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश करते है (**श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि**) तथा **'वा छन्दसि'** से इसे विकल्प अङित् मानते हैं। युयोधि (पित्) युयुधि (अपित् और ङिद्वद्)

(3) हलन्त धातुओं से परे 'श्ना' विकरण होने पर और उससे परे 'हि' होने पर 'श्ना' के स्थान पर 'शानच्' हो जाता है और **'अतो हेः'** से हि का लोप हो जाता है। उदाहरण–गृहाण $\sqrt{}$ गृह + श्ना + हि = गृह् + शान च् + हि लोप –गृहाण। इसी प्रकार बधान अशान इत्यादि रुप बने हैं।

(4) 'हि' के स्थान पर 'शायच्' (आय) प्रत्यय भी मिलता है। यथा–गृभाय (**छन्दसि शायजपि**)

(5) 'हि' के स्थान पर तात् प्रत्यय भी मिलता है। जैसे-वित्तात्, कृणुतात्, पुनीतात् इत्यादि।

(6) लोट् के मध्यम बहुवचन में वेद में 'त' के स्थान पर तप्, तनप्, तन, तथा थन प्रत्यय भी मिलते हैं। तनप् और तन में केवल अङ्ग का भेद है। तन प्रत्यय के साथ अङ्ग में गुण नहीं होता। जैसे-जुहोत, जुहोतन, इतन, यजिष्ठन आदि (तप्तनप्तनथनाश्च)

(7) मध्यम पुरुष बहुवचन में 'ध्वम्' के स्थान पर 'ध्वात्' प्रत्यय भी मिलता है। यथा वारयध्वात् (**ध्वमो ध्वात्**)

(8) पाणिनि ने यजध्वम् के स्थान पर यजध्वैनम् को निपात माना है (**यजध्वैनमिति च**)

विधिमूलक भाव

इसकी विस्तृत व्याख्या आगे है। दृष्टव्य पृष्ठ संख्या 356

लेट् लकार

इसकी विस्तृत व्याख्या आगे है। दृष्टव्य पृष्ठ संख्या 354

विधिलिङ् (Optative mood or Potential mood)

पाणिनि ने लिङ् का प्रयोग विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न तथा प्रार्थना के अर्थों में बतलाया है '**विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषुलिङ्**'। पाश्चात्य विद्वान इस भाव का मुख्य अर्थ 'कामना' बतलाते है। यथा विधेम ते स्तोमैः (हम स्तोत्रों से स्तुति करें)। (दृष्टव्य लेट् लकार)

लृङ् लकार

'**लिङनिमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ**' यदि ऐसा हुआ होता तो ऐसा होता' इस प्रकार परवर्ती भविष्यत् क्रिया का निमित्त पूर्वक्रिया में हो तो यह लृङ् (Conditional)कहलाता है। इसका विशेष प्रत्यय 'स्य' भविष्यत् काल के समान है '**स्यतासी लृलुटोः**' परन्तु आदि में 'अट्' का आगम भूतकाल के समान है। पाश्चात्य विद्वानों के अुनसार लृङ् भूतकाल में परन्तु भविष्य की सम्भावना जैसा अर्थ अभिव्यक्त करता है। यथा 'अभरिष्यत्'।

कालवाची तिङन्त (Tense)

लट् (वर्तमान काल)

लट् का प्रयोग वर्तमान के अर्थ में होता है '**वर्तमाने लट्**' परन्तु ऋग्वेद में वर्णनात्मक वाक्यों में भूतकाल के अर्थ में भी लट् का प्रयोग किया जाता है।

जैसे 'पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः' तथा 'अमुया शयानम् अति यन्ति आपः'।

'पुरा' के साथ भूतकाल के अर्थ में वर्तमानकाल प्रयुक्त होता है 'सचावहै यदवृकं पुरा चित्'

'स्म पुरा' के साथ भी वर्तमान का प्रयोग भूतकाल के प्रयोग को अभिव्यक्त करता है 'सं होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति'। कहीं कहीं लट् लकार लेट् लकार के अर्थ को अभिव्यक्त करता है। यथा ''अहमपि हन्मीति होवाच''।

भूतकाल

लङ्, लुङ् एवं लिट् इन सबका प्रयोग सामान्य भूत के अर्थ में भी होता है यद्यपि इनके भूतवाची अर्थ वेदों में अपने विशेष अर्थ की स्पष्टतः अभिव्यक्ति करते हैं। पाणिनि वेद में सब कालों में लुङ्, लङ् एवं लिट् के प्रत्यय मानते हैं और दूसरे पक्ष में अपने लकारों में भी इनका प्रयोग मानते हैं **'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'**। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक भाषा में भूतकाल के अर्थ में इन सब लकारों का प्रयोग होने पर भी इनकी प्रयोग सम्बन्धी जटिलता विद्यमान नहीं थी जैसी शनैः शनैः लौकिक संस्कृत में हो गई। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

लङ् लकार (Imperfect)

यह शुद्ध भूतकाल को अभिव्यक्त करता है। यथा **'अहन् अहिम्'**। लिट् और लुङ् के समान इसका सम्बन्ध वर्तमान से नहीं है।

लुङ् लकार (Aorist)

लुङ् प्रायः भूतकाल में घटित और वर्तमान में कही जाने वाली घटना की अभिव्यक्ति करता है। प्रायः इसमें अनद्यतन भूत की अभिव्यक्ति होती है। यथा **'प्रतिदिवो अदर्शि दुहिता'**। लुङ् का विभाजन दो प्रकार से किया गया है (1) स लुङ् तथा (2) स रहित लुङ्। दोनों मिलाकर सात प्रकार के रुप प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार लुङ् के अङ्ग में भाववाची प्रत्यय लगते है।

1. स लुङ् (शल इगुपधादनिटः क्सः)

द्योतक भाव-जैसे अधुक्षत्

2. स् लुङ् (सिच्)

द्योतक भाव - अभार्षम्

लेट् - स्तोषाणिं

विधिमूलक – जेषम्। पाणिनि इसे लुङ् का रूप मानकर आदि 'अट्' का लोप करते हैं।

लिङ् – मुक्षीय, मंसीष्ट

लोट् – साक्ष्व, पर्ष

3. इष् लुङ्

द्योतक भाव – अक्रमिषम्

लेट् – बोधिषत्

विधिमूलक – तारिष्टम्

लिङ् – मोदीषीष्ठाः

लोट्–अविड्ढि

4. सिष् लुङ्

द्योतक – अयासिषम्

लेट् – दासिषत्

लिङ् – वंसिषीय

विधिमूलक – रंसिषम्

लोट् – यासिष्टम्

5. अङ्ग लुक्

लुङ् का यह भेद लङ् से मिलता है। इसमे प्रत्यय अ सहित तथा अ रहित मिलते हैं। पाणिनि इनमें च्लि के स्थान पर अङ् (चङ्) का विधान करते हैं

द्योतक — अविदम्

लेट् — विदाति, विदात, विदाते

विधिमूलक — विदम्, विदः

लिङ् — विदेयम्, विदेः

लोट् — सद, सदतम्

इसमें अनेक व्यत्यय भी हैं।

6. धातु लुङ्

इस लुङ् में धातु के पश्चात् प्रत्यय लगता है। पाणिनि इस लुङ् में च्लि के स्थान पर सिच् करके सिच् लोप मानते हैं। यथा अस्थात्।

द्योतक — अस्थात्, अभुवम्, अकः आदि।

लेट् — करा, करन्ति, करन्।

विधिमूलक — भुवम्, भोजम्।

लिङ् — वृज्याम्, ऋष्याम, अशीय।

लोट् — पूर्धि, वर्तम्, गत।

7. द्वित्वाङ्ग लुङ्

पाणिनि इस लुङ् में चङ् मानते हैं और अङ्ग का द्वित्व करते हैं। पाश्चात्य विद्वान भी अङ्ग के आधार पर इसे द्वित्वाङ्ग लुङ् कहते हैं।

द्योतक — अनीननशम्-अ + नीनश + अ म् - अनीनशम्।

लेट् — पस्पृशाति, पिस्स्पृशति।

विधिमूलक — दीधरम्, सिष्वदत्।

लिङ् — वोचेयम्, रीरिषेः।

लोट् — वोचतात्, दिधृतम्, सुषूदत।

लिट् लकार (Perfect)

लिट् लकार का अर्थ वैदिक भाषा में पूर्ववर्ती क्रिया पर निर्भर रहता है। यदि पूर्ववर्ती क्रिया में वर्तमानकालिक अर्थ है तो पश्चाद्वर्ती क्रिया का अर्थ भी वैसा ही होगा। परन्तु 'पुरा' और 'नूनं' के साथ इनका अर्थ क्रमशः भूतकाल और वर्तमान काल का होगा। 'शश्वद्धि ऊतिभिर्वयं पुरा नूनं बुभुज्महे (हम पूर्व भी आपकी रक्षा का सेवन करते थे और अब भी करते हैं)।

लिट् का अर्थ वर्तमान काल जैसा भी हो सकता है। यथा–कश्चिकेत (कौन जानता है)।

लिट् का प्रयोग अनद्यतन के अर्थ में भी होता है। जैसे 'पुत्रः कण्वस्य वामिह सुषाव सोम्यं मधु' (कण्व के पुत्र ने तुम्हारे लिए मधु का सेवन किया है)।

परोक्ष के अर्थ में लिट् का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। यथा 'इन्द्रश्च युद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये '(इन्द्र एवं वृत्र का जब युद्ध हुआ तो वृत्र द्वारा प्रयुक्त अन्य प्रकार की मायाओं को भी इन्द्र ने विशेष रुप से जीत लिया)।

लिट् के अर्थ में लङ् का प्रयोग भी होता है। उदाहरणस्वरुप 'अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून'।

लिट् में द्योतक के अतिरिक्त लेट् विधिमूलक, लिङ् तथा लोट् के भाव भी प्राप्त होते हैं। यथा ततनः, शशास, जगम्याम् शशाधि आदि।

अयुक्त लिट् (Pluperfect)

अर्थ की दृष्टि से इसका भेद लङ् लकार से नहीं किया जा सकता। उदाहरणस्वरूवप, 'सूर्यमजभर्तन' (सूर्य को लाए)। लङ् व लुङ् के समान इसके आदि अट् का लोप भी हो जाता है। यथा 'ननमः, तस्तम्भत् इत्यादि।

लृट् लकार (Future)

लृट् लकार के रूप वेदों में कम प्राप्त होते हैं क्योंकि लेट् अथवा लट् लकार से ही प्रायः भविष्य के अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाती है। लृट् में भविष्य के कालसम्बन्धी विचारों पर अधिक बल है और इच्छाओं तथा आशाओं पर कम। प्रायः भविष्य में होने वाली इच्छाओं की अभिव्यक्ति लेट् लकार से ही हो जाती है। यथा 'स्तविष्यामि त्वामहं', 'किं स्विद् वक्ष्यामि'। लृट् लकार का प्रयोग प्रायः 'अथ' शब्द के साथ होता है"पतिं नु मे पुनर्युवानं कुरुतम् अथ वां वक्ष्यामि"।

लुट् लकार (Peliphrastic Furure)

प्राय ब्राह्मण ग्रन्थों में लुट् लकार के प्रयोग मिलते हैं। किसी विशेष घटना की भविष्य में विशेष समय पर होने वाली अभिव्यक्ति के लिए लुट् लकार का प्रयोग किया जाता है। अतः इसके साथ प्रायः प्रातः और श्वः का प्रयोग होता है। यथा—

'संवत्सरतमीं रात्रिमा.गच्छतात् तन्मा एकाम् रात्रिमन्ते शयितासे'।

कई बार अवश्यम्भावी घटना की अभिव्यक्ति के लिए इसका प्रयोग होता है। 'सेवेयमद्यापि प्रतिष्ठा सो एवाप्यतोऽधि भविता'।

लौकिक संस्कृत में लागू होने वाले सूत्रों का वैदिक भाषा में नियमिततापूर्वक प्रयोग नहीं होता। वैदिक धातु रूपों में प्राप्त होने वाली कुछ प्रमुख अनियमितताएँ इस प्रकार हैं—

1. वेदों में विभिन्न विकरणों का पारस्परिक परिवर्तन हो जाता है। व्यत्यय का अर्थ परिवर्तन अथवा उल्लङ्घन है। यथा हन् धातु अदादिगण की है। लौकिक भाषा में लट् लकार में इसका 'हन्ति' रूप बनता है। परन्तु वेद में जुहोत्यादि गण का 'श्लु' विकरण लग कर 'जिघ्नति' व भ्वादिगण का 'शप्' विकरण लग कर हनति रूप भी बनता है। (व्यत्ययो बहुलम्)।
2. वेद में अद् के स्थान पर घस्लृ आदेश बहुलता से होता है। जैसे लुङ् लकार में वेद में 'अघसताम्' के स्थान पर 'घस्ताम् रूप भी मिलता

है। (**बहुलं छन्दसि**)

3. वेद में कृ, मृ, दृ और रुह् धातुओं के लुङ् लकार के रूप में च्लि को चङ् (अङ्) आदेश विकल्प से होता है। यथा अकार्षम् के स्थान पर अकरम्, अमृत के स्थान पर अमरत्, अदारीत् के स्थान पर अदरत् ओर अरुक्षत् के स्थान पर अरुहत्। (**कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि**)
4. वेद में लुङ, लङ्, लिट् इन तीनों लकारों का प्रयोग विकल्प से सभी कालों में होता है। जैसे 'देवो देवेभिरागमत्' में लुङ् लकार का 'अगमत्' लोट् लकार का अर्थ दे रहा है। 'आ पप्रौ पार्थिवं रजः' में लिट् लकार का 'पप्रौ' लट् लकार का अर्थ दे रहा है (**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**)।
5. वेद में सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्ययों का परस्पर विनिमय हो जाता है। यथा— वर्धयन्तु के स्थान पर वर्धन्तु। यहाँ पर सार्वधातुक के स्थान पर आर्धधातुक का प्रयोग हुआ है (**छन्दस्युभयथा**)।
6. लिट् लकार में धातु को द्वित्व हो जाता है परन्तु वेदों में यह द्वित्व विकल्प से होता है। यथा-जजागार के स्थान पर जागार (**छन्दसि वेति वक्तव्यम्**)।
7. लट् लकार के उत्तम पुरुष बहुवचन के 'मस्' का विकल्प से 'मसि' बन जाता है। यथा—'चरामः' के स्थान पर 'चरामसि', 'इमः' के स्थान पर 'इमसि' (**इदन्तो मसि**)।
8. आत्मनेपद प्रत्यय 'ते' (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) का वेद में विकल्प से लोप हो जाता है। यथा ईष्टे के स्थान पर ईशे (**लोपस्त आत्मनेपदेषु**)।
9. वेद में हृ ओर ग्रह् इन दो धातुओं के ह् के स्थान पर भ् आदेश होता है। यथा जहार के स्थान पर जभार, गृह्णामि के स्थान पर गृभ्णामि (**हृग्रहोर्भश्छन्दसि**)।
10. वेद में मी धातु का ई लघु हो जाता है। यथा प्रमीणन्ति के स्थान पर प्रमिणन्ति रूप प्राप्त होता है (**मीनातेर्निगमे**)।
11. लट् लकार के रूपों में कहीं-कहीं दो गणों के प्रत्यय एक साथ आ जाते हैं। जैसे शृण्वति में स्वादिगण का 'श्नु' तथा भ्वादिगण् का 'शप्' दोनों ही प्रत्यय हैं।

प्रक्रिया रूप

लौकिक भाषा में प्रयुक्त होने वाले प्रक्रिया रूप प्राय: वैदिक भाषा में भी मिलते हैं।

1. **णिच्**— चुरादिगण में प्राप्य विकरण 'णिच्' का प्रयोग स्वार्थ एवं प्रेरणार्थ दोनों में ही होता है। **द्युतयति** (चमकता है) **बोधयति** (बोध करवाता है)

   णिजन्त धातुओं के रूप लङ्, लेट्, लोट्, लिङ्, लृट्, लुट् तथा लृङ् में भी मिलते हैं।

2. **सन्**— 'इच्छा' के अर्थ के अतिरिक्त यह वैदिक भाषा में आशङ्का का अर्थ भी प्रकट करता है। यथा **मुमूर्षति**— (मरने ही वाला है) **(आशङ्कायां सन् वक्तव्य:)**।

   गुप् के साथ 'सन्' निन्दार्थ में प्रयुक्त होता है। यथा **जुगुप्सते (गुपेर्निन्दायाम्)**।

   तिज् के साथ 'सन्' क्षमा के अर्थ में आता है। यथा **तितिक्षते (तिजे: क्षमायाम्)**।

   कित् के साथ व्याधि प्रतीकार के अर्थ में 'सन्' का प्रयोग होता है। यथा **चिकित्सति (कितेर्व्याधिप्रतीकारे)**।

   मान् के साथ जिज्ञासा अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा **मीमांसाते (मानेर्जिज्ञासायाम्**।

   वध् के साथ घृणा आर्थ में 'सन्' का प्रयोग होता है। यथा— **बीभत्सते (वधेश्चित्तविकारे)**।

   ये सब प्रयोग इन अर्थों में वैदिक भाषा में भी मिलते हैं।

3. **यङ् और यङ्लुक्**— वैदिक भाषा में यङ् की अपेक्षा यङ्लुक् का प्रयोग अधिक मिलता है। रूपरचना की दृष्टि से तथा अर्थ की दृष्टि से यह लौकिक संस्कृत के समान ही है। यथा— **नेनीयते**।

卐 卐 卐

लेट्लकार
(SUBJUNCTIVE)

लेट् लकार केवल वेद में ही प्रयुक्त होता है। लौकिक भाषा में इसका प्रयोग नहीं होता। पाणिनि के अनुसार यह लिङ्लकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है **(लिङर्थे लेट्)**। लिङ्लकार का प्रयोग निम्नलिखित कई अर्थों में होता है।

1. विधि, (आज्ञा देना), निमन्त्रण, आमन्त्रण, (सत्कारपूर्वक निवेदन) अधीष्ट (जैसे— मेरे पुत्र को धन दीजिए) सम्प्रश्न (सलाह लेना) और प्रार्थना इन अर्थों में लिङ्लकार का प्रयोग होता है। **विधिनिमन्त्रणा-मन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्)**
2. हेतु ओर हेतुमान क्रियाओं में— अर्थात् जब एक क्रिया के द्वारा दूसरी क्रिया होनी हो तो वहाँ विकल्प से लिङ्लकार होता है। **(हेतुहेतुमतोर्लिङ्)**।
3. इच्छा के अर्थ में भी लिङ्लकार का प्रयोग होता है। **(इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ)**
4. आशीर्वाद के अर्थ में भी लिङ् का प्रयोग होता है।
   (आशिषि लिङ्लोटौ)
   इसीलिए उपर्युक्त सभी अर्थो में वेद में लेट् लकार का प्रयोग भी हो सकता है।

लेट् लकार में सिप् का आगम विकल्प से होता है कहीं यह होता है और कहीं नहीं होता जैसे— पताति विद्युत् (चमकने वाली बिजली गिरे) में सिप् का आगम नहीं है) लेकिन जोषिषत् में सिप् का आगम है। **(सिब्बहुलं लेटि)**।

परस्मैपद में लेट् लकार के तिङ् के इकार का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे— आसाविषत् में इ का लोप हो गया परन्तु भवाति में इ का लोप नहीं हुआ। **(इतश्च लोपः परस्मैपदेषु)**

लेट्लकार में प्रत्ययों में (तिप् तस् झि . . . इत्यादि) अट् या आट्

दो आगम होते हैं। जैसे— जोषिषत् और तारिषत् में अट् का आगम है परन्तु भवाति और पताति में आट् का आगम है **(लेटोऽडाटौ)**।

वार्तिककार का कहना है कि सिप् विकरण जो केवल लेट्लकार में ही लगता है विकल्प से णित् के समान माना जाए। जहाँ इसे णित् के समान माना जाता है वहाँ आदि वृद्ध हो जाती है जैसे— 'प्रण आयूंषि तारिषत्' में तारिषत्। और जहाँ इसे णित् के समान नहीं माना जाएगा वहाँ आदि वृद्धि नहीं होगी जैसे— जोषिषत्। **(सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः)**

लेट्लकार में उत्तम पुरुष के सकार (वस् और मस्) का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे करवाव में सकार का लोप हो गया परन्तु करवावः में लोप नहीं हुआ **(स उत्तमस्य)**।

लौकिक भाषा में टित् लकारों में जैसे लट् लोट आदि में टि भाग के आ के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है लेकिन लेट्लकार में आ के स्थान पर ऐ का आदेश हो जाता है। जैसे मादयैते, यजैते इत्यादि। **(आत ऐ)** परन्तु आ के स्थान पर ऐ होने वाले प्रसङ्गों को छोड़कर दूसरे स्थानों पर एकार का विकल्प हो ऐकार हो जाता है जैसे— ईशे ओर ईशै **(वैतोऽन्यत्र)**।

उपसंवाद (कर्त्तव्य में बाँधना— यदि आप ऐसा करें तो मैं ऐसा वरूँ) ओर आशङ्का (कार्य की संभावना) के अर्थ में लेट्लकार में ईशै और पताम निपात हैं जैसे— अहमेव पशूनामीशै (मैं यह कर सकता हूँ यदि मैं ही सब पशुओं पर शासन करूँ) और नेज्जिह्मान्त्ये नरकं पताम (ऐसा न हो कि पाप करते हुए हम नरक में गिर जाएँ। **(उपसंवादाशङ्क्योश्च)**।

卐 卐 卐

विधिमूलक भाव
(INJUNCTIVE MOOD)

सभी लकारों की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं जैसे भ्वादिगण की धातुओं में शप् विकरण आता है, लङ् लुङ् इत्यादि में धातु से पहले अट् जोड़ा जाता है परन्तु विधिमूलक भाव की अपनी कोई विशेषता नहीं है। इसके रूप भूतकाल के रूपों के समान ही होते हैं इसमें केवल धातु से पहले अट् और आट् नहीं जोड़े जाते। ऋग्वेद में विधिमूलक भाव का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है और इसके रूपों को लेट् लकार के रूपों से भिन्न करना बहुत अधिक कठिन हो जाता है। यथा-गमत्। मैक्डॉनल महोदय ने भी इस कठिनाई को स्वीकार करते हुए कहा है कि यह वैदिक भाषा की एक प्रमुख समस्या है। पाणिनि ने भी अडागम रहित ऐसे रूपों की विशेषता को स्वीकार किया है परन्तु उन्होंने 'मत' का अर्थ अभिव्यक्त करने वाले 'मा' निपात के साथ ही ऐसे रूपों के प्रयोग का उल्लेख किया है परन्तु वैदिक भाषा में 'मा' निपात के बिना भी ऐसे रूपों के बहुत से प्रयोग मिलते हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है रूप रचना की दृष्टि से विधिमूलक भाव की अपनी कोई विशेषता नहीं है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह प्राचीनतम था। इसका मौलिक रूप अडागम रहित रहा होगा जो प्रसङ्ग के अनुसार क्रिया के काल अथवा प्रकार का बोध करवाता होगा।

विधिमूलक भाव का साधारण अर्थ 'इच्छा' है जिसके अन्तर्गत लोट्, लेट्, विधिलिङ् के अर्थ भी समाविष्ट हो जाते हैं। वैदिक भाषा में इसका प्रयोग निम्न अर्थों में हुआ है—

1. विधिमूलक भाव प्रायः वक्ता की इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। उत्तम पुरुष में केवल इच्छा की ही अभिव्यक्ति होती है। यथा— **विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्** अर्थात् मैं विष्णु के वीरकर्मों को कहूँ। इसमें वक्ता की इच्छा है मध्यम पुरुष में यह प्रार्थना की अभिव्यक्ति करता है। जैसे— **अद्या नो देव सावीः सौभगम्** (हे देव! आज सौभाग्य

उत्पन्न करो) जबकि प्रथम पुरुष में इच्छा या आज्ञा व्यक्त होती है। जैसे—**से मां वेतु वषट्कृतिम्** (वह इस वषट्कृति के पास आए)।

2. विधिमूलक लेट् लकार की भाँति कहीं-कहीं भविष्यत् काल तथा प्रश्नवाचक के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। यथ—"**को नु मह्या आदितये पुनर्दात्** (आदिति के लिए मुझे पुनः कौन प्रदान करेगा)? यहाँ भविष्यत् के साथ-साथ प्रश्न भी है।
3. '**मा**' का प्रयोग नकारात्मक अर्थ में विधिमूलक भाव के साथ ही होता है। 'मा' के साथ-साथ 'न' का प्रयोग भी हो जाता है। जैसे—'**मा न इन्द्र परा वृणक्**'। यहाँ विधिमूलक भाव का प्रयोग '**मा** के साथ हुआ है जबकि '**यम् आदित्या अभिद्रुहो रक्षथा नेम् अद्यं नशत्**' में इसका प्रयोग '**न**' के साथ हुआ है।

इसी कारण लौकिक संस्कृत में विधिमूलक भाव का प्रयोग '**मा**' के साथ ही होता है। लौकिक संस्कृत में इसके रूप भूतकाल के समान ही होते हैं, केवल प्रारम्भ में अट् का आगम नहीं होता। जैसे **भवतम्** (अभवतम् के स्थान पर) **भवेथाः** (अभवेथाः के स्थान पर) **कार्षीः** (अकार्षीः के स्थान पर) तथा गमत् (अगमत् के स्थान पर)।

पाणिनि ने इस भाव को अलग नहीं माना है। केवल '**न माङ्योगे**' सूत्र से लौकिक संस्कृत में लुङ्, लङ्, लृङ् में आने वाले 'अट्' का निषेध '**मा**' के योग में कर दिया है। परन्तु समस्या यह है कि वैदिक भाषा में '**मा**' के न होने पर भी अट्, आट् का लोप '**बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि**' से हो जाता है। इस प्रकार इस नियम से सिद्ध होने वाले सभी रूप लुङ् अथवा लङ् के ही हैं। पाश्चात्य विद्वानों का भी यही मत है।

विधिमूलक भाव प्रायः लेट् और लोट् के अर्थ को ही प्रकट करता है। रूप की दृष्टि से लेट् लकार के अट् प्रत्यय वाले रूप इससे मिलते जुलते हैं। जैसे गमत्। अतः जहाँ अर्थ की दृष्टि से विधिमूलक भाव कालवाची अर्थ देते हैं अर्थात् लेट् और लोट् के अर्थ को प्रकट करते हैं, वहाँ उन्हें पहचानने में समस्या नहीं होती।

卐 卐 卐

डॉ० (श्रीमती) पुष्पा गुप्ता ने 1965 में बी.ए. संस्कृत विशेष (Skt. Hons.) में दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया तथा 1967 में एम.ए. में दिल्ली विश्वविद्यालय में ही द्वितीय स्थान प्राप्त किया। 1978 में इसी विश्वविद्यालय से Ph.D. की उपाधि प्राप्त की। 1965-67 राष्ट्रीय छात्रवृत्ति (National Scholarship) तथा 1967-69 Ph.D. की उपाधि हेतु U.G.C. Research Scholarship प्राप्त किया। 1969 में प्राध्यापिका के रूप में लक्ष्मीबाई महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय में सेवारत हुईं। सम्प्रति वहीं 'रीडर' हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी ज़ैलसिंह द्वारा विमोचित 'आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ' के सम्पादक मण्डल की सदस्या रहीं।

दिल्ली संस्कृत अकादमी द्वारा 'संस्कृत शिक्षक सम्मान', 'संस्कृत सेवक सम्मान' एवं 'संस्कृत समाराधक सम्मान' से सम्मानित की गईं। 'राष्ट्रीय हिन्दी सेवी सहस्राब्दी सम्मान' भी प्राप्त किया। दिल्ली संस्कृत अकादमी द्वारा समायोजित त्रिदिवसीय अखिलभारतीय संस्कृत सम्मेलनों में अनेक बार सारगर्भित लेख प्रस्तुत किए जिन्हें 'संस्कृत मञ्जरी' व अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित किया गया। कालिदास संस्कृत संगीत कला एकेडमी की निदेशिका प्रो. सुषमा कुलश्रेष्ठ के तत्वावधान में आयोजित गोष्ठियों में अनेकशः पत्र वाचन किया। वे सभी लेख उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में प्रकाशित हो चुके हैं अथवा प्रकाशित हो रहे हैं।

प्रकाशन :

(i) Rasa in the Jaina Skt.Mahākāvyas from 8th to 15th cent. A.D.

(ii) 'जैन महाकाव्यों में रस'— यह लेख उपर्युक्त अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ।

(iii) विशाखदत्तप्रणीत मुद्राराक्षस।

(iv) संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास (इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है)।

(v) वेदवल्लरी।

(vi) लगभग 20 लेख विभिन्न पुस्तकों एवं ग्रन्थों में प्रकाशित किए जा चुके हैं।

(vii) सम्प्रति 'कालिदास-काव्यों में चतुःषष्टिकला' इस विषय पर कार्यरत हैं।